

# श्रमण

## SRAMAᅇA

जनवरी-जून २००४



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

RŚWANĀTHA VIDYĀPĪᅇHA, VARANASI

**Corporate Lines :**

Tele.: 27107317/28/47/94

Fax : 27107487

e-mail: info@indiabulkdrugs.com

visit us at: www.indiabulkdrugs.com

*Success is neither a High Jump nor a Long Jump it is a Marathon of Steps...*

Year	Event / Milestone
1990	Pharm Services (Trading House)
1994	Pharma Care (Trading House)
1998	Parth International (Trading House, Intl. Division)
2000	MSD Impax Ltd. (Import & Export House)
2002	MSD Laboratories Ltd. (R&D Centre at Mysore (Hygiene))
2005	Overseas Branch Office at London & Hongkong
2010	Bulk Drugs Manufacturing Unit

**Address : MSD Laboratories Limited**

810-811, GD-ITL Towers, Netaji Subash Place,  
Pitampura, New Delhi-110034

# श्रमणा

# ŚRAMAṆA

जनवरी-जून २००४



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

# श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष ५५

अंक १-६

जनवरी-जून २००४

प्रधान सम्पादक  
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक  
डॉ० शिवप्रसाद

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ,

आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी

पो.ऑ. - बी.एच.यू.,

वाराणसी-२२१००५ (उ.प्र.)

e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

दूरभाष : ०५४२-२५७५५२१

ISSN-0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. १५०.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु. १००.००
इस अंक का मूल्य	:	रु. ५०.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु. १०००.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु. ५००.००

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजें।

## सम्पादकीय

**श्रमण** जनवरी-जून २००४ संयुक्तांक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। पूर्व की भांति इस अंक में भी जैन दर्शन, साहित्य, आचार, इतिहास एवं कला से सम्बद्ध आलेखों को स्थान दिया गया है। प्रस्तुत अंक के हिन्दी खण्ड में जैन दर्शन से सम्बद्ध ६, जैन साहित्य से सम्बद्ध ४, जैन आचार से सम्बद्ध २ और जैन इतिहास एवं कला पक्ष से सम्बद्ध ६ आलेख हैं। अंग्रेजी खण्ड के आलेख भी जैन दर्शन, इतिहास एवं आचार से सम्बद्ध हैं। हमारा प्रयास यही रहता है कि श्रमण का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित हो रहे सभी आलेख शुद्ध रूप में मुद्रित हों।

इस अंक के साथ हम अपने सम्माननीय पाठकों को जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत भाषा में रचित कृति **सुरसुंदरीचरियं** का प्रथम परिच्छेद भी भेंट कर रहे हैं जो मुनिश्री विश्रुतयशविजयजी म०सा० द्वारा की गयी संस्कृत छाया, गुजराती अर्थ और हिन्दी अनुवाद से युक्त है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ हमें पूज्य आचार्य विजयराजयशसूरिजी म०सा० के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिसके लिये हम उनके आभारी हैं। **सुरसुंदरीचरियं** के आगे के परिच्छेदों की संस्कृत छाया, गुजराती अर्थ और हिन्दी अनुवाद भी हमें जैसे-जैसे मुनिश्री से प्राप्त होते जायेंगे, उसी क्रम से हम धारावाहिक रूप में **श्रमण** में प्रकाशित करते रहेंगे।

इसी अंक में हम अपने पाठकों के समक्ष **ज्ञानदीप (चूड़ामणिसार)** नामक लघुकृति भी प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद आचार्य विश्वनाथ पाठक ने किया है।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपने अमूल्य विचारों/आलोचनाओं से हमें अवगत कराने की कृपा करें ताकि आगामी अंकों में उसे सुधारा जा सके।

**सम्पादक**

# श्रमण

जनवरी-जून २००४ (संयुक्तांक)

सम्पादकीय  
विषयसूची

## हिन्दी खण्ड

१. लाढ़ प्रदेश में महावीर - डॉ० रमाकान्त जैन १-३
२. त्रस और स्थावर का विभाग - समणी मंगल प्रज्ञा ४-९
३. जैन दर्शन में रत्नत्रय - प्रो० अमरनाथ पाण्डेय १०-१४
४. जैन दर्शन में निहित वैज्ञानिक तत्त्व - डॉ० अनुपम जैन १५-३२
५. जैनधर्म में प्रतिपादित षडावश्यक की समीक्षा और इसकी प्रासंगिकता - श्री अनिल कुमार सोनकर ३३-४५
६. पार्श्वभ्युदय काव्य में अभिव्यंजित मेघदूत काव्य - डॉ० मधु अग्रवाल ४६-५१
७. सामान्य केवली और अर्हन्तपद : एक समीक्षा - साध्वी विजयश्री ५२-५६
८. जीवन्धरचम्पू में पर्यावरण की अवधारणा - डॉ० कमलेश कुमार जैन ५७-६३
९. जैन दर्शन में अनेकान्तवाद - डॉ० शारदा सिंह ६४-६८
१०. श्रमण आचार व्यवस्था- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि - कु० नीतू द्विवेदी ६९-७६
११. साधारण सिद्धसेनसूरि रचित विलासवईकहा - श्री वेद प्रकाश गर्ग ७७-७९
१२. जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त एवं उसके समान्तर भारतीय दर्शन में प्रचलित अन्य सिद्धान्त - डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय ८०-९०
१३. जैन गुफाएँ : ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्व - डॉ० एन०के० शर्मा ९१-९८
१४. जैन दर्शन एवं योगवाशिष्ठ में मृत्यु विचार - श्री मनोज कुमार तिवारी ९९-११०
१५. महावीर एवं बुद्ध का वर्षावास - डॉ० मनीषा सिन्हा १११-११५
१६. तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमायें (होशंगाबाद संग्रहालय के संदर्भ में) - डॉ० गुलनाज तंवर ११६-११७
१७. महाराणा प्रताप का पत्र अकबर प्रतिबोधक जैनाचार्य हीरविजयसूरि के नाम - डॉ० सोहनलाल पटनी ११८-११९
१८. खरतरगच्छ-क्षेमकीर्ति शाखा का इतिहास - शिवप्रसाद १२०-१२८

## ENGLISH SECTION

19. Concept of Self Evolution in Jainism - Dr. M.R. Mehata 129-134
20. Jaina Śramaṇa Tradition from Adinātha to Pārśvanātha - Col. D.S. Baya 'Śreyas' 135-147
21. Social Aspect of Non-Violence - Dr. B.N. Sinha 148-173
२२. विद्यापीठ के प्रांगण में १७४-१७५
२३. जैन जगत् १७६-१८२
२४. साहित्य सत्कार १८३-१९६
- सुरसुंदरी चरियं १-७३
- ज्ञानदीप (चूड़ामणिसार) १-१३



## लाढ़ प्रदेश में महावीर

रमा कान्त जैन\*

वर्धमान महावीर को अपने बारह वर्ष के साधनाकाल में अनेक कष्टों, यातनाओं और उपसर्गों का सामना करना पड़ा था जिन्हें उन्होंने चुपचाप बिना किसी प्रतिवाद के समताभाव से सहन किया। अपनी साधना के पाँचवें वर्ष में अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए महावीर गोशालक के साथ जब कलंबुका सन्निवेश जा रहे थे तब मार्ग में उस सन्निवेश के अधिकारी कालहस्ती तस्कारों का पीछा करते हुए उधर से जाते हुए मिले। कालहस्ती महावीर और गोशालक को पहचानते नहीं थे। कहीं वे ही तो तस्कर नहीं हैं, यह सोचकर उसने इन से परिचय पूछा। महावीर मौन रहे। गोशालक भी, देखें आगे क्या होता है, इस कुतूहल से चुप रहा। अधिकारी ने उन दोनों को तस्कर समझा और अनेक यातनाएं दीं। पर उन्होंने मौन भंग नहीं किया। तब उसने उन्हें रस्सियों से जकड़कर अपने ज्येष्ठ भ्राता मेघ के पास भेज दिया। संयोग की बात मेघ ने महावीर को उनकी गृहस्थावस्था में क्षत्रियकुण्ड में देखा था। उनकी स्मृति जाग उठी। उन्होंने महावीर को पहचान लिया। तुरन्त उन्हें व गोशालक को बन्धन-मुक्त कर अज्ञानवश हुए अपराध के लिये उनसे क्षमायाचना की।

वहाँ से बन्धन-मुक्त हो महावीर ने अपने कर्मों की विशेष निर्जरा के सम्बन्ध में गहन विचार-मंथन किया। मलयगिरि कृत **आवश्यकवृत्ति** (२८१/१) और **महावीर चरियं** (६/१९५) के अनुसार महावीर ने कर्मों की विशेष निर्जरा हेतु लाढ़ प्रदेश की ओर प्रस्थान किया। **आचारांग** प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्याय ९, उद्देश्य ३ की गाथा २ में इस प्रदेश को 'अह दुच्चर-लाढ़-मचारी' तथा उसके अध्याय ६, उद्देश्य ३, गाथा ६ में 'दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं' लिखा है और इस प्रकार उस प्रदेश को विचरण के लिये दुष्कर बताया है। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ने **प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ** (अक्तूबर १९४६) में प्रकाशित अपने लेख 'जैन-ग्रन्थों में भौगोलिक सामग्री और भारतवर्ष में जैन-धर्म का प्रसार' में आधुनिक हुगली, हावड़ा, बांकुरा, बर्दवान और मिदनापुर के पूर्वीय भाग को प्राचीन लाढ़ देश बताया है और कोडिवरिस (कोटिवर्ष) को उसकी राजधानी। **आचारांग** 'प्रथम श्रुतस्कन्ध' के अध्याय ६, उद्देश्य ३ की गाथा ६ में उस प्राचीन लाढ़ देश के दो भाग 'वज्ज भूमिं च सुब्भ-भूमिं च' अर्थात् वज्रभूमि

\* ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ - २२६००४

और शुभ्र भूमि उल्लिखित किये गये हैं। ये भाग उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से भी प्रसिद्ध रहे। महावीर ने इन दोनों ही क्षेत्रों में विहार किया। वहां विहार करते हुए साधक महावीर को जो उग्र उपसर्ग सहने पड़े उनका रोमांचक वर्णन आर्य सुधर्मा ने **आचारांग** 'प्रथम श्रुतस्कन्ध' के अध्याय ९, उद्देश्य ३ की गाथा २ से १३ के अन्तर्गत किया है।

उक्त वर्णन के अनुसार "महावीर को वहाँ ठहरने के लिये अनुकूल आवास प्राप्त नहीं हुए। गाँव बहुत थोड़े थे। वज्रभूमि के निवासी तो रुक्ष भोजन करने के कारण स्वभावतः क्रोधी होते थे। अतः महावीर को उक्त भूमि में विहार करते हुए अनेक उपसर्ग सहन करने पड़े। रूखा-सूखा बासी भोजन भी कठिनाई से मिलता था। वहाँ कुत्ते बहुत थे। वे महावीर को दूर से ही देखकर काटने के लिये झपटते थे। वहाँ पर ऐसे व्यक्ति बहुत कम थे जो उन्हें काटते और नोचते हुए कुत्तों को हटाते-भगाते, प्रत्युत स्वयं कुत्तों को छुछकार कर उन्हें महावीर को काटने के लिये उत्प्रेरित करने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी थी। किन्तु साधक महावीर उन प्राणियों पर किसी भी प्रकार का दुर्भाव नहीं लाते थे। उन्हें अपने तन के प्रति कोई ममत्व बुद्धि नहीं थी। इस उपसर्ग को आत्म-विकास का हेतु समझकर इन ग्राम-संकटों को सहर्ष सहन करते हुए वह सदा प्रसन्न रहते।"

"जैसे संग्राम में गजराज शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना आगे ही बढ़ता जाता है, उसी प्रकार महावीर भी लाढ़ प्रदेश में उपसर्गों की किंचित् परवाह किये बिना आगे बढ़ते रहे। जब ठहरने के लिये दूर-दूर तक गाँव भी उपलब्ध नहीं होते, तब वह भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास कर लेते थे। जब वह किसी गाँव में जाते तो गाँव के सन्निकट पहुँचते ही ग्रामवासी बाहर निकलकर उन्हें मारने-पीटने लगते और अन्य गाँव जाने को कहते। वे अनार्य लोग उन पर दण्ड, मुष्ठी, भाला, पत्थर व ढेलों से प्रहार करते और फिर प्रसन्न होकर चिल्लाते।"

"वहाँ के क्रूर मनुष्यों ने महावीर भगवान् के सुन्दर शरीर को नोच डाला, उन पर विविध प्रकार के प्रहार किये। भयंकर परीषह उनके लिये उपस्थित किये। उन पर धूल फेंकी। वे उन्हें ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटकते। उन्हें आसन पर से धकेल देते। तो भी भगवान् महावीर शरीर के ममत्व से रहित हो बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकांक्षा के संयम-साधना में स्थिर रहकर कष्टों को शान्ति से सहन करते रहे।"

"जैसे कवच पहने हुए शूरीर का शरीर युद्ध में अक्षत रहता है, वैसे ही अचेल भगवान् महावीर ने अत्यन्त कठोर कष्टों को सहते हुए भी अपने संयम को अक्षत रखा।"



इस प्रकार लाढ़ प्रदेश में समभावपूर्वक भयंकर उपसर्गों को सहनकर साधक महावीर ने अपने बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डाली और तब आर्य प्रदेश की ओर पुनः अपने कदम बढ़ा दिये। अनेक स्थानों पर विहार करते हुए मगध राज्य की राजधानी राजगृह में आठवां वर्षावास पूर्ण होने पर महावीर के मन में कर्मों की विशेष निर्जरा हेतु पुनः उक्त लाढ़ देश जाने की इच्छा जागृत हुई और उन्होंने, मलयगिरि कृत **आवश्यक वृत्ति** (२८५) के अनुसार, पुनः उस अनार्यभूमि की ओर प्रयाण किया। पहले की ही भांति उस अनार्य प्रदेश में कष्टों से क्रीडा करते हुए उन्होंने कर्मों की घोर निर्जरा की। योग्य आवास न मिलने के कारण वृक्षों के नीचे या खण्डहरों में ठहरते और विचरण करते हुए उन्होंने वर्षावास पूर्ण किया। उक्त प्रदेश में इस प्रकार विचरण कर और अपने कर्मों की घोर निर्जरा कर महावीर ने पुनः आर्य प्रदेश में विहार किया। लाढ़ प्रदेश उनके लिये कर्मों की निर्जरा-भूमि सिद्ध हुई।



## त्रस - स्थावर का विभाग

समणी मंगल प्रज्ञा\*

आचारांग में अण्डज, पोटज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, समूच्छिम, उद्भिद् और औपपातिक - इन आठ प्रकार के त्रस जीवों का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> त्रस जीवों के प्रस्तुत भेदों से वे तीन प्रकार के हैं - १. समूच्छिनज, २. गर्भज, ३. औपपातिक। त्रस जीव के ये भेद उनके जन्म की अपेक्षा से हैं। अर्थात् किस रूप से वे जन्म लेते हैं। स्थावरकाय के जीव समूच्छिन के साथ गर्भज एवं औपपातिक भी होते हैं। समूच्छिन का अर्थ है - गर्भाधान के बिना ही यत्र-तत्र आहार ग्रहण कर शरीर का निर्माण करना। इस विधि से उत्पन्न होने वाले प्राणी समूच्छिनज कहलाते हैं। रसज, संस्वेदज और उद्भिद् - ये तीन समूच्छिनज हैं। अण्डज, पोटज और जरायुज - ये गर्भज हैं। उपपात से जन्म लेने वाले देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं।<sup>२</sup>

### त्रस की परिभाषा

आचारांग में त्रस प्राणियों का उल्लेख है किंतु वहां त्रस की परिभाषा उपलब्ध है -

.....जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं, संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइ विन्नाया.....।<sup>३</sup>

जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना - ये क्रियाएं हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस हैं। उत्तराध्ययन वृत्ति के अनुसार जो ताप आदि से संतप्त होने पर छाया आदि की ओर गतिशील होते हैं, वे त्रस (द्वीन्द्रिय आदि जीव) हैं।<sup>४</sup>

### त्रस और स्थावर

आचारांग के प्रथम शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में ही पृथ्वीकाय आदि छहों कार्यों का वर्णन है। वहां इनका क्रम प्रचलित क्रम से थोड़ा भिन्न है। पृथ्वी, अप्, तेज, वनस्पति, त्रस एवं वायु इस प्रकार का क्रम वहां उपलब्ध है जबकि इसी सूत्र के नवें अध्ययन में पृथ्वी आदि का प्रचलित क्रम से ही उल्लेख है।<sup>५</sup> इस षड्जीवनिकाय को आचारांग

\* गौतम ज्ञानशाला, जैन विश्वभारती, लाडनूं, ३४१ ३०६, जिला - नागौर (राज०)

स्थावर और त्रस इन दो भागों में विभक्त करता है या नहीं? इसका अवबोध प्रथम अध्ययन से प्राप्त नहीं होता है। वहां त्रस प्राणी यह उल्लेख है किंतु स्थावर शब्द का प्रयोग वहां पर नहीं है। पूरे **आचारांग** में मात्र एक सूत्र में स्थावर शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है।<sup>६</sup> वहां त्रस और स्थावर दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग है, जिससे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण जीव-समूह त्रस और स्थावर इन दो विभागों में विभक्त है। **आचारांग** में यह तथ्य प्रकारान्तर से प्राप्त है कि पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव हैं, इसके अतिरिक्त द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव हैं। **दशवैकालिक** में षड्जीवनिकाय का उल्लेख है।<sup>७</sup> वहां पर भी षड्जीवनिकाय का त्रस एवं स्थावर इन दो भागों में विभाग नहीं किया है किंतु उसी आगम के चतुर्थ अध्ययन में अहिंसा महाव्रत के प्रसंग में त्रस और स्थावर का एक साथ प्रयोग हुआ है।<sup>८</sup> जिससे ज्ञात होता है कि त्रस के अतिरिक्त पृथ्वीकाय आदि स्थावर हैं। वहां भी त्रस-स्थावर का प्रकारान्तर से ही उल्लेख है।

### षड्जीवनिकाय : त्रस एवं स्थावर

**उत्तराध्ययनसूत्र** में षड्जीवनिकाय का विभाग स्थावर एवं त्रस इन दो भागों में हुआ है। वहां पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय इन तीन को स्थावर कहा है।<sup>९</sup> तेजस्काय, वायुकाय एवं उदार त्रस ये त्रसकाय के भेद हैं।<sup>१०</sup>

**स्थानांग** में भी त्रस एवं स्थावर का यही वर्णन प्राप्त है। वहां भी तेजस्काय, वायुकाय एवं उदार त्रस जीवों को त्रस कहा है तथा पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय को स्थावर कहा है।<sup>११</sup> **जीवाजीवाभिगम** में त्रस एवं स्थावर के भेद से दो प्रकार के संसार समापन्नक जीवों का उल्लेख है।<sup>१२</sup> इस आगम में भी पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय को स्थावर कहा है।<sup>१३</sup> तथा तेज, वायु एवं उदार (स्थूल) त्रस का त्रस रूप में उल्लेख है।<sup>१४</sup> त्रस एवं स्थावर का यह विभाग **उत्तराध्ययन** जैसा ही है। **तत्त्वार्थसूत्र** में भी त्रस एवं स्थावर के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभाग ही प्राप्त है।<sup>१५</sup> यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय मान्य सूत्रों में भिन्नता है। वहां पृथ्वी आदि पांचों को स्थावर एवं द्वीन्द्रिय आदि को त्रस कहा है।<sup>१६</sup>

**स्थानांग** में दो कायप्रज्ञप्त हैं - त्रस और स्थावर। वहां पर इन दोनों के दो-दो भेद किये हैं - भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक।<sup>१७</sup> पांचवें स्थान में पांच स्थावरकाय एवं उनके पांच अधिपतियों का उल्लेख है। किंतु वे नाम भिन्न प्रकार के हैं।<sup>१८</sup> स्थावरकाय के इन्द्र, ब्रह्म आदि नाम उनके अधिपतियों के आधार पर किये गये हैं। **स्थानांगटीका** में इन्द्र, ब्रह्म, शिल्प, सम्मति एवं प्राजापत्य को क्रमशः पृथ्वी, अप्, तेज, वायु एवं वनस्पति कहा है। **टीका** में कहा गया है कि जिस प्रकार दिशाओं के अधिपति इन्द्र, अग्नि आदि हैं, नक्षत्रों के अधिपति अश्वि, यम, दहन आदि हैं, शक्र

दक्षिण लोक का अधिपति और ईशान उत्तरलोक का अधिपति, उसी प्रकार पांच स्थावर कार्यों के भी क्रमशः इन्द्र, ब्रह्म, शिल्प, सम्मति और प्राजापत्य - अधिपति हैं।<sup>१९</sup> **स्थानांग** में प्राप्त स्थावरकाय के ये नाम प्रचलित नामों के साथ किस प्रकार से सामंजस्य रखते हैं? **स्थानांग** की टीका में इसका कोई उल्लेख नहीं है। केवल अमुक को अमुक कहा जाता है, यही उल्लेख है। स्थावर काय के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। **स्थानांग** स्थावरकाय के प्रचलित नामों को छोड़कर अन्य नामों का उल्लेख क्यों करता है? यह भी अन्वेषणीय है।

### त्रस-स्थावर के विभाग की आगमकालीन अवधारणा

**आचारांग** से लेकर **विपाकसूत्र** तक ग्यारह अंग आगमों में, **औपपातिक**, **राजप्रश्नीय** आदि उपांग आगमों में, **दशवैकालिक**, **उत्तराध्ययन** आदि मूल आगमों में पृथ्वीकाय, अप्काय आदि पांचों को एक साथ स्थावरकाय के रूप में उल्लिखित नहीं किया है। बल्कि **स्थानांग**, **उत्तराध्ययन** एवं **जीवाजीवाभिगम** में तो छह कार्यों में से तीन को स्थावर एवं तीन को त्रस कहा है। **तत्त्वार्थसूत्र** एवं उसके स्वोपज्ञभाष्य तक यही अवधारणा प्रचलित है।

**दशवैकालिक** में 'षड्जीवनिकाय' के अन्तर्गत त्रसकाय का वर्णन हुआ है। वहां त्रसकाय में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नारक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव का ग्रहण हुआ है।<sup>२०</sup> इसका तात्पर्य हुआ कि इनके अतिरिक्त जीव स्थावर हैं। एकेन्द्रिय का उल्लेख त्रसकाय में नहीं है। अतः एकेन्द्रिय जीव स्थावर होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय हैं।<sup>२१</sup> **प्रज्ञापना** में संसारसमापन्नक जीवों का उल्लेख पांच इन्द्रियों के माध्यम से हुआ है। वहां स्थावरकाय एवं त्रसकाय के भेद से जीवों का विभाग नहीं है, जबकि **जीवाजीवाभिगम** में जीवों का विभाग त्रस एवं स्थावर के आधार पर हुआ है।

### आगम व्याख्या साहित्य में त्रस एवं स्थावर

त्रस एवं स्थावर के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि जैन आगम साहित्य में पृथ्वी आदि पांच कार्यों को एक साथ स्थावर काय के रूप में अभिव्यंजित नहीं किया है। उत्तरवर्ती टीका साहित्य में उनका उल्लेख स्थावरकाय के रूप में हो गया है।

**उत्तराध्ययन** के टीकाकार तेजस्काय एवं वायुकाय को स्थावरकाय ही मानते हैं। **उत्तराध्ययन** में इनका उल्लेख त्रसकाय के रूप में है। टीकाकार ने लब्धित्रस एवं गतित्रस के भेद से त्रस जीव दो प्रकार के माने हैं। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव लब्धित्रस हैं। अग्नि और वायु गतित्रस हैं। यद्यपि इनके स्थावर नामकर्म का उदय है फिर भी गतिशीलता के कारण ये त्रस कहलाते हैं।<sup>२२</sup>

## गति एवं लब्धि त्रस

विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में केवल गति के आधार पर त्रस और स्थावर का विभाग किया गया होगा। इसी कारण अग्नि और वायु को त्रस कहा गया है किंतु एक चीटी की गति एवं वायु की गति एक जैसी नहीं होती। चीटी की गति इच्छाप्रेरित है। वह अपने हित के संपादन एवं अहित की निवृत्ति के लिए गति करती है जबकि अग्नि एवं वायु की गति में ऐच्छिक प्रेरणा नहीं है, वे स्वभावतः ही गतिशील हैं। मात्र गति के आधार पर विकसित-अविकसित को एक जैसा कैसे माना जा सकता है? जब इस तथ्य की ओर ध्यान गया होगा तब कर्मसिद्धांत के आधार पर त्रस और स्थावर की व्यवस्था हुई। जिसके स्थावर नामकर्म का उदय है वे स्थावर हैं भले ही वे गतिशील क्यों न हों तथा जिनके त्रसनामकर्म का उदय है वे त्रस हैं। आगमों में जब अग्नि और वायु को त्रस कह दिया गया तब उस वक्तव्य की समीचीनता लब्धित्रस एवं गतित्रस के आधार पर प्रस्तुत की गयी। आगमिक वक्तव्यों की तर्कसंगत व्याख्या के लिए गतित्रस एवं लब्धित्रस जैसा विभाग करना आवश्यक था और यह विभाग जनसाधारण के लिए बुद्धिगम्य भी है।

## एकेन्द्रिय-स्थावर अन्य त्रस

वर्तमान में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अप, तेजस, वायु एवं वनस्पति के जीव स्थावरकाय के रूप में एवं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव त्रसकाय के रूप में एकस्वर से स्वीकृत हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम पृथ्वी आदि पांचों प्रकार के जीवों को एक साथ स्थावर किसने कहा है यह अन्वेषणीय है। स्थानांग, उत्तराध्ययन की टीका आदि में तो इन पांचों को स्थावर कहा गया है।

## सन्दर्भ :

१. (क) आयारो, १/११८, से बेमि-संतिमे तसा पाण, तं जहा-अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।

(ख) दसवेआलियं, ४/९.

२. आचारांगवृत्ति, पत्र - ६२,

\* अण्डज-अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि।

\* पोतज - पोत का अर्थ है शिशु। जो शिशुरूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं हो तो वे पोतज कहलाते हैं। जैसे - हाथी आदि।

\* जरायुज - जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है, जो शिशु को आवृत किये रहती है। जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज हैं। भैंस, गाय आदि।

८ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

- \* रज - छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीर जीव।
- \* संस्वेदज - पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका (जूं) आदि जीव।
- \* औपपातिक - उपपात का अर्थ है - अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकी जीव एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए इन्हें औपपातिक-अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा है।

३. **दसवेआलियं**, ४/९.

४. **उत्तराध्ययनशान्त्याचार्यवृत्ति**, पत्र-२४४, त्रस्यन्ति-तापाद्युपत्पौ छायादिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः - द्वीन्द्रियादयः।

५. **आयारो**, ९/१/१२, पुढविं च आउकायं तेउकायं च वाउकायं च।  
पणगाइं बीय-हरियाई, तसकायं च सव्व सो णच्चा।।

६. वही, ९/१/१४, -अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।

७. **दसवेआलियं**, ४/३.

८. वही, ४/११.

९. **उत्तरज्झयणाणि**, ३६/६९, पुढवी आउजीवा उ तहेव य वणस्सई।  
इच्चेए थावरा तिविहा.....।।

१०. वही, ३६/१०७, तेऊं वाऊ य बोद्धव्वा, उराला य तसा तथा।  
इच्चेए तसा तिविहा.....।।

११. **ठाणं**, ३/३२६-३२७.

१२. **जीवाजीवाभिगम**, १/११, ..... 'दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता'  
ते एवमाहंसु तं जहा-तसा चेव थावरा चेव।

१३. वही, १/१२, थावरा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुढविकाइया आउकाइया  
वणस्सइकाइया।

१४. वही, १/७५, तसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-तेउक्काइया वाउक्कइया ओराला  
तसा।

१५. **तत्त्वार्थसूत्र**, २/१३, १४, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। तेजोवायु  
द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।

१६. **तत्त्वार्थवार्तिक**, २/१३, १४, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।  
द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।

१७. **स्थानांग**, २/१६४-१६६, दो काया पण्णत्ता, तं जहा-तसकाए चेव  
थावरकाए चेव।

तसकाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-भवसिद्धिए चेव अभवसिद्धिए चेव।

थावरकाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-भवसिद्धिए चेव अभवसिद्धिए चेव।

१८. वही, ५/१९, २० पंच थावरकाया पण्णत्ता, तं जहा-इंदे थावरकाए, बंभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए सम्मती थावरकाए पायावच्चे थावरकाए। पंच थावरकायाधिपती पण्णत्ता, तं जहा-इंदे थावरकायाधिपती बंभे थावरकायाधिपती सिप्पे थावरकायाधिपती सम्मती थावरकायाधिपती, पायावच्चे थावरकायाधिपती।
१९. स्थानांगवृत्ति, अभयदेव, (पृ० १९६) स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः-पृथिव्यादयः तेषां कायाराशयः स्थावरो वा कायः-शरीरं येषां ते स्थावरकायाः इन्द्रसम्बन्धित्वात् इन्द्रः स्थावरकायः पृथिवीकायः, एवं ब्रह्मशिल्पसम्मतिप्राजापत्या अपि अप्कायादित्वेन वाच्या इति।.....
२०. दसवेआलिय, ४/९.
२१. पण्णवणा, १/१९.
२२. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र-६९३, दुविहा खलु तसजीवा-लद्धितसा चेव गतितसा चेवा ततश्च तेजोवाय्वोर्गतित उदारणां च लब्धितोऽपि त्रसत्वमिति। तेजोवाय्वश्च स्थावरनामकर्मोदयेऽप्युक्तरूपं त्रसनमस्तीति त्रसत्वम्।



## जैन-दर्शन में रत्नत्रय

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय\*

दर्शन एक विचार-प्रक्रिया है। वह लक्ष्य का निर्धारण करता है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन का क्रम भी निर्धारित है, अतः दर्शन विचार-प्रक्रिया भी है और जीवन-प्रक्रिया भी। जैन-दर्शन में जीवन-प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। कहा गया है - 'ज्ञान के लिए जीवन नहीं है, बल्कि जीवन के लिए ज्ञान है'।

जैन-दर्शन में व्यवहार-पक्ष का विशेष उन्मीलन हुआ है। यहाँ मनुष्यों के लिए कठोर नियम निर्धारित किये गये हैं। यहाँ दर्शन को भी महत्त्व दिया गया है और चारित्र को भी। जैन-दर्शन में 'त्रिरत्न' का उपदेश प्राप्त होता है। भारतीय विचारधारा में 'त्रि' संख्या का विशेष महत्त्व है। **शिवमहिम्नस्तोत्र** में उल्लेख है -

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा -

नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥ - श्लोक २७

रत्नत्रय से सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र का ग्रहण होता है। हरिभद्रसूरि - विरचित **षड्दर्शनसमुच्चय** में कहा गया है कि भव्यत्व के परिपाक से जिसके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र सिद्ध हो जाते हैं, वह मोक्ष का पात्र हो जाता है -

तथा भव्यत्वपाकेन यस्यैतत् त्रितयं भवेत्।

सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम्॥ - कारिका ५४

जीव दो प्रकार के माने गये हैं - भव्य तथा अभव्य। अभव्यों में सम्यक्त्व आदि का अभाव होता है। भव्यों में भी भव्यत्व के पाक के बिना सम्यक्त्व आदि का अभाव ही रहता है। भव्यत्व का पाक हो जाने पर सम्यक्त्व आदि की निष्पत्ति हो जाती है- "जीवा द्वेधा - भव्याभव्यभेदात्। अभव्यानां सम्यत्तवाद्यभावः, भव्यानामपि भव्यत्वपाकमन्तरेण तदभाव एव, तथा भव्यत्वपाके तु तत्सद्भावः। ततोऽत्रायमर्थः। भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः। तद्भावो भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्॥"

\* निवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, म०गां० काशी विद्यापीठ, वाराणसी



**षड्दर्शनसमुच्चय** की ५४वीं कारिका की गुणरत्न-कृत टीका।

दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा गया है - दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। त्रिरत्नों में दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को व्यवस्थित क्रम में रखा गया है। सम्यक् दर्शन का तात्पर्य है- जैन-शास्त्रों तथा आचार्यों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास, जिससे समस्त सन्देह दूर हो जायँ - वे सन्देह जो हमारी आध्यात्मिक यात्रा में बाधक हो रहे हैं।

**सर्वदर्शनसङ्ग्रह** में सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है - “येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेणार्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनवेशरहित्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।” जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान है, उसी प्रकार जिनदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थ में विपरीत अभिनवेश का परित्याग करके श्रद्धा का सम्पादन करना सम्यक् दर्शन है। **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा गया है - “तत्त्वार्थे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।” यह भी कहा गया है -

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते। जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा॥

- **सर्वदर्शनसङ्ग्रह** के आर्हतदर्शनप्रकरण में उद्धृत।

जिनदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में रुचि का होना सम्यक् श्रद्धान (दर्शन) है। वह या तो निसर्ग से उत्पन्न होता है या गुरूपदेश से। परोपदेशनिरपेक्ष आत्मस्वरूप ज्ञान निसर्ग कहा जाता है और व्याख्यानादि रूप परोपदेशजनित ज्ञान अधिगम।

जिस स्वभाव से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उसी स्वभाव से मोह तथा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान है। तत्त्वों का उनकी अवस्था के अनुरूप संक्षेप में या विस्तार से जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है -

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा। योऽवबोधस्तगत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥ - **सर्वदर्शनसङ्ग्रह**, आर्हतदर्शनप्रकरण।

सम्यक् ज्ञान के पाँच प्रकार हैं - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। ज्ञान के आवरण के नष्ट हो जाने पर इन्द्रिय तथा मन के द्वारा वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान है, वह मति है। मति - जनित स्पष्ट ज्ञान को श्रुत कहा गया है। पदार्थों का अतीन्द्रिय ज्ञान अवधि है। दूसरे के मन में विद्यमान विचार को स्फुट रूप में जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय है। जिसके लिए तपस्वी तपस्या करते हैं, जो अन्य प्रकार के किसी भी ज्ञान से असंसृष्ट है, वह केवल ज्ञान है।

विज्ञान अपना तथा दूसरों का प्रकाशक है। बाधा से रहित होने पर वह प्रमाण कहा जाता है -

विज्ञानं स्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम्। प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च द्विधा मेयविनिश्चयात्॥

- **सर्वदर्शनसङ्ग्रह**, आर्हतदर्शन प्रकरण॥

संस्करण कर्म के उच्छेद के लिए उद्यत, श्रद्धायुक्त (प्रथम रत्न से युक्त) तथा ज्ञानवान् (द्वितीय रत्न से युक्त) पुरुष की पापगमन के कारण की क्रिया की निवृत्ति ही सम्यक् चारित्र है।

कहा गया है -

सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते। कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा॥

- सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण

निन्दित कर्मों का सर्वथा त्याग चारित्र है। इसके पाँच भेद हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

प्रमाद से भी जब चरों अथवा स्थावरों के प्राणों का वियोग नहीं किया जाता, तब वह अहिंसा व्रत होता है -

न यत् प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्। चराणां स्थावराणां च तदहिंसा व्रतं मतम्॥ - सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण।

प्रिय, पथ्य तथा तथ्य वाणी सूनुत कही जाती है। जो वाणी प्रिय नहीं है, हितकर नहीं है, वह तथ्य होकर भी तथ्य नहीं है -

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनुतं व्रतमुच्यते। तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥

- सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण।

न दी हुई वस्तु को न लेना अस्तेय व्रत कहा जाता है। धन मनुष्य का बाह्य प्राण है। उसके हरण से प्राण का हरण हो जाता है -

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्। बाह्याः प्राणा नृणामर्थो हरता तं हता हि ते॥

- सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण।

दिव्य (आगामी जीवन में भोग्य) तथा औदयिक (इसी जीवन में भोग्य) कामनाओं का कृत, अनुमत तथा कारित - तीनों प्रकार से मन, कर्म तथा वचनसे त्याग ब्रह्मचर्य है।

सभी भावों में इच्छा का त्याग अपरिग्रह कहा जाता है।

पाँचों भावनाओं द्वारा पाँच प्रकार से क्रमशः भावित ये पाँच महाव्रत मनुष्य को अक्षय पद प्रदान करते हैं -

भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्। महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम्॥ - सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण।

ये पाँच महाव्रत श्रमणों के लिए निर्धारित किये गये हैं। गृहस्थ के लिए पहले तीन तो वे ही हैं, किन्तु चतुर्थ तथा पञ्चम के स्थान पर क्रमशः संयम तथा सन्तोष

निर्धारित है। अहिंसा व्यापक शब्द है। इसमें तीनों प्रकार की हिंसाओं का परित्याग होना चाहिए - मन की हिंसा, वाणी की हिंसा तथा कर्म की हिंसा। अहिंसा का पालन मन, वचन तथा कर्म तीनों से होना चाहिए।

श्रमणों के लिए जो साधना बतायी गयी है, वह कठोर और श्रेष्ठ है, इसीलिए उसे महाव्रत कहा गया है। गृहस्थ के नियमों को अणुव्रत कहा जाता है। जैन धर्म में गृहस्थ तथा मुनिजनों की ये साधनाएँ एक दूसरे के समीप आ गयी हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल सम्यक् दर्शन अथवा केवल सम्यक् ज्ञान अथवा केवल सम्यक् चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये तीनों मिलकर मोक्ष प्रदान करते हैं -

“सम्यक्त्वं दर्शने, ज्ञानमागमावबोधः, क्रिया च चरणकरणात्मिकास्तसां योगः सम्बन्धस्तस्माद्, न च केवलं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा मोक्षकारणम्।”

- षड्दर्शनसमुच्चय की मणिभद्रकृत वृत्ति, कारिका ५४।

सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र नहीं हो सकता। यदि कोई केवल चारित्र के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करेगा तो गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकेगा। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र - ये तीनों मिलकर ही मोक्ष के कारण होते हैं। तीनों दण्ड चक्रादिन्याय से मोक्ष के कारण हैं, तृणारणिमणिन्याय से नहीं। इनमें से कोई भी पृथक् रूप से मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। जिस प्रकार रसायन के साधन मिलकर रसायन का फल देते हैं, उसी प्रकार ये तीनों मिलकर साधन बनते हैं- “एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकं यथा रसायन-साधनानि सम्भूय रसायनफलं साधयन्ति न प्रत्येकम्।”-सर्वदर्शनसङ्ग्रह, आर्हतदर्शनप्रकरण।

भद्रबाहुस्वामी ने कहा है -

सुबहुं पि सुयमहीयं किं काही चरणविष्पमुक्कस्सा।

अन्धस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि।।

“सुबह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति चरणविप्रयुक्तस्या।

अन्धस्य यथा प्रदीप्ता दीपशतसहस्रकोटिरपि।।”

जिस प्रकार सहस्रों - करोड़ों दीपक भी अन्धे का हितसाधन नहीं कर सकते, उसी प्रकार बहुत श्रुत भी आचरण रहित पुरुष का उपकार नहीं कर सकता।

नाणं चरित्तहीणं लिंगगहणं च दंसणविहीणं।

संजमहीणं च तवं जे चरइ निरत्थयं तस्सा।।

(ज्ञानं चरित्रहीनं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम्।

संयमहीनं च तपो यश्चरति निरर्थकं तस्या॥)

चरित्रहीन ज्ञान, दर्शन विहीन वेष तथा संयमहीन तपस्या निरर्थक है।

हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान का महत्त्व है, किन्तु सम्यक् चरित्र का विशेष महत्त्व है। सम्यक् चरित्र के आधार पर हमारे व्यवहारों का मूल्याङ्कन होता है। सम्यक् चरित्र के अन्तर्गत जिन पाँच महाव्रतों का उल्लेख किया गया है, उनमें अहिंसा को विशेष महत्त्व दिया गया है।

वर्तमान समय में देश की स्थिति के सन्दर्भ में जैन-दर्शन का यह व्यवहार-पक्ष अधिक उपयोगी है। आज ज्ञान, वैदुष्य आदि से हमारा क्या उपकार हो रहा है? भारत का चरित्र धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है। यदि उसकी रक्षा नहीं होगी, तब श्रुत आदि से अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होगी। वर्तमान समय में आवश्यकता यह है कि जैन-दर्शन के इस व्यावहारिक पक्ष का विशेष उन्मीलन किया जाय और समाज में व्याप्त दूषणों को दूर किया जाय। व्रतों का स्वरूप निर्मल रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिन भावनाओं से वे तत्त्व ओतप्रोत हैं, उन्हीं के आधार पर व्यवस्था होनी चाहिए और समाज को निर्देश भी मिलना चाहिए। जो आदर्श मुनिजनों द्वारा प्रस्तुत किये जायें, वे यथासम्भव गृहस्थों द्वारा भी पालित हों। दोनों के आचरणों में बहुत अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। यह समाज तथा देश के उत्थान के लिए आवश्यक है। इसको ध्यान में रखकर जैनदर्शन ने आचारमीमांसा प्रस्तुत की है।



## जैन दर्शन में निहित वैज्ञानिक तत्व\* (गणित के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० अनुपम जैन\*\*

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से श्रमण एवं वैदिक संस्कृतियाँ प्रचलित हैं। वैदिक परम्परा के अत्यन्त प्राचीन लिपिबद्ध धर्म ग्रंथ ऋग्वेद में भी श्रमण संस्कृति की जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव एवं इस परम्परा के अन्य उल्लेखों से इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

जैन परम्परा का एक सुव्यस्थित दर्शन है। परस्पर विरोधी विचार धाराओं में समन्वय स्थापित कर मानवता के विकास का पथ प्रशस्त करने वाले अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं समाज में सुख, शान्ति एवं स्थायित्व देने वाली अहिंसा की तार्किक सुसंगत, सूक्ष्म विवेचना इस दर्शन की अद्वितीय विशेषतायें हैं।

अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त के सिद्धान्तों को अपने जीवन में आत्मसात कर तदनु रूप आचरण करने वाले महान निस्पृही जैनाचार्यों ने भगवान् महावीर द्वारा दिये गये उपदेशों के आधार पर जैन दर्शन को विवेचित करने वाली अनेक कृतियाँ दी हैं। इन कृतियों के माध्यम से अनेकानेक दार्शनिक समस्याओं का सुस्पष्ट, तार्किक और बुद्धिगम्य समाधान प्राप्त होता है।

विज्ञान एवं दर्शन का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। प्रकृति के रहस्यों की खोज में निरन्तर लगा विज्ञान कहीं न कहीं व्यवहार से भी जुड़ा रहता है। यही कारण कि विज्ञान आज सर्वत्र लोकप्रिय है। किन्तु विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है, यह आत्मा के विकास एवं उसको शाश्वत सुख प्रदान करने में कोई मदद नहीं करता। विज्ञान बहिर्मुख है और दर्शन अध्यात्म प्रवण। विज्ञान वस्तु जगत को परिवर्तित करने का साधन देता है और दर्शन ऐसी अन्तर्दृष्टि जिससे मन को शान्ति मिले।

इस प्रकार एक मौलिक भेद के होते हुए भी विज्ञान और दर्शन अपने परम्परागत रूपों में निकट सम्बन्धी रहे हैं। समग्र विश्व के स्वरूप की जिज्ञासा दोनों में समान

\* भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टिट्यूट ऑव इण्डोलाजी, दिल्ली में १४ मई २००३ को पठित आलेख।

\*\* गणित विभाग, होल्कर ओटोनोमस साईंस कालेज, इन्दौर - ४५२ ०१७

है। प्राचीन काल में विश्व-विज्ञान दार्शनिक प्रस्थानों का एक नियत अंग था। दर्शन के इस अंश से ही परवर्ती वैज्ञानिक चिन्तन ने अपनी प्रेरणा पाई है। बहुत दिनों तक विज्ञान को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था। न्यूटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ को **प्राकृतिक दर्शन के गणितात्मक सिद्धांत** नाम दिया है। पश्चिम में जैसे-जैसे आधुनिक काल में विज्ञान का विकास हुआ, दर्शन ने प्राकृतिक विश्व के सम्बन्ध में अपने को विज्ञान का अनुचर मात्र मान लिया है। आजकल बहुत से दार्शनिक कहते हैं कि दर्शन का वस्तु-सत्यों से सम्बन्ध नहीं, उनके अनुसार दर्शन का ठीक विषय ज्ञान अथवा मूल्यों की मीमांसा है। दूसरी ओर विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में परिकल्पनाएँ वैज्ञानिक चिन्तन में नाना रूप से प्रकट हुई हैं और इन्हें दार्शनिक प्रवृत्तियों से अलग नहीं माना जा सकता है। इस परिस्थिति का परिणाम एक विचित्र उलझन में है। विशुद्ध दार्शनिकगण विज्ञान की सहायता के बिना विश्व के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकते और न विशुद्ध वैज्ञानिक ही दर्शन की सहायता के बिना अपने परम सिद्धान्तों को व्यवस्थित और संगत रूप दे सके हैं। फलतः विज्ञान और दर्शन परस्पर पूरक है।

भारत सरकार की इस नयी योजना ने विज्ञान के शिक्षकों को दर्शन को पढ़ने की ओर प्रेरित किया है। इससे हमारे प्राचीन साहित्य में निहित विज्ञान प्रकाश में आयेगा।

प्राचीन जैन साहित्य यथा श्वेताम्बर परम्परा मान्य अंग, उपांग साहित्य, उन पर लिखी गई टीकाओं, तथा दिगम्बर जैनागमों **प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र** एवं उस पर लिखी टीकाओं, **षट्खंडागम, कषाय प्राभृत** एवं उनकी टीकाओं यथा **धवला, जयधवला**, उन पर समाधारित ग्रंथों **गोम्पटसार** (जीवकांड, कर्मकांड) आदि तथा खगोलीय ग्रंथों **तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार, जम्बुद्वीपपण्णत्तिसंगहो, लोक विभाग** आदि में विज्ञान की विविध शाखाओं का ज्ञान उपलब्ध है। इसके अलावा भी एक लम्बी सूची है। इस क्रम में निम्नांकित विषयों पर सामग्री संकलित की जा सकती है।

१. गणित एवं सांख्यिकी
२. ज्योतिर्विज्ञान एवं खगोलविज्ञान (भूगोल सहित)
३. भौतिक विज्ञान (तंत्र-मंत्र सहित)
४. रसायन विज्ञान
५. प्रबन्ध विज्ञान एवं अर्थशास्त्र
६. जीव विज्ञान
७. वनस्पति शास्त्र
८. पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी विज्ञान
९. आहार विज्ञान (भैषज विज्ञान एवं सूक्ष्म जीव विज्ञान सहित)

१०. आयुर्वेद
११. ध्यान एवं योग
१२. भूगर्भ विज्ञान
१३. वास्तु विज्ञान

प्रत्येक शाखा की सामग्री के अन्तर्गत जैनदर्शन से उक्त विषय के सम्बन्ध अथवा जैनाचार्यों की उक्त विषय में रुचि के कारण, प्राचीन जैन साहित्य में उक्त विषयक सामग्री के मूल स्रोतों को चिन्हित करना, जैनाचार्यों की एतद् विषयक प्रमुख उपलब्धियाँ अथवा जैन साहित्य में उक्त विषयक उपलब्ध प्रमुख सिद्धान्त उनके ऐतिहासिक महत्व एवं वर्तमान अकादमिक या सामाजिक समस्याओं के समाधान में उनकी भूमिका को रेखांकित करना होगा। यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक शाखा के सम्बन्ध में अब तक प्रकाशित कार्य का विस्तृत सर्वेक्षण पहली आवश्यकता होगी जिससे उनका उपयोग हो सके। मैं यह सर्वेक्षण अलग से प्रस्तुत करूँगा।

यह सर्वेक्षण पूर्ण है ऐसा मेरा दावा नहीं है वस्तुतः यह कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। निरन्तर प्रयास करते रहने से हम पूर्णता की ओर उन्मुख अवश्य हो सकते हैं।

इस आलेख में इन सभी शाखाओं पर चर्चा संभव नहीं है। मैं स्वयं गणित का विद्यार्थी हूँ एवं गत २५ वर्षों से जैन गणित के क्षेत्र में ही अनुसंधानरत हूँ। अतः मैं अपने आलेख को जैन गणित तक ही सीमित कर रहा हूँ।

सर्वप्रथम मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जैन गणित अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित या गणित की कोई उच्चतर शाखा नहीं अपितु गणितीय ज्ञान का वह अंश है जो प्राचीन जैन साहित्य में उपलब्ध है अथवा वह गणितीय ज्ञान है जिसका विकास महान जैनाचार्यों ने किया है। इसमें अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति, भिन्न आदि के पारम्परिक विषय तो हैं ही, समुच्चय सिद्धान्त (Set Theory) संख्या सिद्धान्त (Number Theory) निकाय सिद्धान्त (System Theory) जैसे आधुनिक विषय भी हैं।

जैनाचार्यों की गणित में रुचि का कारण भी अत्यन्त सहज है। आत्मसाधना के क्षेत्र में अग्रणी जैनाचार्यों का उद्देश्य गणितीय विकास नहीं अपितु दार्शनिक विषयों की व्याख्या में प्रामाणिकता, स्पष्टता, बोधगम्यता, सुसंगतता लाना था। गणित को साधन के रूप में प्रयोग में लाया गया है। यह साधन रहा है साध्य नहीं। फलतः यह जैन साहित्य के बहुभाग में रचा पचा है।

सर्वप्रथम हम एक उद्धरण यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

“बहुरि जे जीव संस्कृतादिक के ज्ञान सहित हैं किन्तु गणिताम्नायादिक के ज्ञान के अभाव ते मूल ग्रंथ या संस्कृत टीका विषै प्रवेश न करहुं तिन भव्य जीवन काजे इन ग्रंथन की रचना करी है।”<sup>१</sup>

पं० टोडरमलजी का यह कथन इस बात की पूर्ण रूपेण पुष्टि करता है कि गणित एवं गणितीय प्रक्रियाओं को सम्यक् रूप से समझे बिना मूल ग्रंथों एवं आगमों की विषयवस्तु को ठीक प्रकार से नहीं जाना जा सकता। जैन शास्त्रों में जिन बहत्तर कलाओं का उल्लेख मिलता है उनमें सर्वप्रथम स्थान लेख का एवं दूसरा गणित का है तथापि आगमों में प्रायः इन कलाओं को “लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ” अर्थात् लेखादिक किन्तु गणित प्रधान कहा गया है।<sup>२</sup> मात्र इतना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जैन वाङ्मय के विषयानुसार विभाजन के क्रम में उसे ४ अनुयोगों में निम्न प्रकार विभाजित किया जाता है।

### दिगम्बर परम्परा के अनुसार<sup>३</sup> -

१. प्रथमानुयोग - तीर्थकरों एवं अन्य महापुरुषों का जीवन चरित्र, पूर्वभवों का विवरण एवं कथा साहित्य।
२. करणानुयोग - लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार, कर्म सिद्धांत एवं गणित-विषयक साहित्य।
३. चरणानुयोग - मुनियों एवं श्रावकों की चर्या तथा आचार विषयक साहित्य।
४. द्रव्यानुयोग - आत्मा एवं परमात्मा विषयक दार्शनिक साहित्य, न्याय एवं अध्यात्म के ग्रंथ।

### श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार<sup>४</sup> -

१. धर्मकथानुयोग - तीर्थकरों का जीवन, पूर्वभव एवं धार्मिक कथाओं से सम्बद्ध साहित्य।
२. चरण-करणानुयोग - आचार एवं गणित विषयक साहित्य।
३. गणितानुयोग - खगोल विषयक साहित्य।
४. द्रव्यानुयोग - न्याय, कर्म एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य।

उक्त विभाजन से स्पष्ट है कि जैन धर्म की दोनों परम्पराओं में गणित को अतिविशिष्ट स्थान दिया गया है। दिगम्बर परम्परा में जहाँ करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ग्रंथ गणितज्ञों के लिए रुचिकर हैं। वहीं श्वेताम्बर परम्परा के विभाजन के अन्तर्गत गणितानुयोग तथा चरण-करणानुयोग के अन्तर्गत करणानुयोग के ग्रंथ उपयोगी हैं।



श्वे० जैन मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने अनुयोगवार संकलनकर गणितज्ञों के लिए काम बहुत आसान कर दिया है। मूलतः गणितज्ञ जैनाचार्य श्रीधर (७९९ ई०) ने भी गणित की आवश्यकता एवं उपादेयता पर खुलकर लिखा है। महावीर के अनुसार तो चराचर जगत में जो कुछ भी है वह गणित के बिना नहीं है।<sup>५</sup>

गणित के इतिहास के अध्ययन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि १८वीं शताब्दी के अन्त में इसके इतिहास का लेखन प्रारंभ हो गया था किन्तु जैन धर्म ग्रंथों में निहित गणितीय ज्ञान की ओर किसी गणितज्ञ का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीधर (७५० ई० लगभग) द्वारा प्रणीत **त्रिशंतिका (पाटीगणितसार** अथवा **गणितसार)** का प्रकाशन सुधाकर द्विवेदी द्वारा १८९९ में अवश्य किया गया था किन्तु उस समय इसको अजैन कृति के रूप में प्रकाशित किया गया था। २०वीं सदी के प्रारंभ में Madras Oriental Manuscript Library से सम्बद्ध प्रो० 'एम० रंगाचार्य' को इस भण्डार से प्राप्त आचार्य महावीर द्वारा रचित गणितीय पाण्डुलिपि **गणितसारसंग्रह** की प्राप्ति से भारतीय गणित का एक स्वर्णिम पृष्ठ अनावृत हुआ। विश्व समुदाय को इस महत्वपूर्ण जैन गणितीय कृति की जानकारी सर्वप्रथम १९०८ में David Eugen Smith के *Bibliotheca Mathematica*<sup>7</sup> में प्रकाशित आलेख के माध्यम से हुई तथा १९१२ में मद्रास सरकार द्वारा **गणितसारसंग्रह** का प्रो० एम० रंगाचार्य द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद एवं प्रस्तावना सहित प्रकाशन किया गया। वस्तुतः इस कृति के प्रकाशन के साथ ही विश्व समुदाय का ध्यान भारतीय गणित की उस परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ जिसे सम्प्रति 'जैन गणित' या *Jaina School of Mathematics* की संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार विश्व क्षितिज पर "जैन गणित" की पुनर्स्थापना हुई।

जैन गणित की जड़ें बहुत गहरी हैं। पौराणिक आख्यानों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों-ब्राह्मी एवं सुन्दरी को क्रमशः लिपि एवं अंक विद्या की शिक्षा दी। सुन्दरी को दिया गया ज्ञान अंक लिपि १, २, ३..... का ही था। द्वादशांग जिनवाणी के विवेचनों से भी स्पष्ट है कि ११ अंगों तथा १२वें दृष्टिवाद अंग के 'परिकर्म' एवं 'पूर्व' शीर्षक भेदों में विपुल गणितीय ज्ञान निहित था। इस सन्दर्भ में **गणितसारसंग्रह** का अध्याय प्रथम, शत्रुंजय काव्य, आचार्य जिनसेन कृत **आदिपुराण** और आचार्य पुष्पदंत कृत अपभ्रंश भाषा का **महापुराण** दृष्टव्य है।<sup>८</sup>

चतुर्थ अंग **भगवती सूत्र** के अनुसार संख्यान या अंकों के विज्ञान का ज्ञान जैन साधुओं की एक प्राथमिक आवश्यकता थी।<sup>९</sup>

श्वेताम्बर जैन आगमों में गणित से सम्बद्ध विषयवस्तु के बारे में महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाली एक गाथा हमें अंग साहित्य के अन्तर्गत उसके तृतीय अंग **स्थानांगसूत्र (ठाणं)** के १०वें अध्याय में प्राप्त होती है। गाथा निम्न प्रकार है :-

दस विधे संखाणे पण्णत्ते तं जहा!

परिकम्मं ववहारों रज्जु रासी कलासवन्ने (कलासवण्णे) या

जावंतावति वग्गो धनो ततह वग्ग वग्गो विकप्पो ता॥<sup>१०</sup>

इस गाथा में संख्यान (गणित) के १० प्रकारों की चर्चा है। **स्थानांगसूत्र** के व्याख्याकर अभयदेवसूरि ने सर्वप्रथम इसकी व्याख्या प्रस्तुत की थी। तदोपरांत बी०बी० दत्त, एच०आर० कापडिया, मुकुट बिहारीलाल अग्रवाल, बी०एल० उपाध्याय, एल०सी० जैन आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से इनकी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं जिनका विस्तृत विवेचन मैंने अपने आलेख 'जैन आगमों' में निहित अध्ययन के विषय<sup>११</sup> शीर्षक आलेख में किया है। हम यहाँ अभयदेवसूरि, बी०बी० दत्त एवं आधुनिक मत को सारणीबद्ध कर रहे हैं।

क्र० शब्द	अभयदेव सूरि का मत	बी०बी० दत्त का मत	आधुनिक मत
१. परिकम्मं	संकलन आदि	अंकगणित के परिकर्म (८)	अंकगणित के आठ मूलभूत परिकर्म
२. ववहारो	श्रेणी व्यवहार या पाटी गणित	अंकगणित के व्यवहार	पाटी गणित के व्यवहार
३. रज्जु	समतल ज्यामिति	रेखा गणित	लोकोत्तर गणित (लोकोत्तर प्रमाण)
४. रासी	अन्नों की ढेरी	राशियों का आयतन आदि निकालना	समुच्चय सिद्धांत
५. कलासवन्ने	भिन्न	भिन्न	भिन्न
६. जवत्-तावत्	प्रकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन	सरल समीकरण	सरल समीकरण
७. वग्गो	वर्ग	वर्ग समीकरण	वर्ग समीकरण
८. घणो	घन	घन समीकरण	घन समीकरण
९. वग्ग-वग्गो	चतुर्थ घात	चतुर्थ घात समीकरण	उच्च घात समीकरण
१०. वि कप्पो	क्रकचिका व्यवहार	विकल्प गणित	विकल्प एवं भंग (क्रमचय एवं संचय)

सारणी से स्पष्ट है कि जैन आगमों में निहित गणितीय विषयों की सूची अत्यन्त व्यापक है और उसमें गणित का बहुत बड़ा क्षेत्र समाहित है। अभयेदवसूरि की व्याख्या में कुछ त्रुटि रह गई थी जिसे प्रो० दत्त ने काफी हद तक दूर किया किन्तु उनके सम्मुख सीमित मात्रा में मात्र कुछ आगम ही उपलब्ध होने के कारण उनकी दृष्टि रज्जु एवं रासी शब्द के मूल तक नहीं पहुँच सकी जिसे एल०सी० जैन ने सक्षमतापूर्वक पकड़ा है। जैन आगमों एवं परिवर्ती टीका साहित्य के एक बड़े भाग का अध्ययन न करने के कारण ही १९२९ में प्रकाशित अपने आलेख 'The Jaina School of Mathematics' में दत्त ने लिखा कि -

It should be noted that the necessity of Jaina priests to learn Mathematics arises by way of finding the proper time and place for the religious ceremonies.<sup>12</sup>

जबकि वास्तविकता यह है कि कर्म प्रकृतियों के आख्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा को सम्यक् रूप से समझने, अध्यात्म के गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण, लोक के स्वरूप, उसके आकार-प्रकार, विभिन्न प्रकार की जीव राशियों की गणना, उनमें परस्पर सम्बन्ध आदि को स्पष्ट करने के लिए गणित को एक साधन के रूप में प्रयोग में लाया गया है। यह सत्य है कि दीक्षा, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि का ज्ञान आवश्यक है किन्तु यह केवल एक पक्ष है। दार्शनिक विषयों की व्याख्या में समाहित गणितीय ज्ञान विशेषतः कर्म सिद्धांत का गणित अधिक परिष्कृत एवं उपयोगी है। वस्तुतः जैन आगमों में निहित गणितीय सामग्री को स्थूलरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. लौकिक गणित

२. लोकोत्तर गणित

लौकिक गणित के अन्तर्गत स्थानमान पद्धति, अंकों के लेखन, विभिन्न प्रकार की मापन पद्धतियाँ, शून्य एवं अंकों पर विभिन्न प्रकार के परिकर्म, यथा संकलन, व्यकलन, गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल, धन, धनमूल, पाटीगणित के विभिन्न व्यवहार, यथा श्रेणी व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, ब्याज आदि के सूत्र, छाया व्यवहार, खात व्यवहार, क्रकचिका व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, भिन्नों पर परिकर्म, ज्यामिति एवं ठोस ज्यामिति से सम्बद्ध गणित, विभिन्न प्रकार की आकृतियों के क्षेत्रफल, पृष्ठ आदि ज्ञात करना, बीज गणित के अन्तर्गत सरल, वर्ग, घन एवं उच्चघातीय समीकरणों का सृजन एवं उनका हल, क्रमचय-संचय, घातांकों के सिद्धान्त, लघुगुणकीय सिद्धांत आदि से सम्बद्ध गणित आता है और एतद् विषयक सामग्री जैन साहित्य में विपुल परिमाण में अत्यन्त मौलिक रूप में उपलब्ध है।

लोकोत्तर गणित के अन्तर्गत राशि (समुच्चय) सिद्धान्त, एकैकी संगति (One-One Correspondence), अनन्त विषयक गणित, कर्म एवं निकाय सिद्धान्त विषयक गणित आता है। इस पक्ष पर अभी कम काम हुआ है किन्तु इस वर्ग की सामग्री अधिक सामयिक एवं गौरवपूर्ण है।

२०वीं सदी के अन्त तक निरन्तर अप्रकाशित जैन साहित्य प्रकाश में आ रहा है और उसके साथ जैन गणित के क्षेत्र में योगदान देने वाले जैनचार्यों की सूची भी विस्तृत होती जा रही है। यद्यपि विश्व गणितीय इतिहास में आज भी आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीर एवं भास्कर - 'द्वितीय' ही स्थान पा सके हैं किन्तु भारतीय गणित इतिहास की नवीन प्रकाशित पुस्तकों में उमास्वाति, वीरसेन एवं नेमिचन्द्र को भी स्थान मिलने लगा है। मैं निम्नांकित सारणी में उन प्रमुख जैनाचार्यों को सूचीबद्ध कर रहा हूँ जिनकी कृतियों में गणितीय सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है। अंग एवं उपांग साहित्य के अन्तर्गत समवायांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग (ठाणं), भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है।

क्र० ग्रन्थकार का नाम एवं काल	गणितीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियाँ
१. गुणधर (प्रथम श०ई०पू०)	कसाय पाहुड़ (कषायप्राभृत)
२. कुन्दकुन्द (प्रथम श०ई०पू०)	पंचास्तिकाय आदि
३. धरसेन (प्रथम श०ई०)	षट्खंडागम
४. पुष्पदंत एवं भूतबली (प्रथम श०ई०)	षट्खंडागम, महाबन्ध
५. उमास्वामी (दूसरी श०ई०)	तत्त्वार्थसूत्र
६. उमास्वाति (दूसरी से चौथी श०ई०)	तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य
७. यतिवृषभ (१७६-६०९ ई०)	तिलोयपण्णत्ती
८. पूज्यपाद (देवनन्दि) (५३९ ई०)	सवार्थसिद्धि
९. जिनभद्रगणि भाष्यकार (६०९ ई०)	विशेषावश्यकभाष्य
१०. अकलंक (६२०-६८० ई०)	तत्त्वार्थराजवार्तिक
११. विद्यानन्द (७७५-८४० ई०)	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
१२. श्रीधराचार्य (८वीं श०ई०)	पाटीगणित, त्रिंशंतिका, बीजगणित (अनुपलब्ध आदि)
१३. वीरसेन (८१६ ई०)	धवला, सिद्धभूपद्धति (अनुपलब्ध)
१४. जिनसेन (९वीं श०ई०)	जयधवला

क्र० ग्रन्थकार का नाम एवं काल	गणितीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियाँ
१५. महावीर (८५० ई०)	गणितसार संग्रह आदि गणितीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियाँ
१६. कुमुदेन्दु (८६०-८८० ई०)	सिरिभूवलय
१७. निवृत्तिकुलीन शीलांक (९वीं शती ई०)	नव अंगों की टीकायें
१८. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती (१०-११वीं श०ई०)	गोम्पटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार, बृहद्द्वारा परिकर्म (अनुपलब्ध)
१९. माधवचन्द्र त्रैविद्य (१०-११वीं श०ई०)	षट्त्रिंशिका, (षट्त्रिंशतिका) त्रिलोकसार आदि की टीका
२०. पद्मनन्दि-प्रथम (९७७-१०४३ श०ई०)	जम्बूद्वीपवर्णनसंग्रहो
२१. अमितगति-द्वितीय (११वीं श०ई०)	चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयप्रज्ञप्ति, व्याख्या-प्रज्ञप्ति
२२. अभयदेवसूरि (१०१५-१०७८ ई०)	९ आगमों की टीकायें
२३. मलधारी हेमचन्द्रसूरि (११०७ ई०)	अनुयोगद्वारा वृत्ति, विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति
२४. मलयगिरि (१०८०-११७२ ई०)	सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों की टीकायें
२५. राजादित्य (११२० ई०)	व्यवहार गणित, क्षेत्र गणित, व्यवहार रत्न, जैन गणित सूत्रोदाहरण, चित्रहसुगे, लीलावती
२६. काशहदगच्छीय सिंहतिलकसूरि (१३वीं श०ई०)	गणित तिलक टीका
२७. ठक्कर फेरु (१२६५-१३३० ई०)	गणितसार कौमुदी
२८. महिमोदय (१६६५ ई०)	गणित साठसौ
३०. हेमराज (१६७३ ई०)	गणितसार
३१. तेजसिंह (१७वीं श०ई०)	इष्टांक पंचविंशतिका
३२. पं० टोडरमल (१७४०-१७६७ ई०)	गोम्पटसार, त्रिलोकसार आदि पर सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका टीका

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरि, पद्मप्रभसूरि, चन्द्रम, सिद्धसेन, महेन्द्रसूरि, मलयन्दु सूरि, बुलाकीचन्द्र, बुलाकीदास आदि ने भी महत्वपूर्ण जैन ग्रंथों की रचना की है। इनके अतिरिक्त हमें अनेक ऐसे ग्रंथों के सन्दर्भ भी उपलब्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं जो वर्तमान में तो प्राप्य नहीं हैं किन्तु पूर्व में उपलब्ध थे।

सुविधा की दृष्टि से हम सम्पूर्ण उपलब्ध एवं अनुपलब्ध जैन गणितीय साहित्य को ६ वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१. पूर्णतः गणितीय एवं जैनाचार्यों द्वारा लिखित ऐसे ग्रन्थ जिनका अनुवाद एवं आलोचना प्रकाशित हो चुकी है जैसे महावीराचार्य कृत गणितसार संग्रह, आचार्य श्रीधरकृत 'पाटी गणित' एवं त्रिंशतिका, सिंहतिलकसूरि कृत 'गणिततिलक टीका' (मूललेखक-श्रीपति)।

२. ऐसे ग्रन्थ जो पूर्णतः गणितीय हैं एवं अब तक उनका मात्र मूलपाठ ही प्रकाशित हो पाया है। जैसे- ठक्कर फेरु कृत गणित कौमुदी, लालचन्द्र कृत लीलावती एवं अंक प्रस्तार।

३. कतिपय ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ तो लेखक को प्राप्त हो गई हैं किन्तु मूलपाठ एवं आलोचनात्मक अध्ययन अद्यतन अप्रकाशित हैं। जैसे - माधवचन्द्र त्रैविद्यकृत षट्त्रिंशिका, हेमसज (गोदीका) कृत गणितसार एवं लोंकागच्छीय तेजसिंह सूरि कृत इष्टांकपंचविंशतिका।

४. इस वर्ग के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनकी पाण्डुलिपियाँ देश के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं किन्तु लेखक को इन्हें देखने का अवसर नहीं मिला जैसे महिमोदयकृत गणितसार साठसौ, आनन्द कवि कृत गणितसार, गणिविद्यापण्णत्ति, गणितसंग्रह, क्षेत्रगणित, क्षेत्रसमास, गणितविलास, गणितकोष्ठक, पुद्गल भंग एवं वृत्ति। इनके बारे में विस्तृत जानकारी लेखक ने अपने आलेख 'जैन गणितीय साहित्य'<sup>१३</sup> में दी है।

५. इस वर्ग में उन ग्रन्थों को लिया जा सकता है जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन लेखकों ने किया है किन्तु उनकी पाण्डुलिपियाँ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है यथा वृहद्बारापरिकर्म, सिद्धभूपद्धति एवं उसकी टीका, करणसूत्र, करणभावना, अनन्तपालकृत पाटीगणित, महावीराचार्य कृत छत्तीसपूर्वा प्रतिउत्तरप्रतिसह, क्षेत्रगणित, त्रिंशति, क्षेत्रसमास, क्षेत्रसमास बालावबोध आदि। इनका विवरण भी 'जैन गणितीय साहित्य' लेख में उपलब्ध है।<sup>१४</sup>

६. प्राकृत भाषा में रचित वर्तमान में अनुपलब्ध गणितीय ग्रन्थों की विस्तारपूर्वक चर्चा लेखक के आलेख 'कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रन्थ'<sup>१५</sup> अथवा प्राकृत भाषा

में निबद्ध गणितीय ग्रन्थ<sup>१६</sup> में दृष्टव्य है। विस्तार भय से हम यहाँ उन सन्दर्भों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। ऐसे ग्रन्थ भी ४-५ हैं एवं अति महत्वपूर्ण हैं।

हम यहाँ जैन गणित की कतिपय मौलिकताओं को सूचीबद्ध कर रहे हैं।

(१) जैनाचार्यों ने संख्या का प्रारम्भ २ से किया है। यद्यपि वे गणना की प्रक्रिया १ से शुरू करते हैं। उनकी दृष्टि में संख्या समूह की बोधक होती है एवं १ (एक) वस्तु व्यावहारिक दृष्टि से कोई समूह नहीं बनाती।<sup>१७</sup> इस प्रकार सर्वाधिक छोटी संख्या, जिसे जघन्य संख्यात कहा है, वह २ है। ऐसी संख्यायें जिनके वर्ग में से स्वयं संख्या को घटाने पर संख्या से अधिक शेष बचता है का एक अन्य वर्ग कृति बनाया है संक्षिप्ततः

I गिनतियाँ	-	१, २, ३, ४, ५.....
II संख्यायें	-	२, ३, ४, ५, ६.....
III कृतियाँ	-	३, ४, ५, ६, ७.....

(२) जैनचार्यों ने स्थानमान की अत्यन्त विस्तृत सूचियाँ दी हैं जो दाशमिक क्रम पर आधारित हैं। जिनभद्रगणि (७वीं श०ई०) के **विशेषावश्यकभाष्य** में उपलब्ध **आवश्यकनिर्युक्ति** के उल्लेख से ई०पू० में जैन परम्परा में शून्य के प्रयोग एवं दाशमिक पद्धति का उपयोग पृष्ठ होता है। तीन प्रमुख जैन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत स्थानमान की सूची के पदों की संख्या निम्न प्रकार है -

श्रीधराचार्य (७९९ ई०)	१८ पद
महावीराचार्य (८५० ई०)	२४ पद
राजादित्य (११५० ई०)	४० पद

ये सूचियाँ समकालीन अन्य सूचियों की अपेक्षा विस्तृत एवं भिन्न हैं।

(३) जैनाचार्यों ने संख्याओं को व्यक्त करने हेतु अनेक विधियों का प्रयोग किया है। यथा -

- I अंकों द्वारा
- II अक्षर संकेतों द्वारा
- III शब्द संकेतों द्वारा

प्रत्येक अंक अथवा संख्या को व्यक्त करने वाले अनेक अक्षर एवं शब्द नियत हैं। इन शब्दों का चयन जैन वाङ्मय से किया गया है यथा रत्न-३, गति-४, इन्द्रियाँ-५, द्रव्य-६, तत्व-७, गुणस्थान-१४, तीर्थंकर-२४। अक्षरों द्वारा अंकों को लिखने की पद्धति **गोम्पटसार** में उपलब्ध है।<sup>१८</sup>

अंकों एवं अक्षरों दोनों के माध्यम से संख्याओं को व्यक्त करने की अनेक विधियों का प्रयोग जैन ग्रंथों में मिलता है।

- I दायीं ओर से बांयी ओर तक प्रत्येक अंक का प्रतिपादन एवं व्युत्क्रमा
- II स्थान मान के आधार पर अंकों का प्रतिपादन।
- III आदि एवं अंत के अंकों का उल्लेख कर मध्य के तुल्य अंकों का एक साथ उल्लेख।
- IV किसी संख्या के वर्ग या घन के रूप में किसी संख्या को व्यक्त करना।
- V शब्दों द्वारा अंकों का स्थान क्रमानुसार उल्लेख।

(४) जैन रचनाकारों ने समस्त संख्याओं को ३ मुख्य वर्गों एवं पुनः २१ उपवर्गों में विभाजित कर उनमें अन्तर एवं क्रम निर्धारित किया है।

- I संख्यात - जहाँ तक गणना संभव है।
- II असंख्यात - गणना से आगे की राशि किन्तु अगणनीय अनंत से छोटी।
- III अनन्त - असंख्यात से बड़ी किन्तु व्यय होने पर भी अनन्त काल तक न समाप्त होने वाली।

पुनः संख्यात को ३, असंख्यात को ९ एवं अनन्त को ९ भेदों में विभाजित कर उनमें सूक्ष्म अन्तर किया है<sup>१९</sup>। अनन्त को स्वरूप एवं प्रकृति के आधार पर ११ भेदों में अलग से भी विभाजित किया गया<sup>२०</sup>।

(५) संख्यात संख्याओं में भी बहुत बड़ी-बड़ी संख्याओं का प्रयोग हुआ है इन विशाल संख्याओं की मात्र कल्पना न कर उनका कालमान की सूची में विधिवत् उपयोग किया गया है। अचलात्म (८४<sup>३१</sup>×१०<sup>९०</sup> वर्ष) तथा शीर्ष प्रहेलिका (८४<sup>२८</sup>×१०<sup>१४०</sup> वर्ष) इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

जैन आचार्यों ने बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने हेतु घातांकों के आधुनिक सिद्धान्तों, अल्प-बहुत्व की मौलिक रीति, वर्गित-संवर्गित की रीति, जिसके अन्तर्गत २ का तृतीय वर्गित संवर्गित २५६<sup>२५६</sup> की विशाल राशि है, अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका के नाम से आधुनिक लघुगुणक (Logarithms) के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। लघुगुणक का वर्तमान में प्रचलित रूप **धवलाटीका** (८१६ ई०) में विद्यमान है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इनके आविष्कार का श्रेय John Napier (१६१४ ई०) एवं Burgi (१६०० ई०) को देते हैं जो सम्यक् नहीं है। प्रो० ए०एन० सिंह ने इसे पूर्णतः जैनियों का आविष्कार माना है।



(६) जैन आचार्यों ने विभिन्न गणितीय राशियों, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, शून्य, पत्य, सागर, लोक, जगश्रेणी, अंगुल, धनांगुल तथा गणितीय प्रक्रियाओं - योग अन्तर, गुणन, भाग, अर्द्धच्छेद, वर्गशलाका आदि को व्यक्त करने हेतु अनेक चिन्हों का प्रयोग किया है। कई राशियों हेतु समान चिन्ह को प्रयोग में लाने के किंचित दोष से युक्त होते हुए भी यह पद्धति मौलिक है। एक ही सन्दर्भ में भिन्न राशियों हेतु समान चिन्ह का प्रयोग न करके भिन्न सन्दर्भों में ऐसा किया है। भिन्न ग्रंथों में एक ही प्रक्रिया हेतु भी भिन्न-भिन्न संकेत मिलते हैं। फलतः इन संकेतों का अर्थ ग्रहण करना वर्तमान में दुरूह अवश्य है किन्तु जाटिल प्रक्रियाओं को इस माध्यम से अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त कर दिया गया है, जो उस समय गणितीय विकास का आधार बनी।

(७) पूर्णांक संख्याओं के समान ही भिन्नों के विकास में भी जैनाचार्यों का अतिविशिष्ट स्थान है। **सूर्यप्रज्ञप्ति** (५०० ई०पू०) में अनेक प्रकार की जटिल भिन्नों, उनके गुणन, भाग, व्युत्क्रम, विच्छेद आदि के उदाहरण मिलते हैं। उत्तरकालीन ग्रंथों में भी इनका व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। **अनुयोगद्वारसूत्र** (१५० ई०) एवं **तिलोयपण्णत्ती** में करणीगत राशि  $\sqrt{a}$  का मान  $a+2a$  प्रयोग किया गया है। श्रीधर कृत **त्रिंशतिका** के उपरान्त **धवला टीका** में वितत भिन्नों का सुन्दर निर्वचन अन्य उदाहरणों सहित उपलब्ध है<sup>२१</sup>। ये प्रकरण पश्चिम में भारत में विकसित होने के बाद प्रचलित हुए।

महावीराचार्य (८५० ई०) ने भिन्नों के योग हेतु लघुत्तम समापवर्त्य का नियम (निरुद्ध नाम से) तथा किसी भी भिन्न को इकाई अंश वाली भिन्नों अर्थात् एकांशक भिन्नों के पदों में व्यक्त करने के अनेक नियम प्रस्तुत किये हैं। ये दोनों महावीराचार्य के मौलिक योगदान हैं।

(८) महावीराचार्य (८५० ई०) ने सर्वप्रथम ऋणात्मक संख्याओं के प्रकृति में वर्गमूल न होने के कथन के माध्यम से प्राकृतिक संख्याओं में ऋणात्मक संख्याओं के वर्गमूल की उपस्थिति को नकारा। उनके इस प्रयास ने काल्पनिक संख्याओं के विकास का पथ प्रशस्त किया।<sup>२२</sup>

(९) क्रमचय एवं संचय का विषय जैन साहित्य में विशदता के साथ भंग एवं विकल्प शीर्षकों के अन्तर्गत प्राचीन काल से उपलब्ध है। यत्र-तत्र इसको प्रस्तार, परिवर्तन, अलाप की संज्ञा दी गई है। ईसा पूर्व के ग्रंथों **भगवतीसूत्र**, **स्थानांगसूत्र**, **अनुयोगद्वारसूत्र** (१५५ ई०पू० - १५० ई०) में  $n$  वस्तुओं में से १, २, ३..... वस्तुओं को प्राप्त करने के नियम दिये हैं।

२८ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

$${}^n c_1 = n, \quad {}^n c_2 = \frac{n(n-1)}{1.2}, \quad {}^n c_3 = \frac{n(n-1)(n-2)}{1.2.3}$$

$${}^n p_1 = n, \quad {}^n p_2 = n(n-1), \quad {}^n p_3 = n(n-1)(n-2)$$

उपरांत लिखा है कि इसी प्रकार ५, ६, ७..... १० संख्यात, असंख्यात के सन्दर्भ में इनका मान ज्ञात किया जा सकता है। **अनुयोगद्वारसूत्र** की मलधारी हेमचन्द्रसूरि कृत टीका से स्पष्ट है कि व्यापक सूत्र

$${}^n p_n = n!$$

का ज्ञान इसकी उपपत्ति सहित जैनाचार्यों को था। महावीराचार्य (८५० ई०) ने  $n$  वस्तुओं में से  $r$  के चयन का व्यापक सूत्र दिया है।<sup>२३</sup>

$$\begin{aligned} {}^n c_r &= \frac{n(n-1)(n-2)\dots\dots(n-r-1)}{1.2.3\dots\dots r} \\ &= \frac{n!}{r!(n-r)} \end{aligned}$$

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तक्रवर्ती कृत **गोम्पटसार** में भी भंग संज्ञा से इस विषय का सुन्दर एवं व्यावहारिक विवेचन मिलता है।

(१०) श्रेणियों के सन्दर्भ में जैनाचार्यों का योगदान अद्वितीय है। **तिलोयपण्णत्ती**, श्रीधराचार्य की **त्रिशंतििका**, महावीराचार्य कृत **गणितसारसंग्रह**, **त्रिलोकसार** आदि १०वीं श०ई० के पूर्व के ग्रंथों में एवं **ठक्कर फेरु** की **गणितसारकौमुदी** में श्रेणियों का व्यापक प्रयोग उत्कृष्टता के साथ उपलब्ध है। किन्तु इन सबमें महावीराचार्य एवं आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का योगदान सर्वोच्च है।

**तिलोयपण्णत्ती** में समान्तर एवं गुणोत्तर श्रेणी के  $n$  पदों का योगफल, प्रथम पद, सर्वन्तर आदि निकालने के १० सूत्रों का प्रयोग विविध प्रकरणों में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से मिलता है।

महावीराचार्य ने समानान्तर एवं गुणोत्तर श्रेणी के वर्तमान में प्रचलित नियमों को तो निर्दिष्ट किया ही है किन्तु रूपान्तरित समानान्तर एवं गुणोत्तर श्रेणियों तथा मिश्र श्रेणियों के उपचार की तकनीकों को विकसित कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है।

आपने किसी गुणोत्तर श्रेणी के प्रत्येक पद में एक निश्चित राशि जोड़ने से बनने वाली श्रेणी  $n$  प्राकृतिक संख्याओं, प्राकृतिक संख्याओं के वर्गों, प्राकृतिक संख्याओं के घनों, श्रेणी जिसका प्रत्येक पद प्राकृतिक संख्याओं का योग है, सतत् श्रेणियों

के  $n$  पदों का योग निकालने के नियम दिये जो समकालीन ही नहीं अपितु उत्तरकालीन साहित्य में भी अनेक शताब्दियों तक अनुपलब्ध रहे।

नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने १४ विशिष्ट अवरोही अनुक्रमों (Divergent Sequences) के सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किये हैं।

(११) बीजगणितीय समीकरणों के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन जैन ग्रन्थों स्थानांगसूत्र<sup>२५</sup> आदि में समीकरणों के प्रकार आदि का उल्लेख मिलता है, बीजीय राशियों से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध है। भास्कराचार्य के उल्लेखानुसार श्रीधर (७९९ ई०) के अनुपलब्ध ग्रन्थ बीजगणित में द्विघात समीकरण  $ax^2+bx+c=0$  को हल करने की आधुनिक रीति दी है -

**चतुराहत वर्गसमैरूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्।**

**अव्यक्त वर्गरूपैर्युक्तो पक्षो ततो मूलम्।।**

यदि समी०  $ax^2+bx=c$  है, तो

$$4a(ax^2+bx)+b^2=4ac+b^2$$

$$4a^2x^2+4abx=b^2+4ac-b^2$$

$$\pm (2ax+b)=\sqrt{b^2+4ac}$$

$$x=\frac{-b \pm \sqrt{b^2+4ac}}{2a}$$

महावीराचार्य ने तो एक घात, द्विघात, त्रिघात एवं बहुघात वाली एक अज्ञात राशि एवं अनेक अज्ञात राशि के समीकरणों युगपत् समीकरणों को हल करने की विधियाँ रोचक उदाहरणों सहित दी है।

ज्यामिति में बीज गणित का अनुप्रयोग जैनाचार्यों का वैशिष्ट्य है। स्वेच्छापूर्वक चयनित सार्थक जन्य बीज राशियों से किसी समकोण की रचना, एक निश्चित भुजा वाले विभिन्न समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित परिमाप अथवा क्षेत्रफल वाले अनेक समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित क्षेत्रफल अथवा अनुपात के आयत युगलों की रचना के नियम दिये हैं। वस्तुतः एक निश्चित कर्ण माना  $c$  वाले विभिन्न समकोण त्रिभुजों की शेष दो भुजाओं के मापों के समूहों को ज्ञात करने हेतु जो तथाकथित Fibonacci Sequence प्रचलित है, वह १२०२ ई० में Fibonacci द्वारा पुनः अविष्कृत होने से पूर्व ८५० ई० में महावीराचार्य द्वारा प्रतिपादित हो चुका था।<sup>२६</sup>

$$\frac{c \cdot [m^2 - n^2]}{m^2 + n^2}, \quad \frac{c \cdot [2mn]}{m^2 + n^2}, \quad c$$

(१२) त्रैराशिक, जिसे **पाटीगणित** में सर्वाधिक प्रमुखता प्राप्त है जैनाचार्यों में प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। श्रीधर के **पाटीगणितसार**, महावीराचार्य के **गणितसारसंग्रह**, वीरसेन की **धवला**, नेमिचन्द्र के **त्रिलोकसार** सहित अनेक जैन ग्रन्थों में त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक तथा मिश्रानुपात के अनेकों प्रयोग मिलते हैं। इन उदाहरणों में स्वभाविकता, सरसता एवं बोधगम्यता है एवं यही है इस क्षेत्र में जैनाचार्यों का वैशिष्ट्य।

(१३) लोक संरचना के विवेचन के सन्दर्भ में जैन वाङ्मय के करणानुयोग विभाग के ग्रन्थों में क्षेत्रगणित विषयक सामग्री विपुल परिमाण में उपलब्ध है। ज्योतिर्विज्ञान के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ **सूर्यप्रज्ञप्ति** में ८ विशिष्ट प्रकार की आकृतियों एवं **भगवतीसूत्र** तथा **अनुयोगद्वारसूत्र** में ५ विशेष प्रकार की ज्यामितीय आकृतियों की चर्चा है। **सूत्रकृतांग** में इस विषय को गणितसरोज की संज्ञा दी गई है। **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**, **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य**, **ज्योतिषकरण्डक**, **जीवाभिगमसूत्र**, **तिलोयपण्णत्ती**, **धवला**, **जंबूद्वीपपण्णतिसंग्रहो**, **त्रिलोकसार** आदि १०-११वीं शताब्दी ई० से पूर्व के ग्रन्थों में विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों के क्षेत्रफल, परिधि ज्ञात करने के अनेकों सूत्र उपलब्ध हैं। **धवला टीका** के एक अंग 'क्षेत्रप्रमाणानुगम' में भी महत्वपूर्ण ज्यामितीय विवेचनों का बाहुल्य है। इसमें किसी भी जटिल आकृति का क्षेत्रफल ज्ञात करने की विच्छेदन आदि ८ विधियाँ दी हैं। वृत्त विषयक ज्यामिति के विकास तो पूर्ण रूप से जैनाचार्यों की ही देन है।

जैन गणितज्ञों में शीर्षस्थ महावीराचार्य ने यवाकार, मुर्जाकार, पणवाकार, वज्राकार, एक निषेध क्षेत्र, तीन या चार संस्पर्शी वृत्तों से आबद्ध क्षेत्र का क्षेत्रफल ज्ञात करने के सूत्र सर्वप्रथम दिये। क्षेत्रमिति के महत्वपूर्ण आनुपातिक स्थिरांक, परिधि/व्यास जिसे वर्तमान में  $\pi$  की संज्ञा दी जाती है, का मान **सूर्यप्रज्ञप्ति**, **ज्योतिषकरण्डक**, **भगवतीसूत्र**, **तिलोयपण्णत्ती** एवं **गणितसारसंग्रह** में  $\sqrt{10}$ , **जीवाभिगम सूत्र** में  $\sqrt{10}$  तथा ३.१६ मिलता है। **धवला** में  $\pi$  का मान आश्चर्यजनक रूप से शुद्ध तथा सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में उपलब्ध मानों से भिन्न रूप में ३.५५/११३ मिलता है।

(१४) ठोस ज्यामिति के नियमों का लोक के स्वरूप के विवेचन हेतु ज्ञान जैनाचार्यों हेतु आवश्यक था। उन्होंने अधिकांश ज्यामितीय आकृतियों के २ रूपों प्रतर एवं घन की चर्चा की है। घन से आशय ठोस आकृति से है। **भगवतीसूत्र** एवं **अनुयोगद्वारसूत्र** में घनत्रयस्त्र, घन चतुरस्त्र, घनायत, घनवृत्त तथा घनपरमिण्डल क्रमशः प्रिज्म, घन, आयतफलकी, गोला एवं बेलन हेतु प्रयुक्त हुये

हैं। **तिलोद्यपण्णत्ती** में अनेक आकृतियों के आयतन एवं पृष्ठ क्षेत्रफल ज्ञात करने के सूत्र एवं उनके अनुप्रयोग मिलते हैं। **धवला** में घनाकार लोक के आयतन ज्ञात करने की प्रक्रिया में अद्वितीय एवं अन्यत्र अनुपलब्ध विधि का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।<sup>२६</sup> **गणितसंग्रह** में गोलीय खण्ड का पृष्ठ क्षेत्र ज्ञात करने का सूत्र पर्याप्त शुद्धता के साथ उपलब्ध है वस्तुतः इसका खात व्यवहार प्रकरण संपूर्णतः ठोस ज्यामिति का ही अध्याय है।

(१५) आधुनिक बीज गणित (Modern Algebra) के मूलाधार समुच्चय की अभिधारणा ही नहीं अपितु भेद-उपभेद, उदाहरण, उन पर संक्रियायें, **षट्खंडागम** की **धवला टीका** में राशि नाम से उपलब्ध है। राशि वहाँ समुच्चय का ही पर्याप्त है, एकैकी संगति (One One Mapping) सुक्रमबद्धी प्रमेय (Well Ordering Theorem) का वहाँ प्रयोग हुआ है। विश्व विख्यात जैन कर्मसिद्धान्त का आधुनिक निकाय सिद्धान्त से अद्वितीय साम्य है। वहाँ कर्मों के बंध, अस्त्रव, संवर, निर्जरा में जिन पद्धतियों का विवेचन है वे सब वर्तमान शताब्दी में विकसित निकाय सिद्धान्त के समकक्ष हैं।

यह प्रासंगिक ही होगा कि जैन गणित से सम्बद्ध समस्त ग्रन्थों एवं सन्दर्भों का अविलम्ब संकलन कर गणितज्ञों, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाविदों तथा जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों के एक दल द्वारा उनका विश्लेषण किया जाये जिससे विश्व क्षितिज पर जैन गणित को गौरवपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठित किया जा सके।

### सन्दर्भ :

१. **गोम्मतसार** (जीवकाण्ड), आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, टोडरमल की भाषा वचनिका सहित, जैन सिद्धांत प्रकाशनी संस्था-कोलकता, १११९ ई०, पूर्व पीठिका, पृ० ५८.
२. **गणितसारसंग्रह**, (हिन्दी संस्करण), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, में डॉ० हीरालाल जैन एवं आ०ने०उपाध्ये का ग्रंथमाला संपादकीय, १९६३ ई०, पृ० X.
३. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य समन्तभद्र.....२/४३ से २/४६.
४. **आवश्यक कथा**.....श्लोक १७४.
५. **गणिसारसंग्रह**, आचार्य महावीर (८५० ई०), अध्याय-१, श्लोक-१६ (१/१६).
६. **त्रिंशतिका**, आचार्य श्रीधर, पं० सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी १८९९ ई०.
7. D.E. Smith, *Ganita-Sāra-Saṅgraha of Mahāvīrācārya*, B.M. (Leipzig), 1908, P<sup>gs</sup> 106-110.

३२ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

८. गणितसारसंग्रह, १/१७-१९; आदिपुराण, पृ० १०५-१०९; शत्रुघ्नय कल्प ३/३३०; पुष्पदन्त कृत महापुराण ५/१८.
९. भगवतीसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; सूत्र - ९०.
१०. ठाणं (स्थानांग सूत्र), जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ, १९८० ई०, १०/१००, सूत्र ७४७, पृ० १२०.
११. अनुपम जैन, 'जैन आगमों में निहित गणितीय अध्ययन के विषय', तुलसी प्रज्ञा (लाडनूँ), वर्ष १३, (१९८७ ई०), पृ० ५७-६४.
12. B.B. Dutt, *The Jaina School of Mathematics*, B.C.M.S. (Calcutta), 21 (1929 A.D.), PP 115-145.
१३. अनुपम जैन, जैन गणितीय साहित्य, अर्हत् वचन (इन्दौर) १ (१), १९८८ ई०, ११९-४०.
१४. वही.
१५. अनुपम जैन, कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रन्थ, गणित भारती (दिल्ली), ४ (१, २), १९८१ ई०, पृ० ३५-३६.
१६. अनुपम जैन, प्राकृत भाषा में निबद्ध गणितीय ग्रन्थ, तुलसी प्रज्ञा (लाडनूँ), २६ (१०६), जुलाई-९९, पृ० ३५-४३.
१७. त्रिलोकसार, गाथा - १५.
१८. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-१५७.
१९. तिलोयपण्णत्ती, भारतवर्षीय दि० जैन महासभा, लखनऊ, १/३१०-३१२.
२०. धवला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, पु० ३.
२१. धवला, पु० ३, गाथा २३-३२.
२२. गणितसारसंग्रह, १/५२.
२३. वही, ६/२१७
२४. स्थानांगसूत्र, अध्याय-१०, सूत्र ७४७.
२५. वही, ७/१२२
२६. धवला, क्षेत्रप्रमाणानुगम, पु० ४.



# जैन-धर्म में प्रतिपादित षडावश्यक की समीक्षा और इसकी प्रासंगिकता

अनिल कुमार सोनकर\*

भारतीय आचारशास्त्र में सम्पूर्ण जीवन का आधार और लोक स्थिति का व्यवस्थापक नीति-शास्त्र साध्य के निर्देशन एवं नैतिक मान्यताओं की समीक्षा के रूप में दर्शन; आचरण के विश्लेषण के रूप में विज्ञान और चरित्र-निर्माण के रूप में कला है। इसमें उन नियमों का निरूपण हुआ है, जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक, आमुष्मिक एवं सनातन कल्याण होता है; समाज में स्थिरता और सन्तुलन स्थापित होता है तथा जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनों का ही हित होता है। 'स्वभाव दशा की उपलब्धि' को परमश्रेय के रूप में स्वीकार करने वाले जैनाचार-मीमांसा का भारतीय आध्यात्मिक साधना में अमिट स्थान है। भारतीय आचार की सभी धाराओं का परमश्रेय - 'समत्व' जैनाचार-मीमांसा के अन्तर्गत मानसिक क्षेत्र में 'अनासक्ति' या 'वीतरागता' के रूप में; सामाजिक क्षेत्र में 'अहिंसा' के रूप में; वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या 'अनेकान्त' रूप में और आर्थिक क्षेत्र में 'अपरिग्रह' रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार जैनाचार-मीमांसा में परमश्रेय के रूप में जो मोक्ष है, वही धर्म है और जो धर्म है, वही 'समत्व-प्राप्ति' है।

यदि सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार किया जाय कि वेद और उपनिषद् ही समस्त भारतीय आचार दर्शनों का उद्गम है तो किसी अर्थ में उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जन्सामान्य के कल्याण के लिये आचार-व्यवहार के सुव्यवस्थित नियमों का प्रतिपादन करने वाला जैनाचार व्यापक आदर्शों वाला वह वैज्ञानिक जीवन-पद्धति है जो मनुष्य की आचार-शुद्धि और साधना के द्वारा चरम उन्नति का समर्थ आश्वासन प्रतिपादित करते हुए मनुष्य को मनुष्यत्व से सम्पन्न करने की क्षमता रखता है साथ ही अन्यान्य परम्पराओं के विपरीत मुक्तिदाता के रूप में किसी एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न ईश्वर अथवा तीर्थंकर के अनस्तित्व का निर्देश करते हुए उस आस्था का विधायक है कि मनुष्य अपने प्रयासों एवं सद्कर्मों से जगत् में सर्वोच्च स्थिति (मुक्तावस्था) को प्राप्त कर सकता है। मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् हेतु तथा पारलौकिक

\* आइ०सी०पी०आर० फेलो, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, का०हि०वि०वि०,  
वाराणसी।

मूल्यों की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु जैनाचार मात्र वैयक्तिक मुक्ति का उपाख्यान नहीं करता, अपितु उसे समष्टिगत कल्याण के रूप में देखता है। उसकी यही दृष्टि मनुष्य में आत्मगौरव, आत्मविश्वास और आत्मशक्ति को उदित करने में सफल रहती है। पुनश्च, समस्त प्राणियों की अभिलाषा है - सुख-प्राप्ति। लेकिन इस सुख की प्राप्ति कैसे हो? इसके सम्बन्ध में समस्त प्राणी अनभिज्ञ होते हैं। यह कोई बाह्य वस्तु या फल नहीं जिसको किसी भी समय प्राप्त किया जा सके। सुख-दुःख तो आत्मा के अन्दर छिपे हुए हैं और उसकी प्राप्ति के लिए कुछ क्रियाओं का सम्पादन अनिवार्य है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, ठीक उसी प्रकार अध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया या साधना जरूरी है, उसे ही आगम में 'षट्कर्म' के रूप में निरूपित किया गया है।

उक्त विशेषताओं से परिपूर्ण अनन्त चतुष्टय सम्पन्न तीर्थकरों के साक्षात् उपदेश पर आधारित ध्यानमार्गी जैनाचार-मीमांसा का मूलप्राण षडावश्यक जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन के उस जीवन्त स्वरूप को स्वयं में समाविष्ट किये हुए है जिसके परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखता-परखता है साथ ही आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का वह श्रेष्ठतम उपाय है जिसकी साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करता है, कर्म मल को नष्टकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण से आध्यात्मिक आलोक को प्राप्त करता है। जिस प्रकार 'आत्मशोधन' के लिए वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या', बौद्ध परम्परा में 'उपासना', पारसियों में 'खोर देह अवेस्ता', यहूदी और ईसाईयों में 'प्रार्थना' तथा इस्लाम धर्म में 'नमाज' प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार जैन-साधना पद्धति में 'आध्यात्मिक शुद्धि' अथवा दोषों के निराकरण हेतु एवं गुणों की अभिवृद्धि के लिए षडावश्यक का प्रतिपादन किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :-

सामायिक जैनाचार दर्शन में श्रमण के लिए पाँच चारित्रों में प्रथम चारित्र, तो गृहस्थ साधकों के चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत-सामायिक नैतिक साधना का अथ और इति दोनों हैं। सामायिक को धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। समत्व-साधना में साधक जहाँ बाह्य रूप में सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग करता है<sup>१</sup>, वहीं आन्तरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि में समभाव रखता है।<sup>२</sup> लेकिन इन दोनों से भी ऊपर वह अपने विशुद्ध रूप में आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न है। 'सम' शब्दका अर्थ है श्रेष्ठ और 'अयन' का अर्थ है आचरण। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। मन, वचन और काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषम भाव उत्पन्न-



होते हैं। उन विषमताओं से अपने आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है। समता को ही गीता में योग कहा गया है, जबकि आचार्य हरिभद्र लिखते हैं - “सामायिक की विशुद्धि साधना से जीव घाती कर्मों को नष्टकर केवल ज्ञान को प्राप्त करता है।”<sup>३</sup>

सामायिक के मुख्य भेद हैं - द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक। सामायिक ग्रहण करने के पूर्व जो विधि-विधान सम्पन्न होते हैं, वह द्रव्य सामायिक है और साधक जब आत्म-भाव में स्थिर रहता है, तो वह भाव-सामायिक कहलाता है। सामायिक में द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता होती है। सच्ची सामायिक साधना भी वही है जिसमें द्रव्य और भाव दोनों का समावेश हो। आचार्य भद्रबाहु ने भी सामायिक के तीन भेद बताए हैं - सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक और चारित्रसामायिक। सामायिक की साधना के लिए सम्यक्त्व आवश्यक है। बिना सम्यक्त्व के श्रुत और चारित्र दोनों निर्मल नहीं होते हैं। सर्वप्रथम दृढ़ निष्ठा से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अंधविश्वास नहीं होता। वहाँ भेदविज्ञान होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है, तब चारित्र शुद्ध होता है।

यद्यपि सामायिक जैन साधना की विशुद्ध साधना-पद्धति है, तथापि इस साधना पद्धति की तुलना आंशिक रूप से अन्य धर्मों का साधना-पद्धति से की जा सकती है, यथा-बौद्ध और वैदिक परम्परा श्रमण संस्कृति की एक धारा है। इस परम्परा में प्रतिपादित अष्टांगिक मार्ग में सभी के प्रारम्भ में जिस ‘सम्यक्’ शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा-सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि। बौद्ध साहित्य के मनीषियों के अनुसार, वह ‘सम’ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि पालि भाषा में जो सम्मा शब्द है, उसके सम और सम्यक् दोनों रूप बनते हैं। यहाँ पर प्रयुक्त सम्यक् शब्द का अर्थ है - राग-द्वेष की वृत्तियों को न्यून करना। जब राग-द्वेष की मात्रा कम होती है, तभी साधक समत्वयोग की ओर अग्रसर होता है और राग-द्वेष से मुक्त होने के पश्चात् ही चित्तवृत्तियाँ समाधि के सन्दर्शन में समर्थ होती हैं। **संयुक्त निकाय** में तथागत बुद्ध कहते हैं - जिन व्यक्तियों ने धर्मों को वास्तविक रूप में जान लिया है, जो किसी मत, वाद या पक्ष में उलझे नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, समद्रष्टा हैं और विषम परिस्थितियों में भी उनका आचरण सम रहता है।<sup>४</sup> **सुत्तनिपात** में कहा गया है - जिस प्रकार मैं हूँ, वैसे ही संसार के सभी प्राणी हैं। अतः संसार के प्राणियों को अपने सदृश समझकर आचरण करना चाहिए।<sup>५</sup>

**श्रीमद्भगवद्गीता** वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें स्पष्ट रूप से निरूपित है कि कर्म, भक्ति तथा ध्यान आदि का उद्देश्य समत्व है। बिना

समत्व के ज्ञान, अज्ञान है। जिसमें समत्वभाव है वही वस्तुतः यथार्थ ज्ञानी है। समता की उपस्थिति में ही कर्म अकर्म बनता है, जबकि समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व यथावत रहता है। समत्व से सम्पन्न साधक ही सच्चा साधक है। समत्व में वह अपूर्व शक्ति है जिसमें अज्ञान ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और वह ज्ञान योग के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गीताकार की दृष्टि से स्वयं परमात्मा/ब्रह्म सम है।<sup>६</sup> तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सम में अवस्थित रहता है, वह **परमात्म भाव** में ही अवस्थित है। समत्व को और अधिक स्पष्ट करने हेतु आचार्य शंकर लिखते हैं - समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है। जिस प्रकार सुख मुझे प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही विश्व के सभी प्राणियों को सुख प्रिय/अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल/अप्रिय है। इस प्रकार जो विश्वके प्राणियों में अपने ही सदृश सुख और दुःख को अनुकूल और प्रतिकूल रूप में देखता है, वह किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता। वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।<sup>७</sup> इस प्रकार बौद्ध परम्परा अथवा वैदिक परम्परा में जिस रूप में भी सामायिक का निरूपण हुआ है, उसका मूलभाव समभाव है। समत्वयोगी साधक वैचारिक दृष्टि से समदर्शी होता है और भोगासक्ति के प्रति अनाकर्षण का भाव रखता है। उसके आचार निर्मल और विचार उदात्त होते हैं। वह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करता है।

द्वितीय आवश्यक **चतुर्विंशतिस्तव** है। इसमें साधक सावध योग से निवृत्त होकर अवलम्बन स्वरूप चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करता है। जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्ति मार्ग की जपसाधना या नामस्मरण से मिलता है। इसके माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सदगुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। जैन विचरणानुसार साधना के आदर्श तीर्थकर या सिद्धपुरुष किसी उपलब्धि की अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं, प्रत्युत वे मात्र साधना के आदर्श या आलोक स्तम्भ हैं, जिसका अनुसरण कर साधक आत्मोत्कर्ष तक पहुँच सकता है। जैन एवं बौद्ध दोनों ही स्वीकार करते हैं - व्यक्ति स्वयं ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। यदि साधक स्वयं पाप से मुक्ति का प्रयास नहीं करता और केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करता है तो जैन विचरणानुसार यह सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थनाएँ मानव को दीन-हीन और परापेक्षी बनाती हैं। जो साधक स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, उसे केवल तीर्थकरों की स्तुति मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे मुक्ति की ओर ले जा सकता है। चूकिं चतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है; श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परीषहों को सहन करने की शक्ति विकसित होती है एवं तीर्थकर/ईश्वर बनने की प्रेरणा मन में उत्पन्न होती है। अतः भक्ति का लक्ष्य अपने आप का साक्षात्कार है, अपने में रही शक्ति की अभिव्यक्ति है। साधक

के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा या भावना होगी उसी के अनुरूप उसका जीवन बनेगा। इसी के निमित्त जैन साधना में तीर्थकरों की स्तुति का विधान अभिहित है और एतदर्थ षट्कर्म के अन्तर्गत चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

साधना के आदर्श रूप में तीर्थकरों की उपासना के पश्चात् तृतीय आवश्यक के रूप में साधना मार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु की विनय का विधान जैन-धर्म में अभिहित है। मन, वचन और काय का वह प्रशस्त व्यापार जिसमें पथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है, वंदन है। इसमें उन्हीं व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है जो साधना-पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए हैं। जैन विचारणानुसार जो साधक चारित्र एवं सद्गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वंदनीय हैं। आचार्य भद्रबाहु ने **आवश्यक नियुक्ति** में सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है - ऐसे गुणहीन व्यक्तियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुणों से रहित व्यक्ति अवन्दनीय होते हैं। अवन्दनीय व्यक्तियों को नमस्कार करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती न ही कीर्ति में वृद्धि होती है। असंयम और दुराचार से अनुमोदित होने पर नये कर्म बंधते हैं। अतः उनको वन्दन अनुचित है। एक अवन्दनीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणों का आगार है, यदि वह सद्गुणी व्यक्तियों से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है। असंयम की वृद्धि कर अपना ही पतन करता है।<sup>५</sup> पुनश्च, जैनधर्म की दृष्टि से साधक में द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र दोनों ही आवश्यक है। गुरु को ऐसा होना चाहिए कि जिसका द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हो; व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो, वही सद्गुरु वन्दनीय और अभिनन्दनीय है। साधक को ऐसे ही सद्गुरु से पवित्र प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। वन्दन में ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विधान है। वंदन के फलस्वरूप गुरुजनों से सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम-अनाम्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि होती है। वंदन यथार्थ रूप में सम्पन्न हो, इसके लिए आवश्यक है कि वंदन के समय साधक के अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की स्वार्थ भावन/आकांक्षा/भय अथवा अन्य किसी प्रकार के अनादर की भावना विद्यमान नहीं रहनी चाहिए। जिनको वन्दन किया जाय उनको समुचित सम्मान प्रदान करें। उस समय साधक, मन, वचन और काय में एकाकारता होनी चाहिए जब वह वन्दनीय के चरणों में नतमस्तक हो।

तथागत बुद्ध ने **धम्मपद** में कहा है - सरल मानस वाले महात्माओं को नमन करना चाहिए। सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं - आयु, सौन्दर्य, सुख और बला।<sup>६</sup> **श्रीमद्भगवद्गीता** में भगवान् श्रीकृष्ण ने “माँ नमस्कुरु” कहकर वंदन के लिए भक्तों को उत्प्रेरित किया है।<sup>७</sup>

प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- पुनः लौटना। जब साधक अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर मर्यादाविहीन अवस्था में अथवा स्वभाव दशा में पदच्युत होकर विभाव-दशा में प्रवेश कर जाता है, तब उसका पुनः स्वभावरूपी सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काय (योग) से सम्पन्न हुए हों, दूसरे से करवाये गये हों और दूसरे के द्वारा किये गये पापों को अनुमोदित किया गया हो, की निवृत्ति हेतु किये गये समस्त पापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र **योगशास्त्र** में कहते हैं - “शुभयोगों में से अशुभ योगों में गये हुए अपने-आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।”<sup>११</sup> साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाद और अशुभ-योग, ये पाँच भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के समय में अपने जीवन का गहराई से आत्मनिरीक्षण करता है, उस समय वह इस बात पर गहराई से चिन्तन करता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के पथ से विचलित होकर मिथ्यात्व में तो नहीं उलझा है। तत्पश्चात् साधक निश्चय करता है - यदि मैं मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में प्रवृत्त हुआ हूँ, तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग में प्रत्यागमन होना चाहिए। इसी दृष्टि से प्रतिक्रमण सम्पन्न होता है। आचार्य भद्रबाहु **आवश्यक निर्युक्ति** में कहते हैं कि प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की परिशुद्धि नहीं करता, प्रत्युत वह वर्तमान तथा भविष्य के दोषों की भी परिशुद्धि करता है। अतीत काल में लगे दोषों की परिशुद्धि आलोचना प्रतिक्रमण में सम्पन्न हो जाती है। वर्तमान में साधक संवर-साधना में प्रवृत्त रहता है, जिससे वह पापों से निवृत्त हो जाता है साथ ही वह प्रतिक्रमण में प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, परिणामस्वरूप भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करुंगा, इस प्रकार का वह संकल्प करता है।<sup>१२</sup>

जैन धर्म में व्यवस्थित रूप से निशांत और दिवशान्त में जिस प्रकार साधकों के लिए प्रतिक्रमण का विधान अभिहित है, उसी प्रकार पाप मुक्ति हेतु विधान का निरूपण अन्यान्य परम्पराओं में हुआ है। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर पाप-देशना, प्रवारणा और प्रतिकर्म प्रभृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदान में तथागत बुद्ध ने कहा है - जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिए पाप देशना आवश्यक है। पापाचरण की आलोचना से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।<sup>१३</sup> **कृष्ण यजुर्वेद** में कहा गया है - मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो, मैं उसका विसर्जन करता हूँ।<sup>१४</sup> पारसी धर्म में कहा गया है - “मेरे मन में जो बुरे विचार समुत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग हुआ हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, मैं उसके लिए पश्चाताप करता हूँ।”<sup>१५</sup> वैदिक परम्परा में संध्या के द्वारा आचरित पापों के क्षय हेतु प्रभु से प्रार्थना की गई है जबकि ईसाई धर्म के प्रणेता प्रभु यीशु ने भी

पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिक्रमण जीवन-शुद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है तथा सभी आध्यात्मिक परम्पराओं में किसी न किसी रूप में इसका निरूपण हुआ है।

यहाँ पर एक स्वभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि प्रतिक्रमण की साधना में भूमिका क्या है? इस जिज्ञासा-निवृत्ति के समर्थन में कहा जा सकता है - साधक साधना करते समय कषायों के वशीभूत होकर साधनाच्युत हो जाता है। कषायों के वशीभूत साधक अपने स्वरूप का परित्याग कर, पर-स्वरूप को ग्रहण करता है। कषायों के निमित्त परस्वरूप का ग्रहण ही विषमता को जन्म देता है। परिणामस्वरूप साधक अपने आध्यात्मिक आदर्श को भूल जाता है। कषायों के निमित्त उत्पन्न होने वाले दोषों के निवारणार्थ प्रतिक्रमण आवश्यक की प्रस्थापना हुई। इसमें साधक अपनी भूलों को सुधारकर अपनी वास्तविक स्थिति का परिज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब साधक अपने द्वारा कृत्य दोषों का गहराई से अन्तनिरीक्षण करता है तभी उसे अपनी वास्तविकता अर्थात् भूल का परिज्ञान होता है। परिणामस्वरूप अपने दोषों का निराकरण कर साधक साधना के मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ता जाता है।

षडावश्यक में प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है - शरीर का उत्सर्ग करना। यहाँ शरीर - त्याग का अर्थ है - शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उन दोषों को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है, जो प्रतिक्रमण में शेष रह जाते हैं। इसमें साधक बहिर्मुखी स्थिति से निकलकर अन्तर्मुखी स्थिति में पहुँचता है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है, जिससे साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में एकाग्रता प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कायोत्सर्ग को प्रतिक्रमण के पश्चात् रखा गया है इसका प्रधान उद्देश्य है - आत्मा का सन्निध्य प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक संतुलन बनाए रखना। मानसिक संतुलन बनाए रखने से बुद्धि निर्मल और शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि मन, शरीर और मस्तिष्क का गहरा सम्बन्ध है। जब तीनों में सामन्जस्य नहीं होता है तभी तनाव व्युत्पन्न होता है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार वही कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है, जिसमें देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर भी साधक उन्हें समभावपूर्वक सहन करे।<sup>१६</sup> आचार्य जिनदास गणि महत्तर ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताए हैं - द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। द्रव्य कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शरीर का निरोध किया जाता है। शारीरिक चंचलता तथा ममता का परित्याग कर जिन-मुद्रा में स्थित कायचेष्टा का निरन्धन करना, काय-कायोत्सर्ग है। तत्पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और संकल्प से बांधता है, जिससे उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता।

वह काया में रहकर भी काया से अलग-थलग आत्मभाव में रहता है। यही भाव कायोत्सर्ग का भाव है। इस प्रकार का कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने वाला है।<sup>१७</sup> कायोत्सर्ग को अनेक प्रयोजन से सम्पन्न किया जाता है, जिसमें क्रोध, मन, माया और लोभ का उपशमन इसका मुख्य प्रयोजन है। अमंगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिए भी कायोत्सर्ग का विधान है। जैन साधना में इसे स्वतंत्र स्थान दिया गया है जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः और सन्ध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिए - यह शरीर पृथक है और मैं पृथक हूँ। मैं अजर, अमर और अविनाशी हूँ।

अन्तिम आवश्यक प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है - त्याग करना। अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है। यदि और स्पष्ट शब्दों में निरूपण करें तो - मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार, प्रत्याख्यान से संयम होता है। संयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है। तृष्णा के अन्त से उत्तम उपशम भाव समुत्पन्न होता है जिससे प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है। उपशम भाव की विशुद्धि से ही चारित्र धर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निजीर्ण होता है, जिससे केवल ज्ञान और केवल दर्शन का दिव्य लोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है।<sup>१८</sup> यद्यपि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है, तथापि अन्तर्मानस में आसक्ति के प्रवेश का भय बना रहता है। एतदर्थ षडावश्यक में प्रत्याख्यान का विधान अभिहित है। इससे साधक शुभयोग में प्रवृत्त होता है और सदगुणों को प्राप्त करना है। इस प्रकार प्रत्याख्यान में साधक मन, वचन और काय की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। आश्रव का पूर्णरूपेण निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है, जिससे उसे शान्ति प्राप्त होती है। इसमें साधक जिन पदार्थों को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थों को भी ग्रहण करते समय आसक्ति नहीं होता। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है।

जैन-धर्म में प्रतिपाद्य षडावश्यक के प्रासंगिकत्व को सुस्पष्ट करने के पूर्व उन पक्षों पर दृष्टिपात् करना अनुचित नहीं होगा, जिसके द्वारा मानव मूल स्वभाव से च्युत होता है। सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार समत्व-साधना है। समत्व हेतु प्रयास ही जीवन का सारतत्व है। सतत् शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतना बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणामस्वरूप बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से प्रभावित होकर अपने सहज स्वभाव 'समत्व' का परित्याग कर देता है और संसार के प्रति ममत्व-भाव को पुष्ट करने

की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। प्रपंचात्मक जगत् के पदार्थों की उपलब्धि-अनुपलब्धि से स्वयं को सुखी-दुःखी समझता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव समुत्पन्न होता है। वह उस 'पर' के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है और परिणामस्वरूप वह वेदना, बंधन या दुःख को प्राप्त करता है। यह राग न केवल उसे समत्व के स्वकेन्द्र से पदच्युत करता है, प्रत्युत उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में लाकर उसमें एक तनाव व्युत्पन्न कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप चेतना दो केन्द्रों में बंट जाती है और दोनों ही स्तरों पर चेतना में दोहरा संघर्ष उत्पन्न होता है - प्रथम, चेतना के आदर्शात्मक और वासनात्मक पक्षों में तथा द्वितीय बाह्य परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके प्रति वह आसक्ति रखता है, वही उसके लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न 'पर' बन जाता है। आत्मा का समत्व केन्द्र से विलगाव ही 'स्व' तथा 'पर' के आविर्भाव का कारण है। नैतिक चिंतन में इन्हें 'राग' तथा 'द्वेष' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें 'राग' आकर्षण का सिद्धान्त है, जबकि 'द्वेष' विकर्षण का। इन्हीं के कारण चेतना में सदैव तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व चलता रहता है। यद्यपि चेतना अपनी स्वभाविक शक्ति द्वारा सदैव ही साम्यावस्था के लिए प्रयासरत रहती है। लेकिन राग और द्वेष किसी भी स्थायी संतुलन को सम्भव नहीं होने देते। यही चेतना जब राग-द्वेष से युक्त हो जाती है, तो विभावदशा/विषमता को प्राप्त होती है। चित्त की विषमावस्था ही समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरण की जन्मभूमि है। राग-द्वेष से परिवार, समाज, देश व विश्व का अहित होता है। यही कारण है कि भारतीय नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक् जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गयी है।

नैतिक जीवन का लक्ष्य सदैव ही उस जीवन-प्रणाली को प्रतिष्ठित करना रहा है जिसके द्वारा एक ऐसे मानव-समाज की संरचना हो सके, जो इन संघर्षों - आंतरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आंतरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष तथा बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष से मुक्त हो। यद्यपि ये संघर्ष मानव द्वारा प्रसूत नहीं होते, तथापि उसे प्रभावित करते हैं। जीवन का आदर्श 'समत्व' जीवन के अंदर है। उसे बाहर खोजना प्रवंचना है। यदि जीवन में स्वयं संतुलन बनाए रखने की प्रवृत्ति विद्यमान है, तो यह स्वीकार करना होगा कि जीवन का आदर्श समत्व है जिसकी उपलब्धि मानव स्वयं के प्रयासों से कर सकता है। समत्व-प्राप्ति मानव का स्वभाव है और जो स्वभाव है, वही आदर्श है, साध्य है, साथ ही आदर्श-प्राप्ति/राग-द्वेष द्वारा व्युत्पन्न समस्त संघर्षों की समाप्ति जिस आचरण द्वारा हो, वही नैतिक आचरण है। वही नैतिक आचरण अनुकरणीय है।

विभावास्था से स्वभावास्था की ओर प्रवृत्त होना साधना है अर्थात् बाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि में प्रतिष्ठित होना साधना है। साधना में साध्य और साधक का स्थान सर्वोपरि है। आत्मा की अपूर्णावस्था ही साधकावस्था है, जबकि उसकी पूर्णावस्था साध्य है। मानव की मूलभूत क्षमताएँ साध्य और साधक दोनों ही अवस्थाओं में सम रहती हैं। अन्तर इनमें क्षमताओं का नहीं, प्रत्युत क्षमताओं को योग्यताओं में परिणत कर देने का है। यहाँ पर स्वभाविक जिज्ञासा समुत्पन्न होती है कि षडावश्यक के रूप में प्रतिपाद्य आचरण का नैतिक साधना में क्या महत्त्व है? इसके आचार-पालन से मानव साधक से साध्य में परिणत होकर क्या समस्त विषमताओं से निवृत्ति पा सकता है? इसके लिए अति उत्तम होगा कि पूर्वविवेचित षडावश्यकों पर पुनः दृष्टिपात करें। जैन-धर्म में षडावश्यक के अन्तर्गत सर्वप्रथम सामायिक का प्रतिपादन किया गया, उद्देश्य था समता की प्राप्ति। समता से तात्पर्य है - मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन, सुख-दुःख में निश्चल रहना और समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषमभाव का आविर्भाव होता है। उन विषमताओं से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है। समता में साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित कर अपनी स्वाभाविक शक्ति को प्रकट करता है। इनकी अनुपस्थिति में ही द्वन्द्व और तनाव के वातावरण का सृजन होता है, परिणामतः प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, युग में हिंसा आदि तत्वों का उदय होता है। इनकी निवृत्ति हेतु ही अहिंसा एवं समता प्रभृति सदगुणों से युक्त श्रेष्ठ आचरण अर्थात् सामायिक-साधना सम्पन्न की जाती है। सामायिक-साधना व्यक्ति, जाति, अथवा समाज विशेष तक सीमित नहीं है, प्रत्युत सभी के लिए है। इसके आचरण से जीवन के विविध पक्षों में समन्वय स्थापित होता है, जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष समाप्त होता है, प्रत्युत सामायिक जीवन के संघर्ष भी नष्ट हो जाते हैं।

समत्वयोगी साधक भी वैचारिक जगत् के संघर्ष के प्रति उदासीन होता है और उसमें उसकी भोगासक्ति नहीं होती है। वह तो उदात्त भाव का पोषक है, जो 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। समत्व को जीवन में उतारने के पश्चात् व्यक्ति चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्तन करता है और उसको जीवन में धारण करता है। इससे व्यक्ति के हृदय में आध्यात्मिक ऊर्जा का संचार होता है। उसके सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति होती है, जिससे उसके समस्त अवगुणों का क्षय होता है, परिणामतः वह स्वयं में निहित शक्ति का साक्षात्कार करता है। ध्यात्व है कि ये तीर्थंकर कोई मुक्तिदाता नहीं हैं, प्रत्युत वे आदर्श मात्र हैं। इस आदर्श की छत्र-छाया में साधक को अपने में निहित शक्ति की सम्प्राप्ति हेतु स्वयं पुरुषार्थ करना आवश्यक है। इससे ही साधक की श्रद्धा परिमार्जित होती



है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है और कष्टों को समान भाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है साथ ही जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने की प्रेरणा मन में उद्बद्ध होती है। तत्पश्चात् वंदन का विधान है। इसमें साधक मन, वचन और शरीर से सदगुण सम्पन्न गुरु का स्तवन तथा अभिवादन करता है। वंदन से साधक का अहंकार विनष्ट होता है, जिससे उसे विनय की उपलब्धि होती है। विनय से ही व्यक्ति का हृदय सरल बनता है और सरल हृदय वाला व्यक्ति ही स्वयं द्वारा कृत दोषों की आलोचना कर सकता है। सरल हृदय में ही समत्व-साधना सम्पन्न हो सकती है। इसी के निमित्त वंदन के पश्चात् जैन धर्म में प्रतिक्रमण का निरूपण हुआ है। यह जीवन को सुधारने का श्रेष्ठतम उपाय है। मानव की यह स्वभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने सदगुणों का तो सदा स्मरण रखता है, किन्तु दुर्गुणों को भूल जाता है। लेकिन जब साधक अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में असंख्य दुर्गुण दिखायी देते हैं। इससे निवृत्ति हेतु आत्मदोषों की आलोचना आवश्यक है। आलोचना से पश्चाताप की भावना का उदय होता है। इसमें दोष विनष्ट हो जाते हैं। चतुर्विंशतिस्तव, वंदन तथा प्रतिक्रमण से साधक जीवन संयम की ओर प्रशस्त होता है। संयमी जीवन को और अधिक परिष्कृत करने हेतु षडावश्यक के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का विधान अभिहित हुआ। कायोत्सर्ग का प्रधान उद्देश्य है - आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और उसका सहज गुण है मानसिक संतुलन बनाए रखना। मानसिक संतुलन में बुद्धि निर्मल होती है। शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्ति और मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन एवं अमंगल विघ्न और बाधा का परिहार होता है। चूँकि अस्थिर चित्त में आसक्ति और तृष्णा के प्रवेश की सम्भावना सदैव ही वर्तमान रहती है जिससे शान्ति स्थापना में विघ्न उत्पन्न होता है और समत्व के भंग होने की सम्भावना रहती है। एतदर्थ तन और मन की स्थिरता सम्पन्न हो जाने के पश्चात् जैन-धर्म में षडावश्यक के अन्तर्गत प्रत्याख्यान का विधान अभिहित हुआ। इसमें मानव-प्रवृत्ति को अशुभ योगों से विस्थापित कर शुभ योगों में केन्द्रित किया जाता है। प्रवृत्ति को शुभयोग में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरुन्धन हो जाता है, तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं जिससे साधक को शान्ति उपलब्धि होती है। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन में अनासक्ति की विशेष जागृति होती है। इसमें वह जिन पदार्थों को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थों को भी ग्रहण करते समय आसक्त नहीं होता। अर्थात् उसके अन्तर्मानस में समस्त भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति का भाव समुत्पन्न होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन-धर्म में प्रतिपाद्य षडावश्यक का मानव जीवन में प्रभूत महत्व है। इसमें मानव के ऐहिक मूल्यांश-एकता, अहिंसा, समभाव, नम्रता,

संयम, शान्ति प्रभृति सदगुणों का निरूपण हुआ है, जिसका अनुगमन कर मानव अपने समस्त द्वन्द्वों, विषमताओं, हिंसाओं, तनाओं से निवृत्ति पा सकता है और अपने जीवन में सुख, शान्ति, स्थिरतादि को प्रतिष्ठित कर सकता है। साथ ही साथ परिवार, समाज तथा राष्ट्र में राग-द्वेष द्वारा समुत्पन्न स्वार्थपरता, विषमता, संघर्ष, हिंसा, तनावानुत्पत्तियों को विनष्ट कर एकता, समता, अहिंसा, प्रभृति सदगुणों को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इन जीवन मूल्यों को अपनाकर परिवार, समाज व राष्ट्र सुन्दर, स्वस्थ, समृद्ध एवं आदर्श स्वरूप को प्राप्त हो सकता है। षडावश्यक में ऐहिक मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों की भी स्थापना हुई है। इस पर गमन करते हुए साधक स्वयं पुरुषार्थ सम्पन्न करता है, जिससे वह अपनी स्वाभाविक शक्ति को प्राप्त करता है। अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा वह साध्यावस्था को प्राप्त होता है। साध्यावस्था में वह समस्त द्वन्द्वों, तनावों, संघर्षों, विषमताओं, दुर्गुणों आदि से परे हो जाता है। फलतः समत्व रूपी आदर्श उसके अन्तर्मानस में देदीप्यमान हो जाता है। इस अवस्था में साधक के हृदय में समभाव, अहिंसा, सत्य, विनय, निष्काम प्रभृति सदगुणों की सरस सरिता का प्रवाहन होता रहता है। समत्व द्रष्टा सभी प्राणियों को स्वयं में तथा स्वयं को सभी में देखता है। उसकी जीवन दृष्टि 'जीओ और जीने दो' की होती है और वह उसी का पालन करता है। उक्त विवेचन से निष्कर्ष निसृत होता है कि जैन-धर्म में प्रतिपादित षडावश्यक पूर्णतः प्रासंगिक है।

ध्यातव्य है कि अब तक षडावश्यक के अन्तर्गत उन पक्षों की विवेचना हुई, जिसमें प्राणी अपने स्व-स्वरूप का परित्यागकर पर-स्वरूप का ग्रहण करता है। तत्पश्चात् स्व से पर की ओर च्युत होने के मूल कारण (राग-द्वेष) की खोजकर उसके निरुन्धन के मार्ग को स्पष्ट करते हुए विभावावस्था से स्व-स्वभावावस्था की ओर प्रतिगमन की अवस्थाओं का निरूपण हुआ। अब वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भी षडावश्यक की उपादेयता एवं भूमिका की विवेचना आवश्यक हो जाती है। वर्तमान में मानव भौतिकता की आंधी में बहिर्मुखी बनकर उन जीवन-मूल्यों का परित्याग कर रहा है जिससे वह सुख, समृद्धि, शान्ति, विनयशीलता, एकता, समता, संयम प्रभृति सदगुणों को प्राप्त करता है। मानव बहिर्मुखी बनकर विषमता, हिंसा, संघर्ष, स्वार्थपरता, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार इत्यादि को अपना रहा है जिससे वह स्वयं अशान्त व व्यथित है। परिवार, समाज व राष्ट्र परेशान है, चिंतित है। यह प्रगति नहीं है, प्रत्युत प्रगति के नाम पर विकसित होने वाला भ्रम है। आज आवश्यकता है, जो अतिक्रमण हुआ है उससे पुनः वापस लौटने की। उन जीवन मूल्यों के पुनर्स्थापना की जिसके अतिक्रमण से वर्तमान परिस्थिति उत्पन्न हुई है। ध्यातव्य हो कि समस्त परिस्थितियों का मूल उत्स राग-द्वेष है। राग-द्वेष के निमित्त ही प्राणी अपनी स्वाभाविक

प्रवृत्ति का परित्यागकर भौतिक पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे वह उक्त परिस्थितियों को प्राप्त होता है। उक्त परिस्थितियों के परिहार के लिए आवश्यक है कि राग-द्वेष का निरुन्धन केवल 'समत्व-प्राप्ति' की अवस्था में सम्भव है, जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व में सम्पन्न हो चुका है। यदि पूर्व विवेचित समस्त तथ्यों का पुनः अवलोकन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म में प्रतिपादित षडावश्यक सभी परिस्थितियों में, सभी कालों में पूर्णतः प्रासंगिक है।

### सन्दर्भ :

१. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ० ३९३, (नियमसार, १२५ से उद्धृत)।
२. उत्तराध्ययन, १९/९०-९१.
३. हरिभद्र, अष्टक-प्रकरण, ३०-१.
४. संयुक्तनिकाय, १/१/८.
५. सुत्तनिपात, ३/३७/७.
६. सुत्तनिपात, ३/३७/७.
७. गीता, शांकरभाष्य, ६/६२.
८. आवश्यकनिर्युक्ति, ११०९.
९. धम्मपद, १०९.
१०. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/६५.
११. योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वपज्ञोवृत्ति.
१२. आवश्यकनिर्युक्ति, आचार्य भद्रबाहु.
१३. उदान ५/५, अनुवादक, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधिसभा, सारनाथ.
१४. कृष्णयजुर्वेद - 'दर्शन और चिन्तन' : भाग २, पृ० १९२ से उद्धृत.
१५. खोरदेह अवेस्ता, ५/२३-२४.
१६. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४९.
१७. काउस्सर्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं। उत्तराध्ययन २६-४२.
१८. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५९४-९६.



## पाश्वाभ्युदय काव्य में अभिव्यंजित मेघदूत काव्य

डॉ० मधु अग्रवाल\*

संस्कृत वाङ्मय की गीति काव्य शृंखला में मेघदूत सर्वोत्कृष्ट है, जो कि एक यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा को मेघ को दूत बनाकर सन्देश भेजे जाने के कारण एक संदेश काव्य है। मेघदूत काव्य के श्लोकों को लेकर जिनसेन मुनि ने जैन संदेश काव्य पाश्वाभ्युदय की रचना की, जिसमें मेघदूत के श्लोकों को यथावत् उद्धृत करते हुए जैन धर्म के सन्देशपरक काव्य का सफल प्रणयन किया गया है। इन दोनों काव्यों का विवेचन यहां प्रस्तुत है।

महाराजा अमोघवर्ष के शासनकाल में ८वीं - ९वीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन 'द्वितीय' ने पाश्वाभ्युदय नामक सन्देश काव्य की रचना की। उन्होंने कालिदास तथा उनके मेघदूत काव्य का बड़े आदर के साथ स्मरण कर राजा अमोघवर्ष द्वारा पृथ्वी की सदैव रक्षा किये जाने की कामना की<sup>१</sup> और पाश्वाभ्युदय के अन्त में उन्होंने कहा है कि 'श्री वीरसेन मुनि के चरणकमलों के भौरै के समान तपो रूप लक्ष्मी से युक्त, श्रेष्ठतर विनयसेन मुनि हुए। विनयसेन मुनिवर की प्रेरणा से जिनसेन मुनि ने मेघदूत नामक खण्डकाव्य से परिवेष्टित काव्य की रचना की।<sup>२</sup>

इससे ज्ञात होता है कि जिनसेन के गुरु वीरसेन थे और विनयसेन गुरुभ्राता थे। विनयसेन की प्रेरणा से जिनसेन ने पाश्वाभ्युदय की रचना की।

पाश्वाभ्युदय में समस्यापूर्ति के काव्यकौशल द्वारा समस्त मेघदूत को ग्रंथित कर लिया गया है। यद्यपि पाश्वाभ्युदय एवं मेघदूत दोनों काव्यों का कथाभाग सर्वथा भिन्न है तथापि मेघदूत की पंक्तियाँ पाश्वाभ्युदय में बड़े ही सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से बैठ गई हैं। यह काव्य ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में मेघदूत के श्लोकों के चरणों की समस्यापूर्ति के लिए लिखा गया है और जैन सन्देश काव्यों में प्रथम स्थान रखता है। इसके श्लोकों को पढ़कर यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि ९वीं शताब्दी में मेघदूत का पाठ कैसा था। सम्पूर्ण काव्य चार सर्गों में निबद्ध है। यद्यपि उन्हीं छन्दों में भावों को आबद्ध करने का नियन्त्रण कवि पर रहता है, तो भी जिनसेन ने सम्पूर्ण काव्य कौशल का परिचय दिया है और काव्य पाठ में कवि के मनोभावों का ही सरस प्रवाह बना रहता है। मेघदूत के कथा प्रसंग, उसको अतिक्रान्त नहीं कर पाते हैं। यद्यपि

\* प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर (३०३०)

जिनसेन ने स्वयं कालिदास के काव्य सौन्दर्य की प्रशंसा की है, किन्तु वास्तव में **पार्श्वार्थ्युदय** संस्कृत साहित्य की अद्भुत रचना है। प्रो० के०वी० पाठक भी मानते हैं कि यद्यपि सर्वसम्मति से सर्वोच्च स्थान कवि कालिदास को मिला है तथापि **मेघदूत** के कर्ता की अपेक्षा जिनसेन अधिक प्रतिभाशाली कवि माने जाने योग्य हैं।<sup>३</sup>

**मेघदूत** के श्लोकों को **पार्श्वार्थ्युदय** में अपनी भावनाओं, विचारों और दर्शन को समझाने के लिए आचार्य जिनसेन ने प्रयुक्त किया है अतः यत्र-तत्र कालिदास के विचारों से भिन्नता दृष्टिगोचर होती है जो संक्षेप में निम्न प्रकार है। कुछ उद्धरण स्थल दृष्टव्य हैं :-

**मेघदूत** के आशय के अनुरूप - भाव को भौतिक शक्तियों को तुच्छ बताने हेतु प्रस्तुत किया गया है - 'पार्श्व के प्रति दग्धवैर शम्बासुर सोचता है - चूँकि मेघ का दर्शन हो जाने पर सुखी व्यक्ति का भी चित्त अन्य प्रकार की प्रवृत्ति वाला हो जाता है, अतः तिरस्कार करता हुआ मैं गर्जनाओं से भयंकर ध्वनि युक्त विद्युत के उद्योत से असमान शरीर वाले मेघों से इसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न करूँगा, अनन्तर प्रकम्पित धैर्य वाले इसे विचित्र उपाय से मारूँगा।'<sup>४</sup> ऐसा सोचकर उसने उपद्रव आरम्भ किया। जिनसेन आगे दर्शाते हैं कि आध्यात्मिक शक्ति के सामने संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ तुच्छ हैं, वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती हैं। जिनसेन शम्बासुर की उक्त मूढ़ता का परिहास करते हुए कहते हैं - 'जिसकी आत्मशक्ति का उल्लंघन करना कठिन है ऐसा यह योगी कहाँ? और अधम का जीव दैत्य कहाँ? कहाँ तो गजराज और कहाँ वनमक्खी? जिसका ध्येय अपरिचित है और पूर्ण रूप से जिसका ध्यान शोभन है ऐसा वह योगी कहाँ? और धुआँ, अग्नि, जल तथा वायु का समुदाय यह मेघ कहाँ?'<sup>५</sup>

वास्तविक रूप में मेघ बनकर जलवृष्टि के योग्य हो जाता है तो सन्देशादि ले जाने के योग्य नहीं रहता है, किन्तु कालिदास का यक्ष कामुकता एवं उत्कण्ठा में चेतन-अचेतन के विवके से हीन हो जाता है अतः कालिदास का यक्ष वृष्टि हेतु तत्पर जाते हुए मेघ से ही याचना करने लगता है। जिनसेन ने आत्मिक शक्ति के सामने मेघरूप अचेतन पदार्थ को तुच्छ माना है। अतः पार्श्वनाथ उसकी शक्ति को स्वीकार नहीं करते। भौतिक शक्ति का आश्रय लेकर दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करने वाले को जिनसेन शूद्र कहते हैं।

कालिदास अचेतन प्रकृति को **मेघदूत** में मनोभावों के समीप ला चेतन बनाने का प्रयास करते हैं, तो जिनसेन **पार्श्वार्थ्युदय** में आत्मिक शक्ति के सामने जड़ प्रकृति की तुच्छता के यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। शम्बर के माध्यम से मेघ के रूपों तथा उसके प्रतिफलों को जिनसेन ने प्रकट किया है और फिर यह प्रतिपादित

किया है कि वे समस्त रूप, समस्त फल पार्श्व की दृष्टि में निस्सार हैं, भौतिक हैं। इस प्रकार पार्श्व का याचक रूप नहीं अपितु समर्थ रूप सामने आता है। अचेतन को चेतन मानने का भाव बन्धन का भाव है और मिथ्या परिणति के कारण जीव इस संसार में भ्रमण कर रहा है। अचेतन को अचेतन और चेतन को चेतन मानने का विवेक जिसके अन्दर जागृत हो जाता है वह रत्नत्रय मार्ग के द्वारा मोक्ष के सम्मुख पहुँचता है। इस प्रकार की साधना का पथिक अनुपमेय है, दुर्जेय है, इस बात का विचार न कर दुष्टपुरुष उद्धतता पूर्वक उससे मायायुद्ध की याचना करता है।<sup>६</sup> ऐसा व्यक्ति देव है, तो भी पशुतुल्य है, जिसे जिनसेन ने गुरसुरपशु कहा है।<sup>७</sup> इस प्रकार **मेघदूत** में अचेतन को चेतन मानकर उसका मानवीकरण है तो **पार्श्वार्थ्युदय** में इस प्रकार के भावों के प्रस्तुतीकरण से मूढ़ता, विवेकहीनता सिद्ध कर संसार के भ्रमण से मुक्ति का मार्ग अपनाने और वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर विवेक से कार्य करने का उपदेश है।

यद्यपि **पार्श्वार्थ्युदय** में जैन धर्म के किसी सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है तथापि, मेघदूत के अनेक प्रसंगों को आचार्य जिनसेन ने जैन मत के अनुकूल ढालने का प्रयास किया है। एक अन्य उदाहरण में **मेघदूत** में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का वर्णन है तथा उसके अन्दर शिव का अधिष्ठान बताया है। **पार्श्वार्थ्युदय** में महाकाल वन के कलकल नामक जिनालय का वर्णन है।<sup>८</sup> **मेघदूत** में वर्णित पशुपति शब्द का यहाँ पशु आदि प्राणियों के रक्षक भगवान् जिनेन्द्र अर्थ व्यंजित होता है।

**पार्श्वार्थ्युदय** में भारतवर्ष की गंगा आदि नदियों को तीर्थों का प्रतिनिधि कहा गया है। प्रतिनिधि होनेके कारण उनमें स्नान करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तीर्थ के प्रतिनिधि भी पापों को नष्ट करने वाले होते हैं। **मेघदूत** में गंगा को जहनुकन्या तथा सागर पुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के रूप में चित्रित किया गया है। जैन परम्परा इन पौराणिक कथाओं का समर्थन नहीं करती है, अतः उसे इस रूप में कहा गया है कि लौकिक रूढ़ि के अनुसार जहनु की कन्या के रूप में प्रसिद्ध तथा सागरपुत्रों को स्वर्ग तक ले जाने वाली स्वर्ग की सीढ़ी के तुल्य है।<sup>९</sup>

**मेघदूत** में गंगा का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है कि गंगा ने पार्वती के मुख पर स्थित भ्रूभंग को मानों फेनों से हंसकर तरंग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाकर शिव के केशों को पकड़ लिया है।<sup>१०</sup> जैन परम्परा की मान्यता में भगवान् आदिनाथ की जटाजूट युक्त प्रतिमा हिमवान् पर्वत के प्रपात स्थल पर है, उसी के समीप गंगा बहती है। इसी प्रकार का वर्णन जिनसेन ने इस प्रकार किया है - “जिस गंगा (हिमवान् पर्वत के पक्ष सरोवर से निकली हुई) महानदी ने तरंग रूप हाथों को

चन्द्रमा के ऊपर लगाते हुए श्वेतवर्ण फेनों से भौहों की टेढ़ी रचना कर मानो हँसकर अथवा गौरवर्ण की स्त्रियों के भ्रूभंग पर मानो हँसकर हिमवान् पर्वत के प्रपात पर गंगाकूट की निवासिनी देवी की प्रतिनिधि होकर अर्हन्त भगवान् त्रैलोक्याधिपति आदिदेव के केशों को पकड़ लिया (अर्थात् जिसने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के ऊपरी भागों में स्थित जटाजूटों को पकड़ लिया। उसी इस नदी को जानो अर्थात् इस नदी को उस गंगा महानदी के समान आदर दो)।<sup>११</sup>

**मेघदूत** में चर्मणवती नदी को गौवों के मारने से उत्पन्न तथा पृथ्वी में प्रवाहरूप से परिणत रन्तिदेव की अकीर्ति कहा है।<sup>१२</sup> **पार्श्वार्थ्युदय** में इन्हीं विशेषणों के साथ इन्हें रन्तिदेव की अकीर्तिस्वरूप कहा गया है।<sup>१३</sup>

**मेघदूत** में किन्नरियों द्वारा त्रिपुर विजय के गीत गाने का उल्लेख है।<sup>१४</sup> **पार्श्वार्थ्युदय** में त्रिपुरविजय से तात्पर्य औदारिक, तैजस और कर्मण तीनों शरीरों के विजय का गीत है।<sup>१५</sup>

**मेघदूत** में गौरी शब्द का प्रयोग पार्वती के लिये किया गया है।<sup>१६</sup> **पार्श्वार्थ्युदय** में यह गौरी स्त्री अथवा ईशान दिशा के स्वामी की पत्नी के अर्थ में व्यंजित हुआ है।<sup>१७</sup>

**मेघदूत** में मेघ से कहा गया है कि वह शिवजी के हाथ का सहारा देने पर चलने वाली पार्वती के पैदल चलने पर भीतर जल प्रवाह को रोककर अपने शरीर को सीढ़ियों के रूप में परिणत कर दे।<sup>१८</sup> **पार्श्वार्थ्युदय** में गौरी के स्थान पर देवभक्ति के कारण पूजा करने की इच्छुक जैन मन्दिर को आती हुई इन्द्राणी के लिए अपने शरीर को सीढ़ी रूप में परिवर्तित करने की मेघ से प्रार्थना की गई है।<sup>१९</sup>

कालिदास ने पूर्व मेघ के एक स्थल पर कहा है कि शिव चरणों में भक्ति रखने वाले करण विगम के अनन्तर शिव के गुणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।<sup>२०</sup> इस करणविगम शब्द का प्रयोग **पार्श्वार्थ्युदय** में करते हुए जिनसेन कहते हैं- अर्हन्तभगवान् के चरणचिन्हों को देखने पर जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे जन भक्ति का सेवन करने वाले करणविगम के अनन्तर सिद्ध क्षेत्र की स्थापना करते हैं।<sup>२१</sup>

निष्कर्षतः यह कहना सार्थक है कि जहाँ एक ओर महाकवि कालिदास के **मेघदूत** का मेघ यक्ष का संदेश प्रिया को पहुँचाने वाला परममित्र, मानव सदृश है, वहीं दूसरी ओर जिनसेन के **पार्श्वार्थ्युदय** का मेघ सांसारिक बाह्य आकर्षण का प्रतीक है। इस आकर्षण से सभी सांसारिक प्राणी आकर्षित होते हैं। शम्बासुर चाहता है कि बाह्य आकर्षण में पड़कर पार्श्व अपनी तप साधना को भूल जाएँ अतः मेघ के माध्यम से समस्त सांसारिक आकर्षणों, सृष्टि की उमंगों, तरंगों, कोमल संवेदनाओं और अभिलाषाओं को सामने रखता है। उज्जयिनी और अलका की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं,

उद्यानों, दीर्घिकाओं, पण्यस्थलों, मनोहर अंगनाओं, रास्ते के उद्दाम प्राकृतिक दृश्यों और लुभावनी वस्तुओं के ललित वर्णनों को **मेघदूत** से उद्धृत कर यह सिद्ध किया गया है कि इन सभी सांसारिक भौतिक आकर्षणों के बीच जैन मुनि निरासक्त ही रहता है। अतः पार्श्व के हृदय में शान्ति और निरासक्ति की एक अपूर्व आह्लादमयी धारा है। आत्मा जागृत है, अतः तदनरूप कार्यो की शक्ति से अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं का नाश होता है। शत्रु को अपनी भूल मानकर हृदय से क्षमा याचना करनी पड़ती है। संसार के सभी प्राणी ऐसी महान आत्मा के नाम मात्र लेने से भवोच्छेदन की आशा बाँध रहे हैं। भक्ति के रस का संचार हो रहा है। **मेघदूत** के अनुसार शिवचरणों में भक्ति रखने वाले करण विगम के अनन्तर शिव के गणों में स्थिर पद प्राप्त करते हैं, तो **पार्श्वभ्युदय** में पार्श्व भी करणविगम की इस प्रक्रिया में लगे हैं, जिसका अभिप्राय है इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर हटाकर अन्तर्मुखी करना।<sup>२२</sup>

प्रो० के०बी० पाठक ने आचार्य जिनसेन 'द्वितीय' के सम्बन्ध में सच ही कहा है कि **पार्श्वभ्युदय** संस्कृत साहित्य की एक अद्भुत रचना है। वह अपने युग की साहित्यिक रुचि की उपज और आदर्श है। भारतीय कवियों में सर्वोच्च स्थान सर्वसम्पत्ति से कालिदास को मिलता है तो भी मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा जिनसेन अधिक प्रतिभाशाली कवि माने जाने योग्य हैं।

अतः **पार्श्वभ्युदय** एक उत्कृष्ट एवं अद्वितीय जैन संदेश काव्य है, जिसमें बाह्य सांसारिक क्षण भंगुरता के उदाहरणस्वरूप **मेघदूत** का सुन्दर प्रयुक्तीकरण, प्रस्तुतीकरण हुआ है, जो मनमोहक है और अन्ततोगत्वा जैन संदेश के प्रभाव को मानसपटल पर अमिट रूप से अंकित करने में पूर्ण सक्षम है। जिनसेन द्वारा मुनि पार्श्व और **मेघदूत**<sup>२३</sup> में अपनी प्रिया से मिलन की आकांक्षा रखने वाले यक्ष का चित्रण कर एक ही स्थल पर दो प्रकार के व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है ताकि मानव अपनी तर्क बुद्धि से विचार कर अपने लिए पार्श्वमुनि की भाँति श्रेयस्कर मार्ग का वरण कर सके और सांसारिक भोग, काम-वासना से मेघदूत के यक्ष की भाँति आकृष्ट न हो। निर्ग्रन्थ मुनि का यह संदेश **कठोपनिषद** में यमराज द्वारा नचिकेता को दिए गये संदेश के समान है, निम्न श्लोक उद्धृत है -

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ, संपरीत्य विविनक्ति धीरः।<sup>२४</sup>  
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।

अर्थात् श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष उन दोनों का भली भाँति विचार कर दोनों के भेद को पहचान लेता है। जिसमें से विवेकी पुरुष प्रेय की उपेक्षा कर श्रेय का वरण करता है। प्रस्तुत मन्त्र में यम ने नचिकेता के प्रति श्रेय और प्रेय का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।



**सन्दर्भ :**

१. पार्श्वभ्युदय, प्रथम सर्ग/मेघदूतं.
२. पार्श्वभ्युदय, चतुर्थ सर्ग/श्लोक ७१.
३. मेघदूत, सम्पादक - प्रो० के०बी० पाठक, द्वि०सं०, पूना, भूमिका पृ० २३.
४. पार्श्वभ्युदय, १/११.
५. पार्श्वभ्युदय, १/१७.
६. पार्श्वभ्युदय, १/१९.
७. पार्श्वभ्युदय, १/१८.
८. पार्श्वभ्युदय, २/८.
९. पार्श्वभ्युदय, २/१५.
१०. मेघदूत, १/५०.
११. पार्श्वभ्युदय, १/५३.
१२. मेघदूत, १/४५.
१३. पार्श्वभ्युदय, २/३६.
१४. मेघदूत, १/५६.
१५. पार्श्वभ्युदय, २/६७.
१६. मेघदूत, १/६०.
१७. पार्श्वभ्युदय, २/७५.
१८. मेघदूत, १/६०.
१९. पार्श्वभ्युदय, २/७६.
२०. मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक ५५.
२१. पार्श्वभ्युदय, २/६६.
२२. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, पृ० १०७.
२३. मेघदूतम्, सम्पादक - डा० शिवराज शास्त्री, मेरठ १९८२ ई०.
२४. कठोपनिषद् २/२.



## सामान्य केवली और अर्हन्त पद : एक समीक्षा

साध्वी विजयश्री 'आर्या'\*

**तुलसी प्रज्ञा**, त्रैमासिक, जुलाई १९९१ में साध्वी डॉ० सुरेखा जी का एक शोधपरक लघु निबंध पढ़ने में आया - 'क्या सामान्य केवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है?

साध्वी जी ने उक्त लेख में आगमों के अनेक उल्लेख देकर विषय को एक चिन्तन का स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने लिखा कि सामान्य केवली के लिये आगमों में कहीं भी 'अर्हन्त' या अरिहंत' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, उन्हें सर्वत्र 'केवली' संज्ञा से ही अभिहित किया है, अतः उनकी 'णमो अरिहंताणं' पद में गणना न कर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद में गणना की जानी संभव है।

यहाँ कुछ बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो यह है कि केवली अरिहंत पद के अधिक निकट हैं, साधु पद के नहीं। **भगवतीसूत्र** की वृत्ति<sup>१</sup> में आचार्य श्री अभयदेव सूरि ने 'साधु' शब्द के तीन अर्थ किये हैं -

- १) ज्ञानादि शक्तियों द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं, वे साधु हैं।
- २) जो सर्वप्राणियों के प्रति समता भाव धारण करते हैं, किसी पर राग-द्वेष नहीं रखते, निन्दक प्रशंसक के प्रति समताभाव धारण करते हैं, प्राणी-मात्र को आत्मवत् समझते हैं, वे साधु हैं।
- ३) जो संयम पालन करने वाले भव्य-प्राणियों की मोक्ष-साधना में सहायक बनते हैं, वे साधु कहलाते हैं।

दिगम्बर साहित्य में २८ मूलगुण रूप सकल चारित्र का पालन करने वाला 'साधु' की संज्ञा प्राप्त करता है।<sup>२</sup>

उक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट होता है, कि साधु वह है, जो स्वयं साधना मार्ग में स्थित रहता हुआ समाज में अपना आदर्श स्थापित करता है। यह अर्थ 'केवली' में घटित नहीं होता क्योंकि केवली की साधना संपूर्ण हो चुकी है, वे साधना मार्ग में स्थित नहीं हैं, वरन वे साध्य को प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात् परमात्मा बन चुके हैं, इसलिये उन्हें 'देव' की कोटि में रखा जाता है। साधु अर्थात् 'गुरु' की कोटि में

\*C/o शीला जैन, १३/४०, शक्तिनगर, दिल्ली - ११० ००७.

नहीं। साधु की कोटि में आचार्य और उपाध्याय इन दो पदों का समावेश तो हो सकता है, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय एवं साधु तीनों साधक हैं, इनका पारस्परिक अंतर केवल संघकृत उपाधि का है, साधुत्व की अपेक्षा से तीनों समान हैं<sup>३</sup> तथापि नमस्कार महामंत्र में साधु से उपाध्याय का एवं उपाध्याय से आचार्य का पद उत्तरोत्तर गरिमामय मानकर क्रमशः चतुर्थ एवं तृतीय पद पर स्थान दिया है और पूज्यता एवं नमस्कार की दृष्टि से प्रथम आचार्य, पश्चात् उपाध्याय एवं उसके पश्चात् साधु को नमस्कार किया गया है। किंतु 'केवली' तो गुणों की दृष्टि से भी साधु, उपाध्याय एवं आचार्य इन तीनों से ऊपर हैं। यदि सामान्य केवली की 'साधु' पद में गणना की जायेगी तो उन्हें आचार्य एवं उपाध्याय पद से भी निम्नस्थानीय मानना पड़ेगा, जो कि कथमपि संगत नहीं है।

दूसरी बात, तीर्थकर में जो-जो विशेषताएं सामान्य केवली से अधिक कही गयी हैं, वे गुणों की अपेक्षा से नहीं विभूति की अपेक्षा से कही गई हैं। विभूति उदयभाव है, क्षायिक भाव नहीं। आत्मिक गुणों का प्रकटीकरण सामान्य केवली एवं अरिहंत में समान है।

गुणस्थान प्रकरण में अरिहंत तीर्थकर एवं केवली एक ही (१३वें) गुणस्थान के प्रापक कहे हैं। गुणस्थान में कहीं भी अरिहंत (तीर्थकर) और केवली का पृथक्-पृथक्, गुणस्थान नहीं कहा। चार घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय) का क्षय जैसे तीर्थकरों के हुआ है वैसे ही सामान्य केवली के हुआ है। ऐसा भी नहीं कि एक का ज्ञान अधिक विशुद्ध एवं स्पष्ट है, दूसरे का कम। दोनों का केवलज्ञान, केवलदर्शन संपूर्ण है, स्पष्ट है और एक समान है। चार कर्मों के क्षय से जैसे तीर्थकर को 'जिन', 'वीतराग' 'सर्वज्ञ' एवं 'सदेह परमात्मा' कहा जाता है। वैसे ही सामान्य केवली को भी 'जिन', 'सर्वज्ञ', 'वीतराग' एवं 'सदेह परमात्मा' ही कहा जाता है। तीर्थकर और केवली दोनों तद्भव मोक्षगामी हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा उल्लेख भी कहीं पढ़ने में नहीं आया कि केवली तीर्थकर को अपने से बड़ा मानकर उन्हें नमस्कार करते हों। फिर किस अपेक्षा से सामान्य केवली को नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में स्थान न देकर पंचम पद में स्थान दिया जाय।

### अरिहंत शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ :-

अरिहंत की जितनी भी व्याख्याएँ दिगम्बर, श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध होती हैं, वे सब 'केवली' के अर्थ में भी घटित होती हैं। आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र की वृत्ति<sup>४</sup> में 'अरिहंत' शब्द के संस्कृत में सात रूपान्तर बताए हैं :-

(१) अर्हन्त :- वे लोकपूज्य पुरुष, जो देवों द्वारा निर्मित अष्ट महाप्रातिहाय्य रूप पूजा के योग्य हैं, इन्द्रों द्वारा भी पूजनीय हैं।

(२) अरहोन्तर :- सर्वज्ञ होने से एकान्त और अन्तर (मध्य) की कोई भी बात जिनसे छिपी हुई नहीं है, वे प्रत्यक्षदृष्टा पुरुष।

(३) अरथान्त :- रथ शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का सूचक है। जो समस्त प्रकार के परिग्रह से और अन्त (मृत्यु) से रहित है।

(४) अरहन्त :- आसक्ति से रहित अर्थात् राग, द्वेष और अज्ञान का सर्वथा 'अन्त' - नाश करने वाले।

(५) अरहयत् :- तीव्र राग के कारणभूत मनोहर विषयों का संसर्ग होने पर भी जो परम वीतराग होने से किञ्चित् भी रागभाव को प्राप्त नहीं होते, वे महापुरुष 'अरहयत्' कहलाते हैं।

(६) अरिहन्त :- अष्टविध कर्म - शत्रुओं का विशिष्ट साधना द्वारा क्षय करने वाले।

(७) अरुहन्त :- 'रुह' अर्थात् कर्म रूपी अंकुर को जलाकर जन्म-मरण की परम्परा को सर्वथा विनष्ट करने के कारण उन्हें 'अरुहन्त' कहते हैं।<sup>५</sup>

### अरिहन्त के दो प्रकार :-

उक्त सभी परिभाषाओं में केवल एक 'अर्हन्त' शब्द की परिभाषा से ही 'तीर्थकर' का बोध होता है। किंतु इसके अतिरिक्त अन्य सभी परिभाषाएँ सामान्य केवली एवं अरिहंत (तीर्थकर) में समान रूप से घटित होती हैं। 'अर्हन्त' शब्द को व्याख्यायित करते हुए पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध में कहा है - 'अतिशय पूजाहर्त्वाद्दार्हन्तः'

अर्थात् अतिशय पूजा के योग्य होने से वे 'अर्हन्त' कहे जाते हैं। यहाँ अतिशय पूजा के महत्त्व से 'तीर्थकर' का व्यपदेश किया गया है। जैन-ग्रन्थों में इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया गया है -

अर्हन्त दो प्रकार के हैं - तीर्थकर एवं सामान्य केवली। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, वे 'तीर्थकर' हैं एवं जिनके कल्याणक महोत्सव नहीं मनाये जाते, जो अष्टमहाप्रतिहार्यादि से रहित होते हैं, वे सर्व सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ होने के कारण इन्हें 'केवली' भी कहते हैं।<sup>६</sup> इससे सिद्ध होता है कि सामान्य केवली भी अरिहंत ही होते हैं, केवल उनमें बाह्य विभूति नहीं होती।

आगमकारों ने सामान्य केवली के साथ 'अरिहंत' विशेषण प्रयुक्त नहीं किया, इस एक तर्क से उन्हें पंचम पद में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, वरन् जहाँ-जहाँ 'अर्हन्' शब्द सातिशय पूजा के योग्य अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वहाँ-वहाँ अरह से अभिप्राय 'तीर्थकर' समझना चाहिये और जहाँ-जहाँ वीतराग, जिन, सर्वज्ञ एवं

सर्वदर्शी के रूप में किया जाता है वहां वहां आत्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त सभी केवल ज्ञानी के रूप में 'अरिहंत' शब्द को ग्रहण किया जाना चाहिये।

सामान्य केवली की अरिहंत में ही गणना है इसका एक कारण यह भी है कि यदि नमस्कार मंत्र में केवली का परिहार कर अरिहंत से तीर्थंकर को ही नमस्कार करना अभिप्रेत होता, तो 'णमो तित्थयराणं' भी प्रथम पद हो सकता था, किंतु वैसा न होकर 'णमो अरिहंताणं' पद होने से यही आशय ध्वनित होता है कि जितनी भी राग-द्वेष विजेता सशरीरी आत्माएँ हैं, उन सबको मेरा नमस्कार है, चाहे फिर वे किसी भी नाम से, किसी भी शब्द से पुकारी जाती हों। आचार्य हरिभद्र ने वीतराग भगवान् की स्तुति करते हुए इसी आशय को अपने समक्ष रखा था। उन्होंने कहा है -

**भवंबीजांकुर जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।**

**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ वा जिनो वा नमस्तस्मै।।**

अर्थात् भव-बीज का अंकुर राग-द्वेषादि जिसके भी क्षय हो गये हों, वह आत्मा ब्रह्मा, विष्णु, हरि या 'जिन' किसी भी नाम से पुकारी जाती हो, उन सबको मेरा नमस्कार है।

**तीर्थंकर के साथ अरहंत शब्द के प्रयोग का हेतु :-**

अब रहा प्रश्न, कि अरहंत शब्द का प्रयोग आगमों में स्थान-स्थान पर 'तीर्थंकर' के अर्थ में या तीर्थंकर के साथ प्रयुक्त हुआ है, उनके साथ 'केवली' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया गया। इसका समाधान यह प्रतीत होता है, कि वे सातिशय केवली हैं, उन्हें विशिष्टता प्रदान करने के लिये अरहन्त शब्द से संबोधित किया जाना संभव है। तीर्थंकर को विशेष रूप से 'अरहंत' विशेषण लगाकर उनका 'अपायापगम अतिशय' भी सूचित किया जाता है, जो कि तत्कालीन अन्य तीर्थंकरों में देखने को नहीं मिलता है।

जैन और बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है, कि उस समय 'धर्मतीर्थ' के प्रवर्तक को 'तीर्थंकर' कहा जाता था। भगवान् बुद्ध के समय भारतवर्ष में श्रमणों के ६३ सम्प्रदाय विद्यमान थे, उनमें से छह सम्प्रदाय के धर्म-प्रवर्तक अपने को 'तीर्थंकर' कहते थे, उनके नाम हैं -

(१) पूरण काश्यप (२) मंखलि गोशाल (३) अजित केस कम्बल (४) प्रकुध कात्यायन (५) निग्गंठ नातपुत्त (६) संजय वेलड्डिपुत्त<sup>१</sup>

इन छह में 'निग्गंठ नातपुत्त', भगवान् महावीर के लिये प्रयुक्त होता था, जो धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होने से 'तीर्थंकर' तो थे ही, साथ में 'जिन' एवं 'अर्हत्' भी थे।

शेष ५ सम्प्रदाय के तीर्थंकर भी विशाल जनमत के धारक थे उन सबके मध्य तीर्थंकर प्रभु महावीर को विशेष विशेषण, जैसे - अरहा, अरहंत, अरिह, अरुह लगाकर संबोधित किये जाने से शेष का परिहार हो जाता है। अनेक स्थानों पर 'जिन' केवली आदि शब्द भी इसी अभिप्राय से जोड़े गये प्रतीत होते हैं। जैसे- चतुर्विंशतिस्तव में २४ तीर्थंकर भगवान् के लिये उक्त सभी विशेषण लगाये गये हैं -

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मत्तिथ्यरे जिणे।

अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली।।

उक्त स्तव में तीर्थंकर के लिये 'जिन', 'अरिहंत' एवं 'केवली' इन तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार शक्र-स्तुति में भी उक्त सभी शब्द हैं -

णमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं

त्तिथ्यराणं.....जिणाणं जावयाणं.....।

सारांश :-

उक्त सर्व कथनों से यही सिद्ध होता है, कि 'अरिहंत' शब्द सामान्य केवली एवं तीर्थंकर दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे 'जिन और केवली' शब्द। इसके अलावा पंच परमेष्ठी मंत्र जो जैनों का सर्वमान्य मंत्र है उसमें भी 'णमो अरिहंताणं', पद से तीर्थंकर एवं सामान्य केवली का समान रूप से अन्तर्भाव हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं।

सन्दर्भ :

१. भगवतीसूत्रवृत्ति, (पत्रांक ३).
- २-३. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४ पृष्ठ ४०२.
४. भगवतीसूत्र वृत्ति ४, (पत्रांक ३).
५. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग १, पृष्ठ ७५६.
६. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १.
७. दीघनिकाय, "सामञ्जफलसुत्त", पृष्ठ २१.



## जीवन्यरचम्पू में पर्यावरण की अवधारणा

डॉ० कमलेशकुमार जैन\*

साहित्यशास्त्र में श्रव्य काव्य के तीन भेद बतलाये गये हैं - गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और चम्पूकाव्य। छन्दोहीन गद्य रचना गद्यकाव्य है और छन्दोबद्ध पद्य रचना पद्यकाव्य है<sup>१</sup> तथा गद्य-पद्य मिश्रण रूप रचना चम्पूकाव्य है।<sup>२</sup> गद्यकाव्य में केवल गद्य का रसास्वादन लिया जा सकता है और पद्यकाव्य में केवल पद्य का, किन्तु चम्पूकाव्य में गद्य और पद्य - दोनों का समान रूप से रसास्वादन मिलता है।

चम्पूकाव्य में कवि वर्णन के अनुसार गद्य या पद्य की रचना करने में स्वतन्त्र है और अपने सहृदय पाठकों किं वा श्रोताओं को उभयमुखी रसास्वादन करा सकता है। अतः गद्य या पद्य काव्य की अपेक्षा चम्पूकाव्य सहृदयों के लिये अत्यन्त मनोहारी माना जाता है। चम्पूकाव्य की विशेषता का प्रतिपादन करते हुये महाकवि हरिचन्द्र ने लिखा है कि -

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च, प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।

हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा, द्रागबाल्यतारुण्यवतीव कान्ता।।<sup>३</sup>

अर्थात् गद्यावली और पद्य-परम्परा - ये दोनों पृथक्-पृथक् भी बहुत अधिक आनन्द को पैदा करती हैं, फिर जहाँ दोनों मिल जाती हैं वहाँ तो बात ही कुछ और है। वहाँ वे दोनों शैशव और जवानी के बीच विचरने वाली कान्ता के समान अत्यधिक हर्ष पैदा करने लगती हैं।

संस्कृत साहित्य में अनेक चम्पूकाव्यों की रचना की गई है, जिनमें ईसा की दशवीं शताब्दी (पूर्वाब्द) के महाकवि त्रिविक्रमभट्ट का **नलचम्पू काव्य** अत्यन्त सरस और श्लिष्टपदों की योजना के कारण विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है। इसमें नल और दमयन्ती की प्रणय-कथा का मनोहारी चित्रण किया गया है। इन्हीं कवि की एक अन्य रचना **मदालसाचम्पू** भी है जो यमुना-त्रिविक्रम के नाम से भी जानी जाती है। इसमें कुवलायाश्व और मदालसा की प्रेमकथा गुम्फित है।

जैन चम्पूकाव्यों में महाकवि सोमदेवसूरि (९५९ ई०) का **यशस्तिलकचम्पू**, महाकवि हरिचन्द्र (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) का **जीवन्यरचम्पू** और महाकवि अर्हदास

\* रीडर एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी।

(ईसा की तेरहवीं शताब्दी) का **पुरुदेवचम्पूकाव्य** अत्यन्त प्रसिद्ध है। **यशस्तिलकचम्पू** में उज्जयिनी के महाराजा यशोधर की कथा को आधार बनाकर राजनीतिशास्त्र एवं उपासकाध्ययन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। **पुरुदेवचम्पू** में वर्तमानकालीन आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत और बाहुबली की कथा गुम्फित है। **जीवन्धरचम्पू** में जीवन्धर स्वामी का चरित्र-चित्रण किया गया है।

जीवन्धर स्वामी की कथा सर्वप्रथम गुणभद्र के **उत्तरपुराण** में मिलती है। तदनन्तर वादीभसिंहसूरिकृत **गद्यचिन्तामणि** एवं **क्षत्रचूडामणि** तथा तिरुतक्कतेवरकृत **जीवकचिन्तामणि** में मिलती है। अतः उक्त ग्रन्थ ही **जीवन्धरचम्पू** की कथा के स्रोत हैं।

इन ग्रन्थों में कथाओं अथवा चरित्र-चित्रण के माध्यम से भारतीय जनजीवन के लिये आवश्यक विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। उसी क्रम में पर्यावरण की सुरक्षा, स्वच्छता और उसकी समृद्धि का व्यापक उल्लेख भी इन ग्रन्थों में पाया जाता है। इसका एक कारण यह है कि प्रकृति और जन जीवन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति के बिना जनजीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतएव यह कहा जाता है कि प्रकृति ही जीवन है।

जैन साहित्य में यद्यपि सामान्य रूप से तिरसठ शलाकापुरुषों अथवा तत्सदृश विशिष्ट महापुरुषों की कथाओं का संयोजन किया गया है तथापि प्रकृति प्रदत्त तथा मनुष्य के लिये आवश्यक स्वच्छ जल और स्वच्छ वायु के स्रोत नदियों एवं नाना वनस्पतियों से युक्त जंगलों तथा पर्वतों का भी उल्लेख किया गया है।

इन प्रकृतिजन्य संसाधनों का वर्तमान में आवश्यकतानुसार सीमित मात्रा में उपयोग करना और भविष्य के लिये तथा अपनी आगामी अनेक पीढ़ियों के कल्याणार्थ उन संसाधनों का संरक्षण करना आवश्यक है। इस प्रकार मानव जीवन को सुरक्षित रखने के लिये उभयमुखी सावधानी अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त उन संसाधनों को प्रदूषण से बचाना परम कर्तव्य है। क्योंकि जल, वायु और वनस्पतियों के प्रदूषित होते ही मानव-जीवन खतरे में पड़ जायेगा। अतः प्रकृति प्रदत्त संसाधनों का संरक्षण ही मानव जीवन का संरक्षण है।

जैन साहित्य में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को एकेन्द्रिय जीवों की कोटि में परिगणित किया गया है और अहिंसा के माध्यम से प्राणि मात्र की रक्षा की बात कही गई है। यद्यपि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में इन सबका सामान्य रूप से विवेचन पाया जाता है, किन्तु अहिंसा के क्षेत्र में जितनी सूक्ष्मदृष्टि से जैनधर्म में विचार किया गया है उतना अन्यत्र नहीं और यही कारण है कि पर्यावरण के संरक्षण को जैन साहित्य में जाने-अनजाने पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।



भारतीय लोक जीवन में गंगा को माँ के रूप में स्वीकार करना, क्षीरी वृक्षों में देवताओं का वास मानना, तुलसी के पौधे को देवी का रूप मानना और तदनन्तर प्रकृति पूजा के बहाने उनका मान-सम्मान कर उनकी वृद्धि में सहायक बनना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो आज भी हमारे रक्त में प्रवाहित हैं।

पर्यावरण को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं - एक बाह्य और दूसरा अन्तरङ्ग। अन्तरङ्ग पर्यावरण अर्थात् मानसिक पर्यावरण की शुद्धि से बाह्य पर्यावरण शुद्ध रहता है। अतः मानसिक विकृति से बचना ही पर्यावरण का मूलाधार है।

जैन साहित्य के एक घटक **जीवन्धरचम्पू** में हम देखते हैं कि जब महाराजा सत्यन्धर विषयासक्त होकर काष्ठांगार को अपना राज्य सौंपना चाहते हैं तब मन्त्रीगण राजा को समझाते हुये कहते हैं कि -

धर्मार्थयुग्मं किल काममूलमिति प्रसिद्धं नृप नीतिशास्त्रे।

मूले गते कामकथा कथं स्यात् केकायितं वा शिखिनि प्रणष्टे॥

उर्वश्यामनुरागतः कमलभूरासावकीर्णा क्षणात्

पार्वत्याः प्रणयेन चन्द्रमकुटीऽप्यर्धाङ्गनोऽजायत।

विष्णुः स्त्रीषु विलोलमानसतया निन्दास्पदं सोऽप्यभूद्

बुद्धोऽप्येवमिति प्रतीतमखिलं देवस्य पृथ्वीपते॥<sup>५</sup>

अर्थात् धर्म और अर्थ - ये दोनों ही पुरुषार्थ के मूल हैं। जब मूल ही नष्ट हो जावेगा तब काम की कथा कहाँ रहेगी? मयूर के नष्ट हो जाने पर भी क्या केका वाणी रहती है? हे राजन्! उर्वशी नामक अप्सरा में अनुराग करने से ब्रह्मा क्षण भर में पतित हो गये थे, पार्वती के स्नेह से महादेव ने अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था, स्त्रियों में चपल-चित्र होने से विष्णु भी निन्दा के पात्र बने और बुद्ध की भी यही दशा रही। हे पृथिवीपते! आप यह सब अच्छी तरह जानते हैं।

इस प्रकार के हितकारी उपदेश के बावजूद काम से जर्जरित चित्त वाले राजा के हृदय में ये उपदेश वैसे ही नहीं ठहर सका जैसे सछिद्र घट में दूध नहीं ठहरता<sup>६</sup> और राजा ने अपना राज्यभार काष्ठांगार नामक महामन्त्री को सौंप दिया।

कुछ समय पश्चात् काष्ठांगार कपट से राजा को मारने के लिये अनेक प्रकार का खोटा चिन्तन करता है और देव प्रेरित होने के बहाने अपने अन्य मन्त्रियों से मन्त्रणा करता है। उस प्रसङ्ग में स्वामिभक्त धर्मदत्त नामक मन्त्री के वचन काष्ठांगार के मन में आये मानसिक प्रदूषण को सन्तुलित करने हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं। धर्मदत्त मन्त्री राजा की उपयोगिता पर प्रकाश डालता हुआ कहत है कि - 'राजाओं के रहते ही

जीवन सुरक्षित रहता है, अतः राजा ही समस्त प्रजाओं के प्राण हैं। राजा के साथ द्रोह करने का विचार मानो समस्त प्रजा के साथ द्रोह करना है। अतः राजद्रोही सबके साथ द्रोह करने वाला है, अतः समस्त पापों का आश्रय है। राजा के साथ विद्रोह करना समस्त वंश के विनाश का कारण है। देखो, राजा (अथवा चन्द्रमा) के साथ विद्रोह करने के कारण ही अन्धकार सब जगह से हटाया जाता है। जिस प्रकार वृक्ष छाया में आये हुये मनुष्यों की रक्षा करने के लिये स्वयं सूर्य के सन्ताप को सहता है, उसी प्रकार राजा निरन्तर जनता के आनन्द के लिये स्वयं रक्षाजन्म क्लेश को सहता है।<sup>६</sup> यहाँ महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मदत्त मन्त्री के मुख से मानसिक पर्यावरण को शुद्ध करने के उपर्युक्त जिन हेतुओं को उपस्थित किया है वे रेखाङ्कित करने योग्य हैं।

क्रोध के कारण व्यक्ति कार्याकार्य विचार करने में असमर्थ हो जाता है और मानसिक सन्तुलन को खो बैठता है, ऐसी स्थिति में मानसिक पर्यावरण को ठीक रखने के लिये गुरु आर्यनन्दी द्वारा जीवन्धर स्वामी को क्रोध न करने की जो शिक्षा दी गई है वह अत्यन्त प्रेरणादायक है। वे कहते हैं कि -

न कार्यः क्रोधोऽयं श्रुतजलधिगमनैकहृदयै -

न चेद्ब्रह्मार्था शास्त्रे परिचयकलाचारविधुरा।

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां

फलं किं तेन स्यादिति गुरुरथोऽशिक्षयदमुम्।<sup>७</sup>

अर्थात् जिनका हृदय शास्त्ररूपी समुद्र में निमग्न है ऐसे मनुष्यों को क्रोध कभी नहीं करना चाहिये, अन्यथा आचरण से रहित उनकी शास्त्राध्ययन की कला व्यर्थ कहलायेगी। अपने हाथों में दीपक के सुशोभित रहने पर भी जो लोग इस पृथिवी पर कुएँ में गिरते हैं उन्हें उस दीपक से क्या लाभ है?

राज्य प्राप्ति के अनन्तर जीवन्धर स्वामी का कुछ समय सुखपूर्वक बीत गया। एक दिन उन्होंने वानर और वानरी के प्रणय-कलह को देखा। वानरी को आनन्दित करने के लिये वानर ने वानरी को एक कटहल का बड़ा पका हुआ फल दिया। किन्तु वनपाल ने उसे धमकाकर छुड़ा लिया। इस दृश्य को देखकर जीवन्धर स्वामी अपने सम्पूर्ण जीवन की समीक्षा करते हुये चिन्तन करते हैं कि - यह वानर काष्ठांगार के समान है। ये फल राज्य के समान है और यह वनपाल मेरे समान है।<sup>८</sup> संसार की असारता पर विचार करते हुये वे आगे कहते हैं कि- 'जिस प्रकार नदियों के समूह से समुद्र और अत्यधिक ईन्धन से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती उसी प्रकार काम के वशीभूत हुआ यह पुरुष कभी भी काम-भोगों से सन्तुष्ट नहीं होता है। यह राज्य तैल रहित दीपक की लौ के समान है, जीवन चञ्चल है, ये शरीर बिजली के समान क्षण-भङ्गुर है और

आयु चपल मेघ के तुल्य है। इस प्रकार इस संसार की सन्तति में कुछ भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें मूढ़ हुआ पुरुष अपना हित नहीं करता, अपितु इसके विपरीत मोह बढ़ाने वाला व्यर्थ का कार्य ही करता है। नश्वर विषयों द्वारा लुभाया हुआ मनुष्य मोहवश बहुत दुःख देने वाला आरम्भजनित दोषों को नहीं समझता।<sup>१९</sup>

उपर्युक्त प्रकार से जीवन्धरचम्पू में काम, क्रोध और मोह की त्रिवेणी से उत्पन्न दोषों के निवारण हेतु उपदेशपरक अथवा नीतिपरक वाक्यों का समावेश किया गया है, जो आन्तरिक प्रदूषण के निवारण हेतु रामबाण औषधि के समान हैं। अन्तरङ्ग शुद्धि से बाह्य वातावरण शुद्ध होने में सहायता मिलती है, क्योंकि मन की दुष्प्रवृत्ति ही आभ्यान्तर के साथ बाह्य प्रदूषण फैलाती है, जिससे सामान्य जनजीवन प्रभावित होता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उसका बाह्य पर्यावरण शुद्ध होने में विलम्ब नहीं लगता है।

अब दूसरी ओर हम देखते हैं कि हमारे क्रान्तदर्शी कवियों ने काव्य रचना के प्रसङ्ग में प्रकृति के अनन्त गुणों का समवेत स्वर से वर्णन किया है, क्योंकि कवि जानता है कि प्रकृति हमारे जीवन का ठोस आधार है। उसके साथ छेड़छाड़ करना उचित नहीं है। अतः अनेक स्थलों पर ऋतुओं, वनों, सरोवरों और नदी-नालों का यथेष्ट वर्णन जीवन्धरचम्पू में किया गया है। विविध ऋतुओं में पैदा होने वाले पुष्पो-फलों और लता-वृक्षों का बहुतायत में वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि सुखी-जीवन जीने के लिये सर्वत्र अनेक वनस्पतियों का होना आवश्यक है। वनों की सघनता के वर्णन का व्यंग्यार्थ यह है कि हम वनों को कटने और काटने से बचायें, क्योंकि इन सघन वनों के कारण ही वर्षा होती है, जिससे प्राणिमात्र के लिये उपयोगी वनस्पतियाँ समृद्ध होती हैं। इसी तरह वनचर जीवों के वर्णन का अर्थ है हमारी वन सम्पदा की वृद्धि और उनके साथ सह-अस्तित्व के विकास की अवधारणा।

सरोवरों एवं नदी-नालों की स्वच्छता के वर्णन का अर्थ है कि हम जल की स्वच्छता बनाये रखें। उनमें विचरण करने वाले जलचरों के वर्णन का अर्थ है कि वे जलचर मानवकृत गन्दगी का सेवन करके जल को स्वच्छ बनाये रखते हैं। अतः उनका संरक्षण आवश्यक है। वे हमारे पर्यावरण को सन्तुलित बनाने में सहायक हैं।

जीवन्धरचम्पू में ऐसे प्रसङ्गों का यथेष्ट संख्या में विवेचन किया गया है। जब रत्नों के व्यापार में कुशल श्रीदत्त रत्नद्वीप के लिये प्रस्थान करता है तो मार्ग में उसने जो समुद्र देखा वह अत्यन्त रमणीय था। महाकवि हरिचन्द्र उस समुद्र की स्वच्छता एवं समृद्धि का वर्णन करते हुये कहते हैं कि - 'वह समुद्र फूटी हुई सीपों के मोतियों के समूह से व्याप्त था, इसलिये ऐसा जान पड़ता था मानो मकर, मीन और कुलीर-

राशि से सुशोभि दूसरा आकाश तल ही हो। वह समुद्र फेन के टुकड़ों के बहने ऐसा जान पड़ता था मानो रात्रि के समय उसने जो चन्द्रमा की किरणों के समूह का पान किया था उसे ही फेन के बहाने उगल रहा हो। कभी अत्यन्त चञ्चल कुलाचलों के समान तरङ्गों के संगठन का अनुभव करने वाले तिमि-तिमिङ्गल जाति के मच्छ पुत्रों की तरह उसकी सेवा कर रहे हों।..... कहीं पर विस्तृत मूँगा के वनों की पंक्ति से सुशोभित होने के कारण ऐसा जान पड़ता था मानो वड़वानल को ही प्रत्यक्ष दिखला रहा हो। वह कहीं सामने आई हुयी गङ्गा, सिन्धु आदि प्रमुख नदियों को अपनी तरङ्ग रूपी भुजाओं द्वारा आलिङ्गन कर रहा हो।<sup>१०</sup>

**जीवन्धरचम्पू** में अन्य विभिन्न स्थलों पर समागत विजयार्थ पर्वत का वर्णन<sup>११</sup>, वसन्त ऋतु का वर्णन<sup>१२</sup>, वन क्रीड़ा<sup>१३</sup> और जलक्रीड़ा<sup>१४</sup> आदि के माध्यम से प्रकृति के वैभव का दिग्दर्शन कराकर महाकवि हरिचन्द्र ने यह शिक्षा दी है कि हमें अपने पर्यावरण को सुरक्षित रखने हेतु इन प्राकृतिक संसाधनों की सतत् रक्षा करनी चाहिये।

काव्यों में अधिक से अधिक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन का एक हेतु यह है कि हमारी प्रकृति जितनी समृद्ध होगी मानव जीवन उतना ही सुख समृद्धि पूर्ण होगा। **जीवन्धरचम्पू** में उल्लिखित श्रावकाचार<sup>१५</sup> और श्रमणाचार<sup>१६</sup> का तात्पर्य यह है कि मानव को संयम का पालन करना चाहिये, जिससे जनसंख्या सीमित रहे और प्रकृति उससे कई गुनी समृद्ध हो तथा फल-फूल और वनस्पतियाँ प्रत्येक मानव को आवश्यकता से भी अधिक उपलब्ध हों। मानव-जीवन प्रकृति के निकट हो। इससे हमारे जीवनोन्नयन के लिये सुख-शान्ति का साधक आध्यात्मिक वातावरण तैयार होगा। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ मानव जीवन के अनुकूल होंगी। साधनों की अधिकता के कारण परस्पर द्वन्द्व की प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा। मानव-मानव में सौहार्द बढ़ेगा। अधिकारों के साथ कर्तव्य पालन की भावना सुदृढ़ होगी। अनावश्यक मारकाट से मानव मुक्त होगा और जैनधर्म के मूल सिद्धान्त अहिंसा को बल मिलेगा।

काव्यों में चारित्र सम्पन्न अथवा संयम का पालन करने वाले महापुरुषों का चरित्र-चित्रण करने से हमें उन जैसा चरित्रवान् अथवा संयमपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है। **जीवन्धरचम्पू** में जीवन्धर स्वामी का चरित्र जहाँ हमें संयम पूर्ण जीवन जीने की कला सिखलाता है वहीं मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्यभूत परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हेतु भी हमारा मार्गदर्शन करता है।

**जीवन्धरचम्पू** की सम्पूर्ण कथा का मूल एक ओर काष्ठांगार की लोभ प्रवृत्ति है और दूसरी ओर है उसके निवारण के लिये जीवन्धर स्वामी का सतत् संघर्ष। अतः जीवन के अन्तिम क्षणों में भारतीयविद्या के मूलभूत स्वरूप 'योगेनान्ते तनु त्यजाम्'

की भावना को मूर्त रूप देने का संकल्प करना चाहिये और सबसे अन्त में जीवन्धर स्वामी की तरह वैराग्य धारणकर मुक्ति प्राप्त करना चाहिये, जो आन्तरिक पर्यावरण की शुद्धता का चरम निकष है।

**सन्दर्भ :**

१. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् - काव्यादर्श १/११।
२. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते साहित्यदर्पण।
३. जीवन्धरचम्पू (सम्पा० - पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य), १/९।
४. जीवन्धरचम्पू, १/३३-३४।
५. वही, १/३५।
६. वही, १/७०-७३।
७. वही, २/१९।
८. वही, ११/२२।
९. वही, ११/२४-२६।
१०. वही, ३/३।
११. वही, ३/७-१०।
१२. वही, ४/३।
१३. वही, ४/६-११।
१४. वही, ४/१७।
१५. वही, ७/१५-१८।
१६. वही, ७/१३।



## जैन दर्शन में अनेकान्तवाद

डॉ० श्रीमती शारदा सिंह\*

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने वाली दो प्रधान धाराओं में जैन और बौद्ध अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये दोनों श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन दोनों ही धाराओं में सापेक्षतावाद के सिद्धान्त की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। बौद्ध दर्शन में इसे विभज्यवाद और जैन दर्शन में इसकी परिणति अनेकान्तवाद में देखी जा सकती है। अनेकान्तवाद इन दोनों का व्यापक या विकसित रूप है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण और निर्गुण के वाद-विवाद का तथा ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्तता की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी दृष्टि को व्यापकता प्रदान की। भारत में उस युग के दर्शनों और धर्मों के परस्पर झगड़ों की ओर इन संघर्षों से होने वाले राग-द्वेष को देखते हुए इनके शमन के लिये महावीर ने अनेकान्तवाद का संदेश दिया। विभिन्न धर्मों और दर्शनों में निहित सत्यों को स्वीकार करना और उनमें परस्पर समन्वय करना अनेकान्त है।

वास्तव में अनेकान्तवाद के उद्भव के पीछे जैन आचार्यों की दूरदृष्टि रही है। उनके अनुसार दार्शनिक दृष्टि संकुचित न होकर विशाल होनी चाहिए। जितने भी धर्म वस्तु में प्रतिभाषित हैं उन सबका समावेश उस दृष्टि में होनी चाहिए। यह ठीक है कि हमारा दृष्टिकोण किसी समय किसी एक धर्म पर विशेष बल देता है। किसी समय किसी दूसरे धर्म पर। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु में अमुक धर्म है और कोई धर्म नहीं है। वस्तु का पूर्ण विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि वास्तव में हम जिन धर्मों का निषेध करना चाहते हैं वे सब धर्म वस्तु में विद्यमान हैं। इस दृष्टि को सामने रखते हुए वस्तु अनन्त धर्मात्मक कही जाती है। वस्तु स्वभाव से ही ऐसी है कि उसका अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है और अनेक दृष्टियों से विचार करने पर ही वस्तु के यथार्थ ज्ञान और पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

अब अनेकान्त शब्द को लें इसकी व्युत्पत्ति सप्तभंगी तरंगिणी<sup>१</sup> में इस प्रकार है 'अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् वादे सः अनेकान्तवादः' यहाँ अन्त शब्द धर्म वाचक है। सप्तभंगी तरंगिणी<sup>२</sup> में कहा गया है अनेकान्तत्वम् नाम् अनेकधर्मात्मकत्वम्। वात्स्यायनन्यायभाष्य में भी अन्त शब्द का यही अर्थ किया गया है सत्यभिचारः

\* पूर्व शोध छात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

अनैकान्तिकः<sup>३</sup>॥ इस प्रकार अनेकान्त शब्द का आशय है अनेक अन्तों वाला (अनेक+अन्त)। अनेक का अर्थ है एक से अधिक और अन्त का अर्थ है धर्म। इस प्रकार अनेकान्त का अर्थ है एक से अधिक यानि अनन्तधर्मात्मक होना “अनन्तधर्मात्मकं वस्तु”<sup>४</sup>। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है किन्तु उन सबका एकसाथ कथन संभव नहीं है। क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है। वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होता है। वस्तु में सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी क्षमता से विद्यमान रहते हैं। उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि वस्तु में तो उन पारस्परिक विरोधी धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है। वे तो उस वस्तु में अनादि काल से विद्यमान हैं और अनन्त काल तक रहेंगे।<sup>५</sup>

जैन दर्शन में अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् संसार की सभी वस्तुएं अनन्त धर्म युक्त होती हैं। उनमें अनन्त धर्म, अनन्त पर्यायों अपेक्षा भेद से सदैव विद्यमान रहती हैं। हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि वस्तु की अनेकान्तात्मकता और अनन्तधर्मता दोनों दो बातें हैं। वस्तु में अनन्तधर्मता उसके अनन्त धर्म होने की ओर और अनेकान्तता उनमें अनन्त धर्मों के होने के साथ-साथ विरोधी धर्म युगलों के होने का संकेत करते हैं। पं० वंशीधर के अनुसार “वस्तु में परस्पर दो विरोधी धर्मों का पाया जाना जिनमें अनेक शब्द का तात्पर्य दो संख्या से है।”<sup>६</sup> इस प्रकार अनेकान्तवाद का अर्थ होगा वस्तुओं की अनन्त धर्मता को प्रकट करना। अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में अनेक धर्मों को स्वीकार करना या वस्तु की अनेकान्तता को भी सूचित करना।

इस प्रकार जैन दर्शन में दृष्टि से या अपेक्षा से वस्तु अनन्त धर्मात्मक सिद्ध होता है। पदार्थ भाव रूप भी है और अभाव रूप भी और इसी भाव-अभाव, नित्य-अनित्य का समन्वय करना ही जैन दर्शन में अनेकान्तवाद कहलाता है। यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी एकान्त हो जायेगा। अतः जैन दर्शन में अनेकान्तवाद में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है।<sup>७</sup> जैन दर्शन न सर्वथा एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित एकान्तवादी और कथंचित अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है। आचार्य समंतभद्र ने कहा है

अनेकान्तोऽप्येकान्तः प्रमाणनयसाधनः।<sup>८</sup>

अनेकान्तः प्रयावत्तेत देकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

अर्थात् - प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त भी अनेकान्त है। अनेकान्त प्रमाण की दृष्टि से और अर्पित नय की दृष्टि से एकान्त है। जो वस्तु अनेकान्त है, वह किसी अपेक्षा से एकान्त भी है। श्रुतज्ञान और नय से निरपेक्ष वस्तु नहीं दिखायी पड़ती। श्रुत ज्ञान की अपेक्षा से अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा से एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता।

हाथी का पैर खंभे के समान ही है - यह कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है। अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है। अतः 'भी' लगाना जरूरी है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का पिण्ड है तथापि वस्तु में संभाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असंभाव्यमान नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्व के समान चेतनत्व और अचेतनत्व धर्मों की संभावना का प्रसंग आयेगा।

अनेकान्तवाद के सन्दर्भ में यह तथ्य विचारणीय है कि हमें अनेकान्तवाद को स्याद्वाद कहने की भूल नहीं करनी चाहिए। दोनों समान दिखने के बाद भी कुछ अन्तर लिए हुए हैं। सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य आदि एकान्तों का निरसन करके वस्तु को कथंचित अनित्य आदि पक्ष युक्त होना एकान्त है और वस्तु के उस अनेकान्तमक अर्थ के कथन करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है।<sup>९</sup> अर्थात् अनेकान्तवाद की भाषायी अभिव्यक्ति का रूप ही स्याद्वाद है या स्याद्वाद वह प्रणाली है जिसके द्वारा अनेकान्तवाद का समर्थन किया जाता है किन्तु फिर भी उन पर सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए तो स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में अन्तर प्रतीत होता है। जहाँ अनेकान्तवाद वस्तु की अनेकान्तमकता का द्योतक है वहीं स्याद्वाद वस्तु की उस अनेकान्तमकता को द्योतित करते हुए एकान्तिक भाषा दोष का परिमार्जन करता है। इस परिमार्जन के लिये स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में सम्बन्ध होना आवश्यक प्रतीत होता है। इसे हम आधार-आधेय का सम्बन्ध भी कह सकते हैं। अनेकान्तवाद स्याद्वाद का आधार है और स्याद्वाद अनेकान्तवाद की भाषायी अभिव्यक्ति की एक शैली है। यदि इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया जाए तो अनेकान्तवाद की भाषायी अभिव्यक्ति किसके माध्यम से होगी? स्याद्वाद किस सिद्धान्त को अभिव्यक्त करेगा और वह किस पर आधारित होगा। वस्तुतः इसके अभाव में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों अपूर्ण रह जायेंगे।<sup>१०</sup> अनेकान्तवाद स्याद्वाद का इस अर्थ में पर्यावाची है कि ऐसा वाद-कथन अनेकान्तवाद कहलाता है, जिसमें वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य गौण भाव से होता है। यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं फिर भी 'स्याद्वाद' शब्द निर्दिष्ट भाषा-शैली का प्रतीक बन गया। अनेकान्त दृष्टि तो ज्ञान रूप है। अतः वचन रूप स्याद्वाद से उसका भेद स्पष्ट है। स्याद्वाद नय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा-पद्धति है और स्याद्वाद की अभिव्यक्ति सात प्रकार के वचन विन्यास अथवा नयों से होती है। चूँकि द्रव्य के बारे में हमारी जिज्ञासा सात प्रकार से होती है। अतः प्रश्न



भी सात प्रकार के होते हैं। प्रश्नों के सात प्रकार होने के कारण उत्तर रूप कथन भी सात प्रकार का होता है। अतः द्रव्य इन उपर्युक्त कारणों से सात भेद वाला होता है। सप्तभंगी अथवा स्याद्वाद में नय प्रकरण भी महत्वपूर्ण है। जैन आगमों में मुख्य रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से तथा द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के द्वारा विचार करने की पद्धति अपनायी गयी है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयों से भी विचार किया जाता है। इन दो नयों के माध्यम से भी अनेकान्त की अभिव्यक्ति की गयी है। अब प्रश्न यह होता है परमार्थ तो है ही फिर व्यवहार की क्या आवश्यकता? इसका समाधान है कि जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति अनार्य भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता, उसी तरह व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। परमार्थ का उपदेश देने के लिये व्यवहार नय का आश्रय आवश्यक है,<sup>११</sup> क्योंकि निश्चय नय वस्तु के आन्तरिक स्वरूप में ही विचार करता है। किन्तु व्यवहार नय उसके बाह्य स्वरूप की ध्यान में रखते हुए वस्तु का विचार करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में दृष्टि भेदों के नय नाम दिया गया है। यह शैली अन्य दर्शनों में भी अपनायी गयी है, जैसे अनेकान्त दर्शन में सत् के स्वरूप को समझाने के लिये इन दो नयों का प्रयोग हुआ वैसे वेदान्त दर्शन में भी इन शैलियों का खुलकर प्रयोग हुआ। वेदान्त की व्यवहारिक और परमार्थिक दृष्टि, निश्चय एवं व्यवहार नाम का रूपान्तर है। एकान्त दर्शनों में सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन में ये दो दृष्टियाँ दिखायी देती हैं। उनका नाम है - नीतार्थ सूत्र और नेपार्थ सूत्र<sup>१२</sup>। नयों का एक प्रकार द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय भी है इसका कारण है निश्चय नय द्रव्याश्रित है और व्यवहार नय पर्यायाश्रित है। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य विषयक है और पर्यायार्थिक नय पर्यायविषयक। द्रव्यार्थिक नय के ३ प्रकार तथा पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार हैं। इस प्रकार इसकी संख्या सात हो जाती है। इन भंगों में से प्रथम चार अस्ति, नास्ति एवं अव्यक्त भंग मौलिक हैं उन्हीं के आधार पर शेष भंगों की योजना की गयी है।

स्याद्वाद के भंगों में सभी विरोधी धर्म युगलों को लेकर सात भंगों की (न कम, न अधिक की) जैन दार्शनिकों द्वारा की गयी योजना का कारण यह है कि **भगवती सूत्र** में त्रिप्रदेशी और उससे अधिक प्रदेशी स्कन्धों के भंगों की संख्या मूल सात भंग से ही है जो जैन दार्शनिकों ने अपने सप्तभंगी के विवेचन में स्वीकृत किये हैं। जो अधिक भंग संख्या बतायी गयी है वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं किन्तु एक वचन-बहुवचन के भेद की विविक्षा के कारण ही है। यदि वचन भेद कृत संख्या वृद्धि को निकाल दिया जाये तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं। अतएव वर्तमान में प्रचलित स्याद्वाद सप्तभंगी आगमों में कहे गये सप्त भंगों के ही रूप हैं। सकलादेश और विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभंगों में विद्यमान है। आगमों के अनुसार प्रथम तीन भंग संकलादेशी भंग हैं और शेष विकलादेशी हैं।<sup>१३</sup>

अतः हम कह सकते हैं कि अस्ति-नस्ति, भाव-अभाव, शाश्वत-उच्छेद, नित्य परिणाम का समन्वय करना अनेकान्तवाद की ही देन है। जैन दर्शन का तत्त्व निर्णायक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण की विशेषता यही है कि इसमें विरोधी धर्म भी समाहित हैं और इन धर्मों की अभिव्यक्ति स्यात् से ही संभव है। हालाँकि आधुनिक दार्शनिक और वर्तमान वेदान्ती भी अनेकान्तवाद की आलोचना करते हैं किन्तु हम अगर व्यापक दृष्टिकोण डालें तो समाज और राष्ट्र में व्याप्त हिंसा, असन्तोष, तनाव, भेद-भाव, आपसी वैमनस्य आदि का समाधान काफी हद तक अनेकान्तवाद से ही हो सकता है। अनेकान्तवाद को अपना कर, उसे चित्त में आत्मसात् करके ही हम संसार में शान्ति स्थापित कर सकते हैं। वास्तव में अगर देखा जाए तो अनेकान्तवाद का प्रतिपादन जैन दर्शन की उदारता का परिचायक है।<sup>१४</sup> किसी एक वाद का शरण ग्रहण करना संकीर्णता है, किन्तु अनेकान्तवाद से विरोधी धर्म का समन्वय करना जैन दर्शन की विशाल दृष्टि को दर्शाता है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ :

- १-२. सप्तभंगी तरंगिणी, सम्पा० विमलदास, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास १९७७ ई०; पृ० ३०।
३. न्यायवार्त्तिक, वात्स्यायन, पृ० १७०।
४. भिखारी राम यादव, स्याद्वाद और सप्तभंगी नय, वाराणसी १९८९, पृ० ३५।
५. अनेकान्तवाद - एक समीक्षात्मक अध्ययन, डा० राजेन्द्र लाल डोसी, सं०, डा० गयाचरण त्रिपाठी, इलाहाबाद १९८२ ई०, पृ० ६२।
६. श्रयणोपासक, संपा०- जुगराज सेठिया, वर्ष १९६९, अंक १०, पृष्ठ ६०२।
७. सन्मति तर्क, आचार्य सिद्धसेन, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, गाथा २७, पृ० ६३८।
८. स्वयंभू स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, सं० धर्मचन्द्र शास्त्री व कुमारी प्रभा पाटनी, प्रकाशक - भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद १९९५।
९. अनेकान्तात्मकार्थ कथन स्याद्वादः, न्यायकुमुदचंद्र लघीयस्त्रयटीका, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता १९३९, श्लोक ६२।
१०. भिखारीराम यादव, पूर्वोक्त, पृ० ७९।
११. समयसार, कुन्दकन्दाचार्य, गाथा - ११
१२. अंगुत्तरनिकाय, प्रकाशक-महाबोधि सभा कलकत्ता, १९६३।
१३. युक्तानुशासन, अनु० - जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९५१, श्लोक ४७, पृ० १०८, १-११५।
१४. षड्दर्शनसमुच्चयटीका, पृ० २२२।



## श्रमण आचार व्यवस्था-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नीतू द्विवेदी\*

सांसारिक माया-मोह-तृष्णा का परित्याग कर वास्तविक सत्य की गवेषणा में मोक्ष हेतु प्राचीन भारतीय मनीषियों ने दो मार्गों का अनुसरण किया, प्रथम प्रवृत्तिमार्ग एवं द्वितीय निवृत्तिमार्ग। दोनों का लक्ष्य एक ही था, जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति करना। प्रवृत्तिमार्गी जहां सांसारिक कर्मों में प्रवृत्ति होते हुए भी उनमें कर्म-फलों से विरक्त होकर अर्थात्, सांसारिक बन्धनों से विरक्त होकर स्वयं को परमात्मा अथवा सत्य समागम के योग्य बनाना उनका लक्ष्य था, वहीं निवृत्तिमार्गी सांसारिक कार्य एवं बन्धनों से पूर्णतः निवृत्त थे, वे गृह-मोह से विरक्त हो ज्ञान की खोज में एकाकी या स्वतुल्य अन्य समूह अथवा संघों में सत्संगी रूप में भ्रमण एवं रमण करते थे। ये निवृत्तिमार्गी नामान्तर से मुनि, यति, भिक्षु, तपस्वी, परिव्राजक, संन्यासी अथवा श्रमण कहे गये। इनके आचार - विचार का उल्लेख वैदिक संहिताओं में भी प्राप्त होता है। जिससे ज्ञात होता है कि प्राक् - ऋग्वैदिक काल से ही आर्य किन्तु अवैदिक श्रमण परम्परा विद्यमान थी।<sup>१\*</sup> जिसके समान्तर भारतेरानी भाषा परिवार में भी इसके सूत्र मिलते हैं।

ऋग्वेद के दशम मंडल के केशी सूक्त में मुनि का उल्लेख प्राप्त होता है-  
मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।

वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षता।।

उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।

शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि-पश्यथा।<sup>१\*</sup>

यहाँ उल्लिखित 'वातरशना' शब्द जिसका अर्थ 'दिगम्बर' ही है। वायु जिसकी मेखला है अथवा दिशाएं जिनका वस्त्र है। शब्द के भाव एक ही हैं। वैदिक परम्परा में आध्यात्म के प्रतीक 'ऋषि' कहलाते थे। जिनका उल्लेख ऋग्वेद में अनेकशः हुआ है। श्रमण परम्परा में यही 'मुनि' कहलाते थे, जिनका नामोल्लेख ऋग्वेद में वातरशनामुनि के रूप में हुआ है। ये वातरशनामुनि वैदिक ऋषियों से कुछ भिन्न थे। वैदिक ऋषि 'ऋषि' होने के साथ - साथ गृहस्थ होते थे, यज्ञादि कर्मकाण्डों में आस्थावान रहते थे तथा यजमानों

\* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ०प्र०)

से धन-सम्पत्तिका दान भी स्वीकार करते थे। जबकि, वातरशना-मुनि इन सभी क्रियाओं से विरक्त समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुरुष, धन-सम्पदा आदि के साथ-साथ वस्त्रों का भी परित्याग कर भिक्षावृत्ति में संलग्न रहते थे तथा शरीर के संस्कार में अस्नान, अदन्तधावन द्वारा मल धारण किया करते थे। ये मौन वृत्ति का पालन करते थे और देव ध्यान की अपेक्षा आत्मध्यान में रत रहते थे।

ऋग्वेद में उल्लिखित केशी का साम्य **भागवतपुराण** के ऋषभ<sup>२</sup> और वातरशना श्रमण ऋषि तथा आदि तीर्थंकर केसरिया नाथ ऋषभदेव से प्रतीत होता है।<sup>३</sup> एक ही स्थान पर **ऋग्वेद** में दोनों का साथ - साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है।<sup>४</sup> **अथर्ववेद** के १५ वें काण्ड में 'ब्राह्मणों' का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>५</sup> यहाँ यद्यपि उनका अत्यन्त रहस्यात्मक व्यक्तित्व चित्रित है तथापि उससे प्रतीत होता है कि वे सामान्यजनों के मध्य विचरने वाले यायावर थे, राजा के घर में भी इनका स्वागत होता था। अग्निपूजकों का भी इनसे सम्पर्क था तथा 'ब्राह्मणों' की उपस्थिति में उनकी अनुमति पर ही उनके यहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित की जा सकती थी।<sup>६</sup> वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र ब्राह्मणों का उल्लेख है।<sup>७</sup>

'ब्राह्मण' के स्वरूप के विषय में विद्वानों में पर्याप्त विवाद रहा है और भिन्न-भिन्न मतों द्वारा इन्हे यायावर, संन्यासी, देवता विशेष के पूजक, आर्य, अनार्य आदि कहा गया है।<sup>८</sup>

सामान्यतः राथ महोदय का मत स्वीकार किया जा सकता है कि अथर्ववेदीय ब्राह्मण श्रमणशील परिव्राजक अथवा पवित्र यायावर के रूप में उल्लिखित हैं जो कहीं तो अतिमानवीय शक्ति के रूप में सम्मानित हैं और कहीं भोजन और आवास की तलाश में इतस्ततः घूमते वर्णित हैं।<sup>९</sup> **पंचविश ब्राह्मण** के सन्दर्भ से भी ब्राह्मणों का नाग्न्य भाव स्पष्ट है। इनकी घुमक्कड़ वृत्ति और भोजन आदि की आवश्यकता को देखते हुए उन्हें परिव्राजक के रूप में समीकृत किया जा सकता है।

मन्त्र एवं ब्राह्मण साहित्य के मुनि, यति, ब्राह्मण एवं वातरशना ऋषि सम्बन्धी उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्टतः विदित है कि पूर्व वैदिक काल से ही प्रवृत्तिमार्गी यज्ञीय परम्परा से परे निवृत्तमार्गी आर्दश वाले मनीषियों का अस्तित्व विद्यमान था। तथा जैन-बौद्ध श्रमण परिव्राजक परम्परा जो बुद्ध तथा महावीर के काल में और पल्लवित एवं पुष्पित हुई, का सूत्र किसी न किसी रूप में उस प्राचीन काल तक पहुंचता है। इनकी उत्पत्ति के प्रमाण वैदिक साहित्य में विरल अवश्य हैं परन्तु इनकी जीवन्त और विकासशील परम्परा संशक्ति नहीं है। संभाव्य है कि, वैदिक संस्कृति में उपनिषद् चिन्तन प्राचीन मुनि-श्रमणों के प्रभाव में ही विकसित हुआ होगा।

जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा का सम्बन्ध उस भारतीय संस्कृति से है जिसका उदय सामान्यतः वैदिक प्रवृत्तिमार्ग, यज्ञ, बलि, आदि कर्मकाण्डों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आरण्यक और उपनिषदों के उदय से मान्य है, कारण कि, यज्ञों की आलोचना सर्वप्रथम उपनिषदों में ही की गयी। जिसके अनुसार यज्ञ रूपी नौकाएं अदृढ़ होने के कारण आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यज्ञ आदि कर्म-काण्डों को नयी व्याख्या का रूप देकर उन्हें परम्परा की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुरूप बनाने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों ने किया।

उपनिषदों के पश्चात् कठोर तपश्चर्या और वैराग्य को ही जीवन का परम् लक्ष्य मानने वाले श्रमण सम्प्रदायों की गिनती में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। ऐसा माना जाता है कि इन सभी सम्प्रदायों के साधु-संत गृह त्यागकर वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे तथा सभी हिंसायुक्त यज्ञों से इतर मानव के समक्ष ऐसे आचार-विचार प्रस्तुत करने की अपेक्षा करते थे जिससे न सिर्फ मानव का कल्याण हो अपितु सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षार्थ जो हितकर एवं श्रेयस्कर हो।

बौद्ध साहित्य, मेगास्थनीज की **इण्डिका**, अशोक के अभिलेखों में भी श्रमण परम्परा का उल्लेख मिलता है और वहाँ ब्राह्मण-श्रमण संयुक्त पद प्रयुक्त है जिससे प्रकट होता है कि श्रमण परम्परा एक प्रबल आध्यात्मिक परम्परा थी और ब्राह्मण संस्कृति एवं परम्परा से कुछ भिन्न होते हुए भी उससे कुछ बिन्दुओं में समान थी।

ब्राह्मणों तथा श्रमणों के व्रतों की समानता के आधार पर यह माना गया कि वस्तुतः बौद्ध एवं जैन दोनों धर्म ब्राह्मण धर्म के संन्यासाश्रम से ही निष्पन्न हैं तथा श्रमण परम्परा से चतुराश्रम परम्परा प्राचीन है।<sup>१०</sup> 'हर्मन जैकोबी' तथा 'काणे'<sup>११</sup> प्रभृति विद्वान् इस मान्यता से साम्य रखते हैं कि, बौद्ध एवं जैन श्रमण दोनों ही सम्प्रदाय वैदिक धर्म के ऋणी हैं। धर्म-सूत्रों में वर्णित पंचव्रत-अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह क्रमान्त से वही पंच महाव्रत हैं जिनका अनुसरण जैन श्रमणों को करना पड़ता है तथा बौद्धों को भी पंचशीलों का पालन इन्हीं के अन्तर्गत करना पड़ता है। इतना ही नहीं हिन्दू धर्म में अवतारवाद की कल्पना के अन्तर्गत प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव को भगवान् विष्णु के अवतार नाभि पुत्र ऋषभ के रूप में माना गया है जिनकी उत्पत्ति स्वयं उपशमशील निवृत्त परायण महामुनियों को भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्मों की शिक्षा देने के निमित्त हुई।<sup>१२</sup>

श्रमण परम्परा में शुद्ध आचार और विचार का बड़ा ही महत्व है। आचार बिना विचार की प्रेरणा संभव नहीं है और विचार को व्यवहारिक रूप देने के लिए आचार की अनिवार्यता होती है। भारतीय दर्शन में आचार और विचार दोनों को समान महत्व

दिया गया है। आचार एवं विचार को ही प्रकारान्तर से क्रमशः व्यवहार और सिद्धान्त अथवा क्रिया एवं ज्ञान अथवा धर्म एवं दर्शन कहा गया है।

भारतीय संस्कृति में श्रमण परम्परा की अनेक शाखाएं रही हैं किन्तु वर्तमान में केवल दो शाखाएं ही दृष्टिगत होती हैं- जैन श्रमण परम्परा एवं बौद्ध श्रमण परम्परा। इन परम्पराओं के मूल में इनका आचार विधान है। जिनके प्रमुख तत्वों की चर्चा संक्षेप में क्रमशः निम्नवत् है -

श्रमण आचार जैन संस्कृति का मूल आधार तथा संयममय योगपूर्ण जीवन का मूल मंत्र है। यही कारण है कि साधु या मुनि योग के सम्पूर्ण स्तरों का सम्यक् रूप से पालन करने में समर्थ होता है। योग हेतु किन-किन नियमों, उपक्रमों आदि की अपेक्षाएं होती हैं वे अनायास ही अभ्यास क्रम में प्राप्त हो जाती हैं। पूर्व विदित है कि श्रावक देशवर्ती होता है और श्रमण सर्वदेशव्रती या सकल चारित्र का पालन-कर्ता। श्रमण के २७ मूल गुण<sup>१३</sup> और ७० उत्तर गुण वर्णित किए गए जिनका पालन उसके लिए नितान्त आवश्यक है। इन मूल गुणों एवं उत्तर गुणों में श्रमण की चर्या समाहित हो जाती है। तथापि क्रमशः पंचमहाव्रतों, त्रिगुप्तियों, पंचसमितियों आदि का वर्णन समीचीन प्रतीत होता है।<sup>१४</sup>

**पंचमहाव्रत** - श्रमण के पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं<sup>१५</sup> -

**१- सर्वप्राणातिपातविरमण** (अहिंसा व्रत) - यह प्रथम महाव्रत है। श्रमणों को अहिंसा का सम्पूर्णतया पालन तीन योग एवं तीन करण से करना होता है। इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं - ईर्या समिति,<sup>१६</sup> मन की अपापकता,<sup>१७</sup> वचन शुद्धि,<sup>१८</sup> भण्डोपकरणसमिति और अवलोकितपानभोजन।

**२- सर्वमृषावाद विरमण**<sup>१९</sup> (सत्य व्रत) - श्रमण को अहिंसा की भाँति ही सत्य महाव्रत का पालन भी तीनों योग एवं करणों से करना होता है इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं - अनुवीची भाषण, क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय त्याग और हास्य त्याग।

**३- सर्वअदत्तादान विरमण** (अस्तेय व्रत) - यह अचौर्य महाव्रत है। बिना अनुमति से श्रमण को एक तिनका भी ग्रहण करना वर्जित है। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं - विचारपूर्वक वस्तु या स्थान की याचना, गुरु की आज्ञा से भोजन, परिमित पदार्थ ग्रहण, पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा और साधार्मिक अवग्रह याचना।

**४- सर्वमैथुन विरमण** (ब्रह्मचर्य व्रत) - अन्य महाव्रतों की भाँति ही इस महाव्रत का पालन साधु को मन, वचन, काय एवं कृतकारित अनुमोदना पूर्वक करना

होता है। इस महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं - स्त्रीकथात्याग, मनोहरक्रियावलोकनत्याग, पूर्वव्रतविलासस्मरणत्याग, प्रणीतरसभोजनत्याग और शयनआसनत्याग।

**५- सर्वपरिग्रह विरमण (अपरिग्रह व्रत)** - इसके अनुरूप श्रमण को सभी प्रकार के अंतरंग एवं बाह्य परिग्रह से मुक्त रहना चाहिए। परिग्रहों से मन क्लुषित होता है। अशान्ति, भय, तृष्णा बढ़ती है और मन एकाग्र नहीं हो पाता जिससे अन्य व्रतों के पालन में अड़चनें आती हैं। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएं हैं जो पंचेन्द्रियों से सम्बन्धित हैं - श्रोतेन्द्रिय में अनासक्ति, चक्षुरिन्द्रियों में अनासक्ति, घ्राणेन्द्रियों में अनासक्ति, रसेन्द्रियों में अनासक्ति और स्पर्शेन्द्रियों में अनासक्ति।

**गुप्तियाँ एवं समितियाँ (अष्ट प्रवचनमाता)** - मानसिक एकाग्रता एवं विशुद्धि हेतु अशुभ प्रवृत्तियों का शमन एवं शुभ प्रवृत्तियों का आचरण आवश्यक है। मन की विशुद्धता एवं एकाग्रता श्रमण के महाव्रतों की रक्षा एवं पोषण करती हैं तथा आत्मिक उन्नति द्वारा मोक्ष की स्थिति तक पहुंचाने में सहायक होती हैं। इसके लिए गुप्तियों एवं समितियों का विधान है। गुप्तियाँ मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती और समितियाँ चारित्र प्रवृत्ति की रक्षा करती हैं।<sup>२०</sup> वस्तुतः गुप्ति एवं समिति से एकाग्रता प्राप्त होती है तथा शुभ प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होने का अभ्यास प्रबल बनता है। तीन गुप्तियों एवं पाँच समितियों का संयुक्त नाम अष्ट प्रवचनमाता है।<sup>२१</sup>

**अ- गुप्तियाँ** - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक त्रियोग को अपने-अपने मार्ग में स्थापित करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं - मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

**१- मनोगुप्ति** - संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त मन को रोकना मनोगुप्ति है इसके चार भेद हैं<sup>२२</sup> - सत्य, मृषा, सत्यामृषा एवं असत्यामृषा।

**२- वचनगुप्ति** - असत्य भाषाणदि से निवृत्त होना या मौन धारण करना वचन गुप्ति है। इसके चार भेद हैं - सत्यवागगुप्ति, मृषावागगुप्ति, सत्यामृषावागगुप्ति और अस्त्यावागगुप्ति।

**३- कायगुप्ति** - संरम्भ, समारम्भ और आरम्भपूर्वक कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति है।

**ब- समितियाँ** - संयम में दृढ़ता एवं चारित्र-विकास के लिए महाव्रतों की रक्षा के लिए समितियों का विधान महत्वपूर्ण है। समितियाँ पाँच हैं - ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिपेक्ष समिति तथा परिष्ठापना या व्युत्सर्ग समिति

**१- ईर्यासमिति** - मार्ग, उद्योग, उपयोग एवं आलम्बन की शुद्धियों का आश्रय लेकर गमन करने में ईर्या समिति का व्यवहार किया जाता है।<sup>२३</sup>

२- **भाषासमिति** - संयतमुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता, विकथा आदि आठ दोषों से रहित यथासमय परिमित एवं निर्दोष भाषा बोले।<sup>२४</sup>

३- **एषणासमिति** - आहार आदि की गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा में आहार आदि के उद्गम, उत्पादन आदि दोषों का निवारण करना एषणासमिति है।<sup>२५</sup>

४- **आदाननिक्षेपसमिति** - सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार के उपकरणों को आँखों से प्रतिलेखना तथा प्रमाणार्जन करके लेना और रखना आदान निक्षेप समिति है।<sup>२६</sup>

५- **परिष्ठापना या व्युत्सर्ग समिति** - जीव-जन्तु रहित भूमि पर मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करना परिष्ठापना या व्युत्सर्ग समिति है।<sup>२७</sup>

इनके अतिरिक्त **षडावश्यक** (सामायिक, चतुर्विंशतिजिन स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोक्तसर्ग, प्रत्याख्यान), **दसधर्म** (क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य) **बारह अनुप्रक्षाएं** (अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशूची, आम्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधि दुर्लभ) तथा सल्लेखना भी जैन श्रमण आचार विधान के अति प्रमुख तत्व हैं।

इसी प्रकार बौद्ध श्रमण आचार व्यवस्था के भी कुछ प्रमुख तत्व हैं जिनमें हैं चार आर्य सत्य (दुःख, दुःख समुदाय दुःख निरोध तथा दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा) चतुर्थ आर्य सत्य दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का अपर नाम आर्य अष्टांगिक मार्ग है। ये **'अष्टांगिक मार्ग'** (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि) बौद्ध धर्म की आचार-मीमांसा के चरम साधन हैं। इस मार्ग पर चलने से साधक अपने दुःखों का नाश करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह समस्त कर्मों में श्रेष्ठ माना गया है।<sup>२८</sup> बौद्ध धर्म के अनुसार, शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन मुख्य साधन हैं। अष्टांगिक मार्ग इस त्रयी साधना का पल्लवित रूप है।

सदाचार बौद्ध धर्म की आधारशिला है। बौद्ध धर्म में सदाचार को शील कहा जाता है। शील का पालन प्रत्येक बौद्धों के लिए आवश्यक है। संक्षेप में शील का अर्थ है सब पापों से स्वयं को बचाना, पुण्य संचय तथा चित्त को परिशुद्ध रखना।<sup>२९</sup> जब कोई, धर्म और संघ की शरण में जाता है तब उसे पंचशील के पालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। पंचशील सदाचार के पाँच सार्वभौम नियम हैं। वे निम्न हैं<sup>३०</sup> -

- १- प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा से विरति,
- २- मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण से विरति,
- ३- अदिन्नादान अर्थात् चोरी से विरति,



४- परदारञ्च अर्थात् परस्त्रीगमन से विरति,

५- सुरामेरयपानन्च अर्थात् मद्यपान से विरति,

श्रमणों हेतु बुद्ध के मार्ग में बाह्य आचरण की शुद्धि और मानसिक अभ्यास दोनों पर बल था। आचरण-शुद्धि को अत्यन्तावश्यक माना गया है परन्तु मानसिक अभ्यास या ध्यान को किंचित ऊँची कोटी में रखा गया है। क्योंकि इसी से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है। इसी प्रकार बार-बार आत्मनिर्भरता और सत्य के स्वयं साक्षात्कार पर बल दिया गया है। इस प्रकार का जीवन जीने वाला 'भिक्षु' होता है। निन्दा और स्तुति से मुक्त, राग और द्वेष से उपरत विशिष्ट सर्वोत्तम स्वलक्ष्य की दिशा ही उसके जीवन की मंगल-यात्रा होती है। भिक्षु के संयमी जीवन की यह वास्तविक संहिता है।

श्रमण आचार सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि, श्रमण जीवन शैली के कुछ विशिष्ट आचार-विधान थे जो विशुद्ध निवृत्तिपरक थे। बौद्ध-जैन साहित्य एवं प्रारम्भिक वैदिक साहित्य के आधार पर अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि, श्रमण जीवन पद्धति वैदिक अथवा ब्राह्मण जीवन के समानान्तर प्रतिष्ठित थी; जिसकी प्राचीनता वैदिक किम्वा प्राग्वैदिक है। निवृत्तिमूलक जीवन दृष्टि के तत्व ऋग्वेद से लेकर उत्तर वैदिक साहित्य तक अनेकत्र बिखरे पड़े हुए हैं। यह सुविदित है कि, वैदिक जीवन की दृष्टि प्रवृत्तिमार्गी थी जबकि उपनिषदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का हमें संश्लेषण दिखायी देता है। विद्वानों में यह विवाद का विषय रहा है कि वैदिक परम्परा में निवृत्ति जीवन दृष्टि इस परम्परा होने वाले स्वभाविक विकास का परिणाम है अथवा किसी अन्य परम्परा का प्रभाव है। अब विद्वानों का झुकाव इस बात की ओर है कि निश्चय ही वैदिक परम्परा में निवृत्त जीवन दृष्टि का समावेश श्रमण परम्परा के साथ उसकी अन्तः क्रिया का प्रतिफल है।

यद्यपि प्राग् बुद्ध एवं महावीर काल में श्रमण आचार व्यवस्था किस प्रकार की थी, इसके सम्बन्ध में साक्ष्य अत्यल्प हैं तथापि उनके आधार पर तथा इस कल्पना के आधार पर कि, यदि कोई निवृत्तिमूलक आध्यात्मिक जीवन दृष्टि है तो अश्वमेव इसके कुछ विशिष्ट आचार विधान रहे होंगे।

यदि हम जैन परम्परा पर दृष्टिपात् करें तो हमें ज्ञात होगा कि, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म बुद्ध और महावीर से दो शताब्दियों के पूर्व प्रचलन में था। पार्श्वनाथ का चातुर्याम प्रत्यक्ष रूप से और कुछ नहीं आचार विधान है; जो इस बात का संकेत देता है कि श्रमण परम्परा के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित पंच महाव्रत किसी अन्य परम्परा से अपनाएँ गये आचार विधान न होकर स्वयं इस परम्परा के अपने मौलिक विधान हैं। हर्मन जैकोबी का यह मन्तव्य कि 'जैनों और बौद्धों में आचार सम्बन्धी विधानों को धर्म-सूत्रों से ग्रहण किया था; स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

**सन्दर्भ :**

१. (अ) वी०एस० पाठक, प्राक्कथन - ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म; एस०एन० श्रीवास्तव - ए स्टडी इन द ओरिजिन्स एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ जैनिज्म।  
(ब) ऋग्वेद - १०, १३६.२-३।
२. भागवतपुराण, प्रथम खण्ड ५.३.२०।
३. हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९६२, पृ० ११-१७।
४. ऋग्वेद - १०, १०२.६।
५. अथर्ववेद - १५वाँ काण्ड।
६. सुकुमार दत्त, अली बुद्धिस्ट मोनासिज्म, लन्दन १९२४ ई०, पृ० ५६।
७. पंचविश ब्राह्मण - १७.१.९; १७.१.२; १४.१५ आदि।
८. सुकुमारदत्त, पूर्वोक्त, पृ० ५७; हीरालाल जैन, पूर्वोक्त, पृ० १८-१९।
९. सुकुमारदत्त, पूर्वोक्त, पृष्ठ ५६।
१०. हर्मन जैकोबी, जैन सूत्राज, भाग-१, पृ० २३-३२।
११. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ० २६४-६५।
१२. भागवतपुराण - प्रथमखण्ड - ५.३.२०।
१३. श्री जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह; जिल्द-६, पृ० २२०-२३०।
१४. अहर्दास बंडोबा दिघे, जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, वाराणसी १९८० ई०, पृ० १११।
१५. उत्तराध्ययन, २१.१२।
- १६-१९. आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुत०, अध्ययन १५, सूत्र ७७८।
२०. उत्तराध्ययन, २४.२६।
२१. वही, २४.१।
२२. वही, २४.२०।
२३. वही, २४.४।
२४. वही, २४.९-१०।
२५. वही, २४.११-१२।
२६. वही, २४.१४।
२७. वही, २४.१५।
२८. धम्मपद, २७३।
२९. धम्मपद, १८३।
३०. धम्मपद, २४६-२४७।



## साधारण सिद्धसेनसूरि रचित 'विलासवईकहा' (विलासवतीकथा)

डॉ० वेद प्रकाश गर्ग\*

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं की साहित्यिक रचनाओं में हो गया था। यह परम्परा उसे रिक्त रूप में उक्त भाषाओं की कृतियों से प्राप्त हुई, क्यों कि दोनों ही भाषाओं में इस प्रकार की रचनाएं पहले ही लिखी जा चुकी थीं। वर्ण्य-विषय, शैली, छंद तथा प्राकृत अपभ्रंश-काव्यों के प्रबंध-शिल्प के अनुरूप जो प्रेमाख्यानक काव्य रचे गए उनका मूल-स्रोत उक्त काव्य-साहित्य ही है। अपभ्रंश में रचित प्रेमाख्यानक काव्यों की जो परम्परा मिलती है, वह भी प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यों से विकसित हुई है।

जन-जीवन में प्रचलित रहने वाली लोक कथाओं को अपनाकर लिखे जाने वाले काव्य तत्कालीन साहित्य के विशिष्ट अंग रहे हैं। उस युग की प्रेम काव्य परम्परा के अनुरूप ही लिखी जाने वाली अपभ्रंश की एक रचना **विलासवईकहा (विलासवती कथा)** है, जो विषय-वस्तु, शैली एवं प्रबंध रचना की दृष्टि से प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की एक कड़ी विशेष है। प्रस्तुत लेख में अपभ्रंश के इसी प्रेमाख्यानक काव्य के संबंध में परिचयात्मक रूप से लिखा जा रहा है।

**विलासवईकहा (विलासवतीकथा)** नामक इस कथा-काव्य का सर्वप्रथम परिचय पं० बेचरदास जी दोशी ने **भारतीय विद्या** पत्रिका में दिया था। तदनन्तर सन् १९५६ में डॉ० शम्भू नाथ सिंह ने **हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास** नामक अपने **शोध-प्रबंध** में इसका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया था। श्री अगरचन्द जी नाहटा प्रभृति विद्वानों ने भी अपने लेखों के माध्यम से यदा-कदा इसकी चर्चा की है। इस कथा की दो ताड़-पत्र प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रंथ भंडार में सुरक्षित हैं। संभव है, अन्यत्र भी इसकी प्रतियाँ हों।

**विलासवतीकथा** के लेखक श्वेताम्बर जैन मुनि सिद्धसेनसूरि थे। संभवतः उनका गृहस्थ जीवन का नाम 'साधारण' था इसलिए उन्हें 'साधारण सिद्धसेनसूरि' कहा जाता है। जैन - साहित्य में सिद्धसेन नामक चार विद्वान् आचार्य हुए हैं। पहले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे, दूसरे सिद्धसेन, तीसरे साधारण सिद्धसेन और चौथे

\* १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

सिद्धसेन सूरि। साधारण सिद्धसेन **न्यायावतार** तथा **सन्मतिर्तर्क** के रचयिताओं से अलग थे। इस प्रकार साधारण सिद्धसेन दार्शनिक सिद्धसेनसूरि से भिन्न थे। उनकी प्रसिद्धि केवल साहित्यिक रूप में मिलती है। कवि ने अनेक स्तुति, स्तोत्र, स्तवन आदि भी रचे हैं, जिनमें से **सकलतीर्थस्तोत्र** और **विलासवईकहा** को छोड़ कर अब कुछ भी उपलब्ध नहीं हैं।

कवि सिद्धसेन वाणिज्यकुल तथा कौटिकगण की वज्र शाखा में बप्पभट्टि सूरि की परम्परा के अन्तर्गत यशोभद्रसूरिगच्छ के विद्वान् थे। कवि काव्य कला-मर्मज्ञ कवियों के वंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी प्रसिद्धि साधारण नाम से अधिक थी। यद्यपि काव्य-रचना में निपुण कवि की ख्याति उनके साधु-दीक्षा लेने के पूर्व ही फैल चुकी थी, किन्तु **विलासवईकहा** की रचना उन्होंने मुनि बन जाने के बाद की थी। यह कथा-काव्य भीनमाल कुल के श्रेष्ठी लक्ष्मीधर शाह के अनुरोध से रचा गया था। रचनाकार गुजरात के ही किसी भाग का निवासी था।

इस प्रेमाख्यानक कथा-काव्य की रचना पौष चतुर्दशी सोमवार वि०सं० ११२३ में गुजरात के धन्धुका नामक नगरी में हुई थी।<sup>१</sup> संधि-बद्ध यह काव्य-ग्रंथ ३६२० श्लोक रचना प्रमाण है।<sup>२</sup> इसमें ग्यारह संधियाँ हैं। पहली सन्धि में सनत्कुमार एवं विलासवती का समागम, दूसरी में विनयंवर की सहायता, तीसरी में समुद्र प्रवास में नौका भंग, चौथी में विद्याधरी-संयोग, पाँचवीं में विवाह-वियोग, छठी में विद्या साधना एवं सिद्धि, सातवीं में दुर्मुखवध, आठवीं में अनंग रति विजय और राज्याभिषेक, नवीं में विनयंवर-संयोग, दसवीं में परिवार-मिलन तथा ग्यारहवीं में सनत्कुमार व विलासवती के निर्वाण-गमन का वर्णन है। इस प्रकार इस कथा-काव्य में विलासवती एवं सनत्कुमार की कथा अत्यन्त रोचक शैली में निबद्ध है। रचयिता ने इस कथा को आचार्य हरिभद्रसूरि कृत **समराइच्चकहा** के आधार पर रची है।<sup>३</sup> क्योंकि यह कथा उससे ज्यों की त्यों ली गई है, इसलिए कथा में कवि की कोई मौलिक उद्भावना नहीं दिखलाई पड़ती है, किन्तु कथा का वियोग-वर्णन उसकी मौलिक कल्पना है। काव्य में ऐसे कई सुन्दर चित्र हैं, जो निम्नाधारित सौन्दर्यबोध से युक्त हैं। प्रत्येक संधि में अलग-अलग स्थलों पर कवि ने प्रकृति चित्रण द्वारा मानव के आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त किया है और इसी रूप में अनेक कार्य-व्यापारों का सुंदर चित्र अंकित किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रसंगों में कवि ने मन की दशाओं का विशेष चित्रण किया है और कई मार्मिक भावों की रस दशा को अभिव्यक्त करने में वह समर्थ हुआ है।

कथा-काव्य में स्थान-स्थान पर गीति-शैल के भी दर्शन होते हैं। दैवी-संयोग और आकस्मिक घटनाओं की संयोजना से काव्य में आद्यान्त उत्सुकता एवं कुतूहल बना रहता है। इसीलिए उसमें रोचकता एवं मधुरता की कमी नहीं है। कवि ने विभिन्न

स्थलों पर इसके माध्यम से नाटकीय दृश्यों की संयोजना भी सफल रूप में की है, जिससे पाठक के मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ उभरती हैं। वास्तव में इस प्रकार की विशेषताएँ बहुत कम काव्यों में दिखलाई पड़ती हैं।

काव्य में कवि का शब्द-विन्यास सुन्दर रूप में है और भाषा प्राञ्जल व सुबद्ध है। उसमें सूक्तियों, कहावतों एवं मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा और भावों में सजीवता आ गई है। यह रचना काव्य कला की दृष्टि से अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक-काव्यों में उत्कृष्ट है और कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न तथा प्रसाद गुण से युक्त काव्य है। यद्यपि प्रायः सभी रसों की संयोजना इस काव्य में हुई है, किंतु मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृंगार का प्राधान्य है। अतः काव्य-कथा की विशेषताओं को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वास्तव में यह कवि अपनी इस सुंदर कृति द्वारा अमर हो गया है।

### सन्दर्भ :

१. एक्कारसहिं सएहिं गएहिं तेवीस वरिस अहि गहिं।  
पोस चउद्दसि सोमे सिप्रा धधुक्कय पुरम्भि।  
'धन्धुका' नाम का नगर गुजरात प्रदेश में अहमदाबाद के निकट है। इसी नगर में कलिकासर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि तथा **सुपासनाहचरिय** के रचयिता मलधार-गच्छीय लक्ष्मणगणि जैसे विद्वानों का जन्म हुआ था।
२. एसा य गणिज्जंति पाएणा गुट्टुभेण छदेणा।  
संपुण्णाहं जाया छत्तीस सयाइं वीसाइं।
३. समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्ध संधिबधेणा।  
कोऊहलेण एसा पसन्न कयणा विलास वई।



## जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त एवं उसके समान्तर भारतीय दर्शन में प्रचलित अन्य सिद्धान्त

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय \*

वैज्ञानिक जगत् में तथ्यों एवं घटनाओं की व्याख्या के लिए जो स्थान कार्य-कारण सिद्धान्त का है, आचार दर्शन के क्षेत्र में वही स्थान कर्म-सिद्धान्त का है। भारतीय चिन्तकों ने कर्म सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा न केवल नैतिक क्रियाओं के फल की अनिवार्यता प्रकट की अपितु उनके पूर्ववर्ती कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी की, साथ ही सृष्टि के वैषम्य का सुन्दरतम समाधान भी किया। विश्व के इस विशाल रंगमंच पर चतुर्दिक दृष्टिपात करने पर विषमता ही दिखाई देती है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई ऊंच है तो कोई नीच, कोई छोटा है तो कोई बड़ा, कोई बलवान है तो कोई निर्बल। यदि हम इन विषमताओं के मूलकारणों की छानबीन करें तो कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई तथ्य जागतिक वैविध्य का कारण नहीं जान पड़ता।

अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी इस जगत् के वैचित्र्य की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त के आधार पर करता है। आचारांग<sup>१</sup> में स्पष्ट कहा गया है- 'कम्मुणा उवाधि जायति' अर्थात् कर्म से उपाधि (दुःख) का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त 'कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं' आदि उल्लेख यही दर्शाते हैं कि कर्म ही सुख-दुःख, जन्म-मरण का मूल है। जैन दर्शन में जीवों की विभिन्न उपाधियों और सुख-दुःखादि के वैषम्य के १४ कारणद्वार बताये गये हैं - १. गति २. इन्द्रिय ३. काय ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. ज्ञान ८. संयम ९. दर्शन १०. लेश्या ११. भव्य १२. सम्यक्तत्व १३. संज्ञी और १४. आहार। इन चौदह बातों को लेकर जीवों में जो विभिन्नतायें होती हैं उनका मूल कारण कर्म ही है।

कर्म-सिद्धान्त की प्रथम मान्यता यह है कि प्रत्येक क्रिया उसके परिणाम से जुड़ी है। दूसरी यह कि उस परिणाम की अनुभूति वही व्यक्ति करता है जिसने पूर्ववर्ती क्रिया की है अर्थात् पूर्ववर्ती क्रियाओं का कर्ता ही उसके परिणाम का भोक्ता है। तीसरे, कर्म सिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि कर्म और उसके विपाक

\* सहायक निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

की यह परम्परा अनादिकाल से चलती आ रही है। इन आधारभूत मान्यताओं के फलितार्थ निम्नलिखित हैं -

१. व्यक्ति का वर्तमान व्यक्तित्व उसके भावी व्यक्तित्व का निर्माता है।

२. नैतिक दृष्टि से जो क्रियाएं (शुभाशुभ) व्यक्ति ने की हैं वही उनके परिणामों का भोक्ता भी है।

३. इन परिणामों के भोग के लिए इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् दूसरा शरीर ग्रहण करने वाला कोई स्थायी तत्त्व होना चाहिए जो आत्मा है। अतः आत्मा की अमरता की धारणा कर्म सिद्धान्त की अनिवार्य फलश्रुति है।

४. कर्म सिद्धान्त चेतन आत्मतत्त्व को प्रभावित करने वाली प्रत्येक घटना एवं अनुभूति के कारणों की खोज बाह्य जगत् में नहीं करता वह स्वयं चेतना में ही उसके कारणों की खोज करता है।

कर्म सिद्धान्त के विकास क्रम को देखें तो वैदिक परम्परा की प्रारम्भिक अवस्था में उपनिषद् काल तक कोई ठोस कर्म सिद्धान्त नहीं बन पाया था यद्यपि वैदिक साहित्य में 'ऋत्' के रूप में उसका अस्पष्ट निर्देश अवश्य उपलब्ध है। कर्म कारण है, ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मतवाद हो यह भी नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्य में 'ऋत्' के नियम को स्वीकार किया गया है लेकिन उसकी विस्तृत व्याख्या उसमें उपलब्ध नहीं है। उस समय के विचारकों ने वैचित्रमय सृष्टि एवं वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण के रूप में विभिन्न धाराओं का प्रतिपादन किया जो निम्नवत् हैं -

## १. कालवाद

यह सिद्धान्त सृष्टि वैचित्र्य, वैयक्तिक भिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों का कारण 'काल' को मानता है। अथर्ववेद<sup>३</sup> में तीन सूक्तों में काल पर विशेष चर्चा की गयी है जिसमें बताया गया है कि काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर ही सूर्य तपता है और काल के आधार पर ही समस्त जीव रहते हैं। काल ही ईश्वर है। महाभारत में भी उल्लेख मिलता है कि काल ही समस्त प्राणियों का सृजन और संहार करता है। गोम्मटसार में काल को सबकी उत्पत्ति, विनाश और सोते हुए प्राणियों को जगाने का कारण बताया गया है। कालवाद के अनुसार जिसका जो समय या काल होता है, उसी समय वह घटित होता है। समय आने पर ही अमुक वस्तु पैदा होती है और समय पूरा होते ही नष्ट हो जाती है। जैसे समय से व्यक्ति के शरीर में परिवर्तन, ऋतु परिवर्तन, वृक्षों का फलना, सूर्य-चन्द्रग्रहण आदि। बिना काल के परिपक्व हुये स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति आदि भी कुछ नहीं कर सकते। ऐसा प्रायः देख जाता है कि कई बार प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्धि नहीं होती और उसका उचित समय आने पर स्वयमेव हो जाती है।

## २. स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार संसार में जो कुछ भी घटित होगा या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव है। इसमें काल, नियति, कर्म आदि क्या कर सकते हैं? आम की गुठली में ही आम का वृक्ष बनने का स्वभाव है, नीम की निम्बोली में नहीं। चन्द्रमा शीतल है- क्या काल या नियति इन्हें ठंडा या गर्म कर सकते हैं? अतः जिसका जैसा स्वभाव होता है वैसा ही उसका परिणाम या परिपाक होता है? हवा का चलना, पर्वत का स्थिर रहना, नदी का बहना उनके स्वभाव के कारण है? **गोम्मटसार**, **बुद्धचरित** और **सूत्रकृतांगटीका** में कहा गया है कि बबूल आदि के कांटों को कौन नुकीला करता है, मयूर, मृग आदि को कौन चित्रित करता है? इन सबका एक मात्र कारण स्वभाव है। अतः समस्त घटना-चक्र का कारण स्वभाव ही है। कालादि के मौजूद रहने पर भी स्वभाव के बिना अभीष्ट कार्य नहीं होता। कोई युवा स्त्री यदि बन्ध्या है तो सम्पूर्ण शारीरिक स्वस्थता के बावजूद भी वह सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि सन्तान रहित रहना बन्ध्या का स्वभाव है। **विशेषावश्यक भाष्य**, **सांख्यकारिका** पर माठरवृत्ति एवं **न्यायकुसुमांजलि** आदि ग्रन्थों में स्वभाववाद का सयुक्तिक निराकरण किया गया है।

## यदृच्छावाद

यदृच्छावाद के अनुसार किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता, वे अहेतुक और अकस्मात होती हैं। समस्त घटनाएं मात्र संयोग (Chance) का परिणाम हैं। यह वाद हेतु के स्थान पर संयोग को प्रमुखता देता है। इसमें कारण-कार्याभाव आदि के विषय में कोई भी विचार नहीं किया जाता। यदृच्छावाद को सरल शब्दों में अकारणवाद, अनिमित्तवाद, अहेतुवाद, अकस्मातवाद या अटकलपचूवाद भी कहते हैं। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं जबकि यदृच्छावादी कारण की सत्ता से ही इनकार करते हैं।

## ३. नियतिवाद

नियतिवाद का अर्थ है भवितव्यता या होनहार। नियति के इस अर्थ के अनुसार जिसका जिस समय में जहाँ जो होना होता है, वह होता ही है, जो नहीं होना होता वह उस समय नहीं होता। मनुष्यों की नियति के प्रबल आश्रय से जो भी शुभ या अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य ही प्राप्त होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले परन्तु जो नहीं होना होता है, वह नहीं होता। जो भवितव्य है अर्थात् होना है उसे कोई नहीं मिटा सकता।<sup>३</sup> अतः नियतिवाद के अनुसार जो होना होता है, वह अवश्य होता



है, उसमें मनुष्य की धारणा, योजना या कर्तृत्व क्षमता की गणना काम नहीं आती, न ही उसमें काल, स्वभाव या पुरुषार्थ को कोई अवकाश है।

नियति का दूसरा अर्थ है - इस जड़-चेतनमय विश्व में प्रकृति के नियम (कर्मग्रन्थ भाग १ 'प्रस्तावना'। इस नियम के अनुसार जगत् के सभी कार्य नियति के अधीन होते हैं। कोयल काली क्यों, खरगोश सफेद क्यों, सूर्य का पूर्व में उगना, इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि विश्व प्रकृति के अटल नियम के अनुसार जो नियत है वही होता है, अन्यथा नहीं। इस वाद का वर्णन सूत्रकृतांग<sup>४</sup> व्याख्याप्रज्ञप्ति<sup>५</sup>, उपासकदशांग<sup>६</sup> आदि जैनागमों में हुआ है। बौद्ध त्रिपिटक दीघनिकाय<sup>७</sup> के 'सामञ्जस्यफलसुत्त' में मंखलि गोशालक के नियतिवाद का विवरण मिलता है। उसके अनुसार पुरुष के सामर्थ्य के बल पर किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है..... सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव स्वरूप हैं, दुर्बल हैं, बल-वीर्य रहित हैं। उसमें नियति, जाति, वैशिष्ट्य एवं स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है।..... चौरासी लाख योनि-महाचक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान और मूर्ख दोनों के दुःख का नाश हो जाता है।

### नियतिवाद का आध्यात्मिक रूप

नियतिवाद का एक आध्यात्मिक रूप वर्तमान में आविष्कृत हुआ है। इस सिद्धान्त का नाम क्रमबद्ध पर्याय है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होती है, वह अपने नियत स्वभाव के कारण होती है, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान शक्ति से ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है। निमित्त वहाँ स्वयमेव उपस्थित हो जाता है, उसको मिलाने की आवश्यकता नहीं। क्रमबद्ध पर्याय का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें पुरुषार्थ और शुभकर्मों का कोई अर्थ ही नहीं रहता। भगवान् महावीर की दृष्टि में नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषार्थवाद पर कुठाराघात करनेवाला है। उन्हें भी अपने जीवन में नियतिवादियों से विवाद करना पड़ा था। आजीवकों और जैनों में बहुत सी बातें समान थीं पर मुख्य भेद नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का था।

### ४. महाभूतवाद

महाभूतवाद के अनुसार समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता रही है। संसार उनके वैविध्यमय संयोगों का परिणाम है। वह सृष्टि के सभी पदार्थों की उत्पत्ति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि चार भूतों के विशिष्ट संयोग से मानता है। जिन्हें जैन कर्मवादी आत्मतत्त्व या चेतन तत्त्व कहते हैं। वह इन्हीं चार भूतों की ही विशिष्ट परिणति है जो विशिष्ट प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न होती है और उन परिस्थितियों

की अनुपस्थिति में वहीं स्वतः बिखर जाती है। इसकी प्रक्रिया के विषय में भूतचैतन्यवादी बताते हैं कि जिस प्रकार महुआ, गुड़ आदि के विशेष सम्मिश्रण से शराब बन जाती है, चूना+कत्था+सुपारी तथा पान के संयोग से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के संयोग से शरीर या सम्बद्ध चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। भूतवादी यह मानते हैं कि आत्मा या पुनर्जन्म कुछ नहीं है। जीवन की धारा गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त चलती रहती है। मरणकाल में शरीर यंत्र में विकृति आ जाने से जीवन शक्ति समाप्त हो जाती है। इसके बाद शरीर के जल जाने पर न तो कहीं आना है, न कहीं जाना है। सूत्रकृतांग<sup>८</sup> में तज्जीवतच्छरीरवाद के रूप में इस विचारधारा का वर्णन मिलता है।

डार्विन का विकासवाद भी इन्हीं भूतचैतन्यवादियों के सिद्धान्त से मिलता जुलता सिद्धान्त है या उसी का परिष्कृत रूप है। इसके अनुसार चेतन तत्त्व का विकास (जड़ और मूर्तिक) तत्त्वों से ही माना जाता है। इस भौतिकवाद की मान्यता है कि अमीबा, घोंघा आदि बिना रीढ़ के प्राणियों से रीढ़दार पशुओं और मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। जड़ तत्त्वों से भिन्न कोई चेतनतत्त्व (आत्मतत्त्व) नहीं है। जड़तत्त्वों के विकास और ह्रास के साथ ही चैतन्यतत्त्व का विकास और ह्रास हो जाता है। किन्तु इस बात का निराकरण इसी तथ्य से हो जाता है कि जड़ और मूर्तिक भूतों से चेतन और अमूर्तिक आत्मा की उत्पत्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

फिर भूतवाद कर्मवाद के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। इस भौतिक शरीर-यन्त्र में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, जिजीविषा, संकल्प वृत्ति, भावना, अहिंसादि के आचरण की वृत्ति - 'दया' क्षमा, आदि कोमल भावनाओं का उद्भव, कार्य-कारण का निश्चय इत्यादि बातें जो पाई जाती हैं, वे अकस्मात् कैसे आ जाती हैं? परलोक या अन्यलोक मानने पर तो संसार में अव्यवस्था और आराजकता हो जायेगी। फिर कोई क्यों अपने पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने तथा अहिंसा, विश्व-मैत्री, क्षमा, समता आदि की साधना करेगा। अतः भूतवाद का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।

## ५. पुरुषवाद

पुरुषवाद के अनुसार पुरुष ही इस जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता है। प्रलयकाल तक उस पुरुष की ज्ञानादि शक्तियों का लोप नहीं होता। प्रमेयकमलमार्तण्ड<sup>९</sup> में इसे समझाते हुए कहा गया कि जैसे मकड़ी जाले के लिए, चन्द्रकान्ता मणि जल के लिए एवं वटवृक्ष प्ररोहों के लिए कारण होता है उसी प्रकार पुरुष भी जगत् के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और लय का कारण है। पुरुषवाद में दो विचारधाराएं निहित हैं- ब्रह्मवाद तथा ईश्वरवाद।

## ब्रह्मवाद

ब्रह्मवाद में ब्रह्म ही जगत् के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि समस्त पदार्थों का उपादान कारण होता है। ब्रह्मसूत्र का 'जन्माद्यस्ययतः'<sup>१०</sup> सूत्र इसी ब्रह्मवाद का पोषक है। किन्तु तर्क के कसौटी पर देखा जाय तो एक ही ब्रह्मतत्त्व विभिन्न जड़-चेतन पदार्थों के परिणामन में उपादान कारण कैसे बन सकता है, इसका कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं मिल पाता। ब्रह्मवाद में जगत् की परिकल्पना के मूल में माया को माना जाता है और वहां मायोपहित ब्रह्म ही जगत् का कारण है। ब्रह्मवाद एकात्मवाद भी मानता है। किन्तु आत्मा को यदि एक मान लिया जाय तो जगत् में अनन्त-अनन्त जीव जो पृथक्-पृथक् पर्यायें धारण करते हैं, विभिन्न अनुपात में सुख-दुःख का परिभोग करते हैं, उनका क्या होगा? अतः यह मत युक्तियुक्त नहीं है।

## ईश्वरवाद

पुरुषवाद का दूसरा रूप ईश्वरवाद है। ईश्वरवाद का फलितार्थ ईश्वरकर्तृत्ववाद है अर्थात् इस विश्व में व्याप्त समस्त विचित्रताओं का कर्ता ईश्वर है। उसकी इच्छा ही जगत् की सृष्टि में कारण है। ईश्वर एक, अद्वितीय, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और नित्य है। ईश्वरवाद के पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हुए गोम्पटसार<sup>११</sup> में कहा गया है कि आत्मा अनाथ है, उसका सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक - गमन आदि सब ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर कर्तृत्व के सम्बन्ध में युक्ति दी जाती है कि जड़-चेतन रूप जगत् का कोई न कोई पुरुष विशेष कर्ता है क्योंकि पृथ्वी वृक्ष आदि पदार्थ कार्य हैं और कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हैं जैसे - घट आदि का कर्ता कुम्भकार। वह बुद्धिमान कर्ता ही ईश्वर है। न्यायकुसुमांजलि<sup>१२</sup> में ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व के सात कारण बताये गये हैं - १. कार्य - कारण भाव २. आयोजन, ३. आधार ४. निर्माण कार्यो का शिक्षक ५. श्रुत रचयिता ६. वेदवाक्य कर्ता और ज्ञाता। जैन दर्शन का आक्षेप है कि यदि ईश्वर को सर्वगत माना जायेगा तो वह अकेला ही एक शरीर से तीनों लोकों को व्याप्त हो जायेगा फिर दूसरे बनने वाले चेतन जड़ पदार्थों को स्थान ही नहीं रहेगा। यदि उसे ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत माना जायेगा तो वह वेद वाक्य से विरुद्ध होगा।

## अक्रियावाद

बौद्ध पिटक में तथागत बुद्ध के युग के छः दर्शनिकों का तथा उनके मत का वर्णन किया गया है। उनमें अक्रियावाद भी एक है। त्रिपिटक में अक्रियावादी पूरणकश्यप के मत का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किसी ने कुछ भी किया हो, अथवा कराया हो, त्रास दिया हो अथवा दिलवाया हो, झूठ बोला हो तो भी उसे पाप नहीं

लगता। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण धार वाले चक्र से पृथ्वी पर मांस का ढेर लगा दे तो भी इसमें लेशमात्र भी पाप नहीं है। दान, धर्म, संयम, सत्यभाषण आदि से कुछ भी पुण्य नहीं होता<sup>१५</sup>। सूत्रकृतांग<sup>१५</sup> में कहा गया है कि आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता और न दूसरे से कराता है तथा आत्मा समस्त (कोई भी) क्रिया करने वाला नहीं है। इस प्रकार आत्मा अकारक है। यह सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है और पुण्य-पाप का समूल उच्छेद करने वाला है।

### अज्ञानवाद

अज्ञानवादियों का कहना है कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। ज्ञानवादी ज्ञान के अहंकार के कारण उल्टे सीधे तर्क करने लगता है। ज्ञान होने पर व्यक्ति एक पर राग करेगा एक पर द्वेष। इसलिए 'सबते भले मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत् गति'। बौद्ध पिटक में संजयवेलट्टिपुत्त के मत को संशयवाद या अज्ञानवाद कहा गया है। जैनागमों में अज्ञानवादियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये अज्ञानवादी तर्क कुशल होते हैं। संजय वेलट्टिपुत्त से परलोक, देव, नारक, कर्म, निर्वाण आदि के पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि इनके सम्बन्ध में विधि रूप, निषेधरूप, उभयरूप का अनुभयरूप कुछ भी निर्णय नहीं कहा जा सकता।<sup>१६</sup> अर्थात् इसका कारण न है, न नहीं है, न है नहीं है। इनकी यह भी मान्यता है कि सभी वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः अज्ञानवाद ही श्रेयष्कर है।

### प्रच्छन्न नियतिवाद

बौद्ध पिटक में पकुधकच्चायन के वाद का उल्लेख है जिससे प्रच्छन्न नियतिवाद की ही प्रतीति होती है। इनके अनुसार सात पदार्थ/तत्त्व ऐसे हैं जिनका न तो निर्माण किया गया न कराया गया। ये सात तत्त्व हैं - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीवा। इनका नाश करने वाला, इनको सुनने वाला, जानने वाला कोई भी नहीं है।<sup>१७</sup> ये मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति किसी तीक्ष्ण वस्तु से किसी के सर का भेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता बल्कि इन सात पदार्थों के अन्तरान्तल में उनका प्रवेश कराता है। पकुध का यह प्रच्छन्न नियतिवाद कर्मवाद का कट्टर विरोधी है।

### क्रियावाद

यद्यपि क्रियावाद कर्मवाद का समर्थक है किन्तु यहाँ क्रियावाद का अर्थ साक्रियावाद है। 'ज्ञानाक्रियाभ्यां मोक्षः' - इस सूत्र के अनुसार यहाँ क्रियावाद सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के आचरण में रूढ़ है। किन्तु यहाँ क्रियावाद अज्ञानपूर्वक क्रिया तथा अन्धविश्वासपूर्वक प्रवृत्ति या अज्ञानपूर्वक तप करने के अर्थ में है। वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी भी इस अन्तिम लक्ष्य विहीन क्रियावाद के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके

अतिरिक्त वे लोग भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं जो एकान्तरूप से अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मिथ्याग्रह आदि से युक्त होकर अहर्निश श्रम करने की प्रेरणा देते हैं। सूत्रकृतांग में ऐसे एकान्त क्रियावादियों को मिथ्यात्वी माना गया है।

### प्रकृतिवाद

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व, रज, तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही समग्र जगत् का विकास और हास होता है। समस्त प्राणियों के सुख-दुःख, सम्पन्नता-विपन्नता, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग का कारण भी वह प्रकृति ही है। यह वाद भी कर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल है क्योंकि प्रकृति अपने आप में जड़ है, वह अपने हिताहित को नहीं समझती। वह अच्छा या बुरा कार्य या आचार के लिए आत्मा के ही अधीन है।

### अव्याकृतवाद

आत्मा आदि के सन्दर्भ में मौलूक्य पुत्त द्वारा पृछे जाने पर तथागत बुद्ध ने कहा- आत्मा न तो शाश्वत है नि उच्छिन्न। इसके अतिरिक्त लोक सान्त है अथवा अनन्त, शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शरीर भिन्न है या अभिन्न एवं मरने के बाद तथागत होते हैं कि नहीं, ये और इस प्रकार के सभी प्रश्नों का उत्तर न देकर तथागत ने अव्याकृत कह दिया। उन्होंने इन्हें अव्याकृत इसलिए कहा क्योंकि उनके बारे में कहना सार्थक नहीं है, न भिक्षुचर्या और ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है, न ही यह निर्वाण, निर्वेद, शान्ति एवं परमज्ञान के लिए उपयोगी है।

इन सभी वादों की समीक्षा कर जैन दर्शन पंच कारणवाद की प्रतिष्ठा करता है। उसके अनुसार विश्ववैचित्र्य के पांच महत्त्वपूर्ण कारण हैं -

१. कालवाद २. स्वभाववाद ३. नियतिवाद ४. कर्मवाद और ५. पुरुषार्थवाद।

**श्वेताश्वतर उपनिषद्**<sup>१८</sup> में जिन छः कारणवादों का उल्लेख है उनमें कर्मवाद एवं पुरुषार्थवाद को विलकुल स्थान नहीं दिया गया है। उसका कारण है कि उपनिषद् काल से पूर्व तक वैदिक परम्परा के मनीषी विश्ववैचित्र्य का कारण अन्तरात्मा में ढूँढ़ने की अपेक्षा बाह्यपदार्थों में ढूँढ़ते थे। सम्भव है कर्मवाद और पुरुषार्थवाद का सीधा सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण उनकी दृष्टि में ये दोनों वाद न आये हों।

पश्चातवर्ती जैन दार्शनिक आचार्यों ने इस सिद्धान्त का निरूपण किया है कि किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर निर्भर नहीं है, वह आश्रित है - पाँच कारणों के समवाय (कारणसाकल्य) पर।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ ये पाँच कारण हैं जिन्हें जैन दार्शनिकों ने पंचकारण समवाय कहा है। ये पाँचों सापेक्ष हैं। इनमें से किसी भी एक को कारण

मान लेने से कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती। सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मति-तर्क-प्रकरण**<sup>१९</sup> एवं हरिभद्र ने **शास्त्रवार्तासमुच्चय**<sup>२०</sup> में पंचकारणवाद को व्याख्यायित किया है। किन्तु इनमें से कोई भी एकान्तरूप से सृष्टिवैचित्र्य का कारण नहीं है।

अतः जैन दर्शन में कर्म को ही समस्त जगत् वैचित्र्य का कारण माना गया है। कारणता सम्बन्धी उपर्युक्त विविध सिद्धान्तों की जैनों द्वारा समीक्षा की गयी है।

कालवाद को व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि काल ही एक मात्र कारण है तो कोई व्यक्ति सुखी और कोई दुःखी क्यों होता है। फिर अचेतन काल भारी सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों का या चेतन अवस्थाओं का कारण कैसे हो सकता है।

नियतिवाद को यदि स्वीकारा जाय तो जीवन में पुरुषार्थ का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यदि ईश्वर को इन सुख-दुःखात्मक प्रवृत्तियों का कारण माना जाय तो शुभाशुभ प्रवृत्तियों के लिए प्रशंसा या निन्दा का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। किसी को सुख किसी को दुःख देने वाला ईश्वर न्यायी भी नहीं कहा जा सकेगा। महाभूतवाद मानने पर देहात्मवाद या उच्छेदवाद को मानना पड़ेगा। लेकिन आत्मा के स्थायी तत्त्व के अभाव में कर्मफल व्यतिक्रम और नैतिक प्रगति की धारणा का कोई अर्थ नहीं रहेगा। कृतप्रणाश एवं अकृतभोग की समस्या भी उत्पन्न होगी। यदृच्छावाद को स्वीकार करने पर सब कुछ संयोग पर निर्भर होता है, लेकिन संयोग या अहेतुकता भी नैतिक जीवन की दृष्टि से समीचीन नहीं है।

### जैनों की समन्वय दृष्टि :

अतः इन सभी सिद्धान्तों की अक्षमताओं को दृष्टिगत रखते हुए जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की स्थापना की गयी। जैन विचारधारा संसार की प्रक्रिया को अनादि मानते हुए जीवों के सुख-दुःख एवं उनकी वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण कर्म को मानती है फिर भी जैन कर्म सिद्धान्त उपर्युक्त वादों में से कुछ को समुचित स्थान अपने कर्म सिद्धान्त में देता है। **कालवाद** का स्थान इस रूप में है कि कर्म का फलदान उसके विपाक काल पर ही निर्भर करता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म का एक नियत स्वभाव होता है और वह अपने स्वभाव के अनुसार ही फल प्रदान करता है। पूर्व अर्जित कर्म ही व्यक्ति की **नियति** बन जाते हैं। इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी समाविष्ट है। कर्म के निमित्त कारण के रूप में परमाणुओं को स्थान देकर कर्म सिद्धान्त **भौतिक तत्त्व** के मूल्य को भी स्वीकार करता है। जैन कर्म सिद्धान्त में व्यक्ति की चयनात्मक स्वतन्त्रता स्वीकार कर **यदृच्छावादी** धारणा को भी स्थान दिया गया है और कहा गया है कि व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है और इस रूप में वह स्वयं ही ईश्वर भी है। अतः जैन कर्म सिद्धान्त उस समय प्रचलित अनेक एकांगी

धारणाओं के समुचित समन्वय के आधार पर स्थापित है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में असमर्थ हो जाते हैं जबकि यही सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष रूप से समन्वित होकर कार्य की व्याख्या में सफल हो जाते हैं।<sup>१९</sup>

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है, जैन दर्शन उसे कर्म कहता है। वही सत्ता वेदान्त में 'माया' या 'अविद्या', सांख्य में 'प्रकृति', न्यायदर्शन में 'अदृष्ट' और मीमांसा में अपूर्व के नाम से कही गयी है। बौद्ध दर्शन में वही कर्म के साथ-साथ अविद्या, संस्कार और वासना के नाम से जानी जाती है। न्याय दर्शन के 'अदृष्ट' और 'संस्कार' तथा वैशेषिक दर्शन के 'धर्माधर्म' भी जैन दर्शन के कर्म के समानार्थक हैं। इन सभी विचारधाराओं में यह समानता है कि सभी कर्म संस्कार को आत्मा का बन्धन या दुःख का कारण स्वीकार करते हैं।

जिस प्रकार शरीर रसायनों और रक्त रसायनों के परिवर्तन हमारे संवेगों (मनोभावों) का कारण होते हैं और संवेगों के कारण हमारे रक्त रसायनों और शरीर रसायन में परिवर्तन होते हैं तथा दोनों परिवर्तन परस्पर सापेक्ष हैं, उसी प्रकार कर्म के लिए आत्म तत्त्व और जड़ कर्म वर्गणाएं परस्पर सापेक्ष हैं। जड़ कर्म वर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण पुनः जड़ कर्म परमाणुओं का आम्रव एवं बन्ध होता है और वही अपनी विपाक अवस्था में पुनः मनोभावों का कारण बनते हैं। इस प्रकार मनोभावों (आत्मिकप्रवृत्ति) और जड़ कर्म परमाणुओं के परस्पर प्रभाव का क्रम उसी प्रकार चलता रहता है जैसे वृक्ष और बीज में। जड़ कर्मपरमाणु में और आत्मा में बन्धन की दृष्टि से क्रमशः निमित्त और उपादान का सम्बन्ध माना गया है। अतः जड़ कर्म वर्गणाओं के निमित्त से आत्मा बन्ध करता है। कर्म के सभी आवरण नष्ट होने के बाद बन्धन की परिसमाप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। अतः जैन दर्शन में वर्णित कर्म सिद्धान्त के समान्तर भारतीय दर्शन में अनेक अवधारणाएं उपलब्ध हैं। किन्तु जैन कर्म सिद्धान्त विषयक साहित्य के निष्पक्ष अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन कर्म-सिद्धान्त भारतीय दर्शन की अन्याय कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं से श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक है।

### सन्दर्भ :

१. आचारांग - संपा० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८०, १/३/११० पृ० ९२।
२. अथर्ववेद - १९/५३/१, २, ३, ४।

१० : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

३. (i) सूत्रकृतांगटीका १/१/१।  
(ii) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८८२।  
(iii) शास्त्रवार्तासमुच्चय २/६१-६४।
४. सूत्रकृतांग - २/१/१२।
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति - शतक - १५।
६. उपासकदशांग - अध्याय ६-७।
७. दीघनिकाय, संपा० भिक्षुकश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा वि० २०१५, 'सामञ्ज्यफलसुत्त २/४/१९।
८. सूत्रकृतांग - २/१/९।
९. प्रमेयकमलमार्तण्ड - भाग - १, अनुवादिका - आर्यिका जिनमती माताजी, वीर ज्ञानोदयग्रंथमाला, दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर १९७२, (ब्रह्मद्वैतवाद) पृ० १८५।
१०. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य - १/२।
११. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) - ८८०।
१२. कर्मविज्ञान, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ३२३।
१३. न्यायकुसुमांजलि - व्याख्याकार - श्रीनारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९९७, ५/१।
१४. बुद्धचरित - १७०।
१५. सूत्रकृतांग - १/१/१३।
१६. (i) बुद्धचरित पृ० ७७८।  
(ii) न्यायावतारवार्तिकवृत्ति (प्रस्तावना), पं० दलसुख मालवणिया, पृ० ३९।  
(iii) सूत्रकृतांग - १/१२/२।
१७. दीघनिकाय, सामञ्ज्यफलसुत्त - २
१८. श्वेताश्वतर उपनिषद् १/१।  
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छ भूतानि योनिः .....
१९. सन्मतिप्रकरण - सिद्धसेन दिवाकर, विवेचन पं० सुखलाल संघव, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद १९६३, ३/५३।
२०. शास्त्रवार्तासमुच्चय - २/५२।
२१. सन्मतिप्रकरण - ३/५३।





## जैन गुफाएँ : ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्व\*\*

डॉ० एन०के० शर्मा\*

प्राचीन काल से ही जैन मुनियों को नगर-ग्रामादि बहुजन संकीर्ण स्थानों से अलग पर्वत एवं वन की गुफाओं आदि में निवास करने का विधान किया गया है और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियों की साधना का आवश्यक अंग बताया गया है। जहाँ जैन मुनियों का निवास-स्थान होगा, वहाँ ध्यान एवं वन्दनादि के लिए जैन मूर्तियों की स्थापना अवश्य होगी। प्राचीन काल में शिलाओं पर आधारित प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग किया जाता था। ऐसी गुफाएँ प्रायः पर्वतों की तलहटी में पायी जाती हैं, जिन्हें जैन परम्परा में मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहा जा सकता है। इन गुफाओं का विशेष संस्कार एवं विस्तार कृत्रिम साधनों से किया जाने लगा और जहाँ इसके योग्य शिलाएँ मिलीं, उनको काटकर गुफा-विहार एवं मन्दिर बनाए जाने लगे। ऐसी गुफाओं में सर्वाधिक प्राचीन गुफाएँ 'बराबर' और 'नागार्जुनी' पहाड़ियों में स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ पटना-गया रेलवे स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी में चार तथा नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएँ हैं। बराबर की गुफाएँ अशोक और नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों के लिए निर्मित करायी गयी थीं। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल में एक पृथक् सम्प्रदाय था और ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति एवं विलय जैन सम्प्रदाय में ही सिद्ध होता है। जैन आगमों के अनुसार इस सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलि गोशाल महावीर स्वामी के शिष्य रहे, किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण उन्होंने अपना अलग सम्प्रदाय स्थापित कर लिया। लेकिन यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से दो-तीन शती तक ही चला और इस काल में आजीवक साधु जैन मुनियों के समान नग्न रहते थे और उनकी भिक्षादि-चर्या भी जैन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के समान थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैनधर्म में विलय हो गया और तब से इसकी पृथक् सत्ता का उल्लेख नहीं मिलता। आजीवक मुनियों को दान में दी गई गुफाओं का जैन ऐतिहासिक परम्परा में उल्लेख मिलता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएँ अशोक ने अपने राज्य के १२वें वर्ष में और तीसरा १९ वें वर्ष में निर्माण करवाया। लेखों में इन गुफाओं को आजीवकों को दान दिए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। ये सभी गुफाएँ कठोर तेलिया पाषाण को काटकर बनाई गई हैं

\*\* (प्रस्तुत आलेख डॉ० हीरालाल जैन की पुस्तक **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान** के चतुर्थ अध्याय "जैन कला" के अन्तर्गत "जैन गुफाएँ" नामक अंश का संक्षिप्त रूप है। सम्पादक)

\* एसो० प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।

और उन पर वही चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्यकाल की विशेषता मानी गई है। नागार्जुनी पहाड़ी की तीन गुफाओं के नाम हैं - गोपी गुफा, बहिया गुफा और वेदधिका गुफा। अनन्तवर्मा के एक लेख में इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख में इसका नाम गोपिका गुहा स्पष्ट अंकित है और आजीवक भदन्तों को दान दिए जाने का उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओं में भी अंकित है।<sup>१</sup>

उदयगिरि - खण्डगिरि (उड़ीसा) नामक पर्वत की गुफाओं पर हाथीगुम्फा लेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण है जिसमें कलिंग सम्राट खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के १३ वर्षों का वर्णन अंकित है। यह लेख अरहन्तों व सर्वसिद्धों को नमस्कार के साथ प्रारम्भ होता है और उसकी १२वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के १२वें वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहाँ के राजा बृहस्पति मित्र को पराजित किया और वहाँ से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश में लौटा लिया, जिसे पहले नन्दराज अपहरण करके ले गया था। इस उल्लेख से जैनधर्म सम्बन्धी अनेक बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि ई०पू० पाँचवीं-चौथी शती में नन्दयुग में जैन मूर्तियाँ निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरा यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो उस प्रदेश में लोकपूजित थी। तीसरा यह कि वह नन्द-सम्राट जो इस जैन मूर्ति को ले गया था और उसे अपने यहाँ सुरक्षित रखा, अवश्य जैन धर्मावलम्बी रहा होगा और उसने उसके लिए अपने यहाँ भी जैन मन्दिर बनवाया होगा। चौथा, यह कि कलिंग देश की जनता व राजवंश में उस जैन मूर्ति के लिए बराबर दो-तीन शती तक ऐसा श्रद्धावान् बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट ने उसे वापिस लाकर अपने यहाँ प्रतिष्ठित किया।<sup>२</sup> इस प्रकार यह गुफा एवं अभिलेख जैनधर्म के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हाथीगुम्फा यथार्थतः एक सुविस्तृत विहार रहा है, जो मूर्ति-प्रतिष्ठा के साथ मुनियों का निवास स्थान भी रहा है। यह ५२ फीट लम्बा और २८ फीट चौड़ा है जो दो मंजिलों में बना है। नीचे की मंजिल में पंक्तिरूप से आठ तथा ऊपर की पंक्ति में छह प्रकोष्ठ हैं। २० फीट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की विशेषता है, जिसमें द्वारपालों की मूर्तियाँ खुदी हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक प्रतीत होता है। बरामदों में छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को सम्भालने के लिए अनेक स्तम्भ खड़े हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिह्न एवं अशोक वृक्ष का चित्रण है। द्वारों पर बहुत सी चित्रकारी भी है जो पौराणिक जैन कथाओं से सम्बन्धित है। चित्रकारी की शैली सुन्दर एवं सुस्पष्ट है एवं चित्रों की योजना प्रमाणानुसार है। उदयगिरि-खण्डगिरि में कुल १९ गुफाएँ हैं और उसी के समीप नीलगिरि नामक पहाड़ी में तीन गुफाएँ हैं। इनमें मंचपुरी और बैकुण्ठपुरी नामक गुफाएँ दर्शनीय हैं। यहाँ के

शिलालेखों तथा कलाकृतियों के आधार पर खारवेल के समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खण्डगिरि की नवमुनि नामक गुफा में दसवीं शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे ज्ञात होता है कि यह स्थान ई० पूर्व द्वितीय शती से लेकर दसवीं शती ई० तक जैनधर्म का सुदृढ़ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाड़ी में मनियार मठ के समीप सोन भण्डार नामक जैन गुफा उल्लेखनीय है, जो निर्माण की दृष्टि से प्राचीन प्रतीत होती है। इसमें ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्य वैरदेवमुनि ने यहाँ जैन मुनियों के निवास के लिए दो गुफाएँ निर्माण करवायीं और उनमें अर्हन्तों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराईं। एक जैन मूर्ति तथा चतुर्मुखी जैन प्रतिमा युक्त स्तम्भ यहाँ अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख में उल्लेख है, वह निश्चय ही उसके पार्श्व में स्थित गुफा है।

प्रयाग तथा कोसम (प्राचीन कौशाम्बी) के समीप पभोसा नामक स्थान पर दो गुफाएँ हैं, जिनमें शृंगकालीन (ई०पू० द्वितीय शती) लेख हैं, में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्यपीय अर्हन्तों के लिए दान किया। स्मरणीय है कि तीर्थङ्कर महावीर काश्यप मोत्रीय थे, उन्हीं के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाए। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य जैनमुनि संघ सम्भवतः पार्श्वनाथ के अनुयायियों का रहा होगा, जो महावीर की मुनि-परम्परा में विलीन हो गया।

जूनागढ़ (काठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप तीन पंक्तियों में स्थित कुछ गुफाएँ हैं। ये सभी गुफाएँ दो भागों में विभक्त हैं - एक तो चैत्य-गुफाएँ और दूसरे भाग में वे गुफाएँ एवं शालागृह हैं जो प्रथम भाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली की हैं और जिनमें जैन चिह्न पाए जाते हैं। ये द्वितीय शती ई० अर्थात् क्षत्रप राजाओं के काल की हैं। एक गुफा में खण्डित लेख मिला है उसमें क्षत्रप राजवंश का तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह 'प्रथम' का उल्लेख है। इस खण्डित लेख में केवल-ज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द हैं और गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीन-युगल आदि जैन मांगलिक प्रतीकों से जैन साधुओं, सम्भवतः दिगम्बर अंग ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्ध अनुमानित किया जाता है। **धवलाटीका** के कर्ता वीरसेनाचार्य ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा का निवासी कहा है।<sup>३</sup> इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएँ हैं जिनमें ऋषभ, पार्श्व, महावीर आदि तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ हैं। ये सभी गुफाएँ उसी क्षत्रपकाल अर्थात् प्रथम-द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। जैन साहित्य में ढंक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख है और पादलिप्तसूरि के शिष्य नागार्जुन यहीं के निवासी कहे गए हैं।<sup>४</sup>

उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत विदिशा के उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर स्थित है, जहाँ २० गुफाएँ एवं मन्दिर हैं। इनमें पश्चिम की ओर की प्रथम तथा पूर्व दिशा में स्थित २०वीं, दो स्पष्टतः जैन गुफाएँ हैं। पहली गुफा किसी चट्टान को काटकर नहीं बनाई गई, अपितु एक प्राकृतिक कन्दरा है जिसमें ऊपर प्राकृतिक चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खम्भे खड़े कर दिए गये हैं जिससे उसे गुफा-मन्दिर की आकृति मिल गई है। जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवास स्थान बनाते थे, इसलिए यह गुफा ई०पू० काल से ही जैन मुनियों की गुफा रही होगी, किन्तु इसका संस्कार गुप्तकाल में हुआ, जैसा कि यहाँ के स्तम्भों की कला एवं गुफा में खुदे एक लेख से स्पष्ट है। यह लेख गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त 'द्वितीय' का है, जिससे उसका काल चौथी शती का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व में स्थित २०वीं गुफा में पार्श्वनाथ की भव्य मूर्ति विराजमान है, जो यद्यपि बहुत कुछ खण्डित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कला को प्रकट कर रहा है। यहाँ पर भी संस्कृत में एक लेख है जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् १०६ (ई० सन् ४२६, कुमारगुप्त का काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को भद्रान्वयी आचार्य गोमर्श मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय ई०पू० चौथी शती में हुए थे। उत्तर भारत में १२ वर्ष का घोर दुर्भित पड़ने पर वे जैन संघ लेकर दक्षिण भारत गए और मैसूर प्रदेश के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्य-पाट त्यागकर उनके शिष्य हो गए थे और उन्होंने भी श्रवणबेलगोला पहाड़ी पर तपस्या की, जो उनके नाम से चन्द्रगिरि कहलायी। इस पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन मन्दिर भी है जो उन्हीं के नाम से चन्द्रगुप्तवसति कहलाता है। उसी पहाड़ी पर एक अत्यन्त साधारण सी छोटी गुफा है, जो भद्रबाहु गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था। यहाँ उनके चरण-चिह्न भी अंकित हैं और पूजे जाते हैं। दक्षिण भारत में यही सबसे प्राचीन जैन गुफा है।<sup>५</sup>

महाराष्ट्र में उस्मानाबाद से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत में एक प्राचीन गुफा-समूह है। इसके मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १९.३x१५ फीट लम्बा-चौड़ा एवं १३ फीट ऊँचा है, जिसमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएँ अपेक्षाकृत बहुत छोटी हैं। तीसरी एवं चौथी गुफाओं में भी जिन-प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। ये गुफाएँ अनुमानतः ई०पू० ५००-६५०

के बीच की हैं।<sup>६</sup> इस गुफा-समूह के सम्बन्ध में जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहाँ तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंडु ने कुछ गुफाएँ बनवायीं और पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इसका सुन्दर वर्णन ११वीं शती की रचना कनकामरकृत अपभ्रंश काव्य **करकंडचरित** में मिलता है। इतना निश्चित है कि जब मुनि कनकामर ने उक्त ग्रन्थ रचा, तब तेरापुर की गुफा विशाल और प्राचीन समझी जाती थी।<sup>७</sup>

दक्षिण के तमिल प्रदेश में भी प्राचीन काल से ही जैनधर्म का प्रभाव रहा है। 'संगम युग' की समस्त मुख्य कृतियाँ **तिरुकुरुल** आदि जैनधर्म से प्रभावित हैं। जैन द्राविड़ संघ का संगठन भी प्राचीन है। इस प्रदेश में भी जैन संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। जैन मुनियों का एक प्राचीन केन्द्र सित्तन्नवासल नामक स्थान रहा है। यहाँ की जैन गुफा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर एक ब्राह्मी लिपि का लेख मिला है जो अशोक के समय का प्रतीत होता है। इस लेख से स्पष्ट है कि गुफा का निर्माण जैनमुनियों के निमित्त कराया गया था। यह विशाल गुफा १००x५० फीट की है, जिसमें अनेक कोष्ठक और समाधि-शिलाएँ भी बनी हुई हैं। वास्तुकला एवं चित्रकला की दृष्टि से यह गुफा महत्त्वपूर्ण है।

बादामी की जैन गुफा भी उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल सातवीं शती का मध्य भाग माना जाता है। यह गुफा १६ फीट गहरी तथा ३१x३९ फीट लम्बी-चौड़ी है। पीछे की ओर मध्य भाग में देवालय है और तीनों पार्श्वों की दीवारों में मुनियों के निवासार्थ कोष्ठक बने हैं। यहाँ चामरधारियों सहित तीर्थङ्कर महावीर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवारों और स्तम्भों पर भी जिनमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८वीं शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। गुफा के बरामदों में एक ओर पार्श्वनाथ तथा दूसरी ओर बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

इसी प्रकार ऐहोल नामक ग्राम के समीप कुछ गुफाएँ हैं जिनमें भी जैन मूर्तियाँ विद्यमान हैं। मुख्य गुफाओं की रचना बादामी गुफा के ही समान है। गुफा बरामदा, मण्डप और गर्भगृह में विभाजित है। बरामदे में चार खम्भे हैं और उनकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतियाँ बनी हुई हैं। बायीं भित्ति में पार्श्वनाथ की मूर्ति है जिसके एक ओर नाग तथा दूसरी ओर नागिन स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्रफण युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतियाँ एवं चिह्न भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। गुफाओं में पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशिन 'द्वितीय का ६३४ ई० का लेख उत्कीर्ण है।'<sup>८</sup>

गुफा-निर्माण की कला एलोरा में अपने चरम उत्कर्ष पर है। यह स्थान यादव नरेशों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से १६ मील दूर है और यहाँ का शिलापर्वत अनेक गुफा-मन्दिरों से अलंकृत है। यहाँ बौद्ध, हिन्दू और जैन, तीनों सम्प्रदायों के शैल मन्दिर बड़ी सुन्दर प्रणाली से बने हुए हैं। यहाँ पाँच जैन गुफाएँ हैं जिनमें से तीन-छोटा कैलाश, इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शिला को काटकर बनाया गया है और उसकी रचना कुछ छोटे आकार में कैलाश मन्दिर का अनुकरण करती है। समूचा मन्दिर ८० फीट चौड़ा एवं १३० फीट ऊँचा है, मण्डप लगभग ३६ फीट लम्बा-चौड़ा है और उसमें १६ स्तम्भ हैं। इन्द्रसभा नामक गुफा मन्दिर की रचना भी इस प्रकार की है कि पाषाण में बने द्वार से भीतर जाने पर एक विशाल चौकोर प्रांगण है, जिसके मध्य में पाषाण से निर्मित द्राविड़ शैली का एक चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है और उसके सम्मुख ३२ फीट ऊँचा ध्वज-स्तम्भ है। इसके पीछे सभागृह है जो इन्द्रसभा के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों तलों में प्रचुर चित्रकारी है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इन गुफाओं का निर्माण ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला स्तम्भों से अलंकृत है तथा शाला के दोनों तरफ भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाएँ हैं और पार्श्व कक्ष में इन्द्र तथा हाथी की मूर्तियाँ स्थित हैं। इन्द्रसभा की बाहरी दीवार पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उन पर किए गए उपसर्ग का सुन्दर चित्रण है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है व एक नागिन छत्र धारण किए हैं, दो अन्य नागिन भक्त, आश्चर्य व दुःख की मुद्रा में दिखायी देती हैं। एक ओर भैसें पर सवार असुर रौद्र मुद्रा में शस्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिए उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े खड़े हैं। दक्षिण दीवार पर लताओं से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। अनुमानतः इन्द्रसभा की रचना तीर्थङ्कर के जन्म कल्याणोत्सव की स्मृति में हुई है जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता है। इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश्य है यद्यपि प्रमाण में उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय में तीर्थङ्कर महावीर की पद्मासन मूर्ति है। दीवारों तथा स्तम्भों पर सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन गुफाओं का निर्माणकाल ८वीं शती ई० के लगभग माना जाता है। इसके पश्चात् जैन परम्परा में ही नहीं, अपितु भारतीय परम्परा में गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है और स्वतन्त्र मन्दिर निर्माण कला उसका स्थान ग्रहण करती है।<sup>९</sup>

नवीं शताब्दी का एक शिला मन्दिर दक्षिण त्रावणकोर में त्रिवेन्द्रम स्थित कुर्जीयुर

नामक ग्राम से पाँच मील उत्तर की ओर पहाड़ी पर स्थित है जो श्री भगवती मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मन्दिर पहाड़ी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है और सामने तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के गुफा भाग के दोनों प्रकोष्ठों में विशाल पद्मासन जिन मूर्तियाँ सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। शिला का आन्तरिक और बाहरी भाग जैन तीर्थङ्करों की ३० प्रतिमाओं से अलंकृत है। कुछ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वत्तजेत्थु में लेख भी हैं जिनसे उस स्थान का जैनों से सम्बन्ध तथा उसका निर्माण काल ९वीं शती सिद्ध होता है।

अंकाई-तंकाई नामक गुफा समूह येवला तालुके में मनमाड से ९ मील दूर अंकाई के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फीट ऊँची पहाड़ियों में सात छोटी-छोटी गुफाएँ हैं, जो कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम गुफा में बरामदा, मण्डप और गर्भगृह है। मण्डप का द्वार प्रचुर कलाकृतियों से पूर्ण है, अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पकलापूर्ण है। दूसरी गुफा के नीचे बरामदे के दोनों पार्श्वों में पाषाण की मूर्तियाँ हैं जिनमें इन्द्र-इन्द्राणी भी हैं और दूसरे तल पर दोनों पार्श्वों में विशाल सिंहों की आकृतियाँ मिलती हैं। तीसरी गुफा के मण्डप की छत पर कमल की आकृतियाँ हैं, जिनकी पंखुड़ियों पर देवियाँ वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियों के अनेकयुगल नाना वाहनों पर आरूढ़ हैं। स्पष्टतः यह दृश्य तीर्थङ्कर के जन्म कल्याणक उत्सव का है। गर्भगृह में मनुष्याकृति शान्तिनाथ व उनके दोनों ओर पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ हैं। शान्तिनाथ के सिंहासन पर उनका मृग लांछन, धर्मचक्र, भक्त और सिंह की आकृतियाँ बनी हैं। ऊपर विद्याधर व गजलक्ष्मी की आकृतियाँ हैं, ऊपर से गन्धर्वों के जोड़े पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। शैली आदि अन्य बातों से इन गुफाओं का निर्माण काल ११वीं शती प्रतीत होता है। शेष गुफाएँ ध्वस्त अवस्था में हैं।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था, लेकिन जैनी १५वीं शती तक गुफाओं का निर्माण करते रहे। इसका उदाहरण तोमर राजवंशकालीन ग्वालियर की जैन गुफाएँ हैं। जिस पहाड़ी पर ग्वालियर का दुर्ग बना हुआ है, वह दो मील लम्बी, आधा मील चौड़ी तथा ३०० फीट ऊँची है। दुर्ग के भीतर १०९३ ई० का बना सास-बहू का मन्दिर है जो जैन मन्दिर रहा है। लेकिन इस पहाड़ी पर जैन गुफाओं का निर्माण १५वीं शती में हुआ। सम्भवतः यहाँ गुफा-निर्माण की प्राचीन परम्परा रही होगी और वर्तमान में पायी जाने वाली कुछ गुफाएँ १५वीं शती से पूर्व की भी हो सकती हैं। लेकिन १५वीं शती में तो जैनियों ने समस्त पहाड़ी को ही गुफामय कर दिया। पहाड़ी के ऊपर, नीचे व चारों तरफ जैन गुफाएँ विद्यमान हैं। इन गुफाओं में योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्ठव नहीं है, परन्तु इनकी संख्या, विस्तार एवं मूर्तियों की विशालता, इन गुफाओं की विशेषता

है। गुफाएँ बहुत बड़ी हैं व उनमें तीर्थङ्करों की लगभग ६० फीट ऊँची प्रतिमाएँ हैं। उर्वाही द्वार के प्रथम गुफा-समूह में लगभग २५ विशाल तीर्थकर मूर्तियाँ हैं जिनमें से एक ५७ फीट ऊँची है। आदिनाथ और नेमिनाथ की ३० फीट ऊँची मूर्तियाँ हैं। अन्य छोटी-बड़ी प्रतिमाएँ भी हैं जिनमें रचना व अलंकरण आदि का सौन्दर्य व लालित्य दिखायी नहीं देता। यहाँ से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहाँ अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बावड़ी के समीप एक गुफा में पार्श्वनाथ की २० फीट ऊँची पद्मासन मूर्ति तथा अन्य तीर्थङ्करों की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तियाँ हैं। इसी के समीप यहाँ की सबसे विशाल गुफा है जो यर्थाततः मन्दिर है। यहाँ की मुख्य मूर्ति ६० फीट ऊँची है। इन गुफा-मन्दिरों में अनेक शिलालेख भी मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं का निर्माण १५वीं शती में हुआ था। यद्यपि कला की दृष्टि से नहीं, लेकिन इतिहास की दृष्टि से इन गुफाओं का अत्यधिक महत्त्व है।<sup>१०</sup> इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जैन-गुफाएँ देश के विभिन्न भागों में पहाड़ियों में पायी जाती हैं जिनका धार्मिक, ऐतिहासिक एवं कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। इस प्रकार जैन गुफा स्थापत्य का धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व प्राचीन काल से ही रहा है।

### सन्दर्भ :

१. जनार्दन भट्ट : (संपा०) अशोक के अभिलेख, पृ० १२५।
२. पी०के० मजुमदार : (संपा०) भारत के प्राचीन अभिलेख।
३. एच०डी० सांकलिया : आर्क्योलॉजी ऑव गुजरात, १९४१; जेम्स बर्जेस: एण्टीक्वीटीज ऑव काठियावाड़ एण्ड कच्छ, १८७४-७५, पृ० १३९।
४. दे० राजशेखरकृत प्रबन्धकोश एवं जिनप्रभसूरिविरचित विविधतीर्थकल्प।
५. राधा कुमुद मुर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० ६४-६५।
६. अर्क्यो० सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया, वाल्यूम ३।
७. करकंडचरित ४.४-५।
८. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३१३-१४।
९. वही, पृ० ३१५।
१०. वही, पृ० ३१६-१७।





## जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ में मृत्यु विचार

मनोज कुमार तिवारी\*

मृत्यु शब्द से हम सभी परिचित हैं। इस शब्द को सुनते ही व्यक्ति सहम जाता है और उसमें एक अनजान भय फैल जाता है। मृत्यु जीवन को समाप्त करने वाली घटना है। मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध को लेकर व्यक्तियों, सम्प्रदायों आदि में मतभेद है। जो लोग शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, उनका स्पष्ट मत है कि मृत्यु के द्वारा जब शरीर का सर्वथा नाश हो गया तो शेष रहा क्या? दूसरे लोग जो शरीर को केवल आत्मा का निवास स्थान मानते हैं, उनका मत है कि मृत्यु केवल शरीर के नाश होने का नाम है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है। आत्मा एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में केवल चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी का मत है कि आत्मा एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। पाश्चात्य देशों में अधिकांश लोगों के प्रकृतिवादी होने के कारण मृत्यु का अर्थ जीवन का सर्वनाश ही समझा जाता है। 'सायकिकल रिसर्च' नामक विज्ञान की एक शाखा का काम इस प्रश्न का भलीभाँति अध्ययन करना ही है। इस क्षेत्र में काम करने वाले अनेक विद्वानों को तो पूरा विश्वास हो गया है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं कर देती; मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है और मृत जीवों से हमारा वार्तालाप का सम्बन्ध हो सकता है। कभी-कभी मृतजनों (प्रेतों) का दर्शन भी हो सकता है और होता है। बहुत सी घटनायें कभी-कभी ऐसी भी होती रहती हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् प्राप्त किये हुए जीवन में मृत्यु के पूर्व के जीवन के अनुभव की याद बनी रहती है। आजकल इस प्रकार की अनेक पुस्तकें आ गयी हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् जीवन और पूर्वजन्म सिद्ध करने के लिए अनेक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रमाण दिए गए हैं।

सृष्टि का अटल नियम है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है-जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, जिसका निर्माण हुआ उसका विनाश अवश्य होगा। सृजन एवं विध्वंस की प्रक्रिया ही विकास की प्रक्रिया है। बिना विध्वंस के नया सृजन नहीं हो सकता। जीवन में मृत्यु अनिवार्य ही नहीं आवश्यक भी है क्योंकि इसी के साथ चेतना के विकास की प्रक्रिया जुड़ी हुई है। जिस प्रकार दिनभर के श्रम के बाद नींद

\* शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आवश्यक है जिससे वह दूसरे दिन नई स्फूर्ति, नया जोश और उमंग के साथ कार्य कर सके, उसी प्रकार पूरा जीवन कार्य करने के बाद मृत्यु के उपरान्त वह नया जीवन तथा नई चेतना लेकर पुनः जन्म लेता है। जीवन में जो कुछ सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि के मृदु तथा कटु अनुभव किये हैं उनका मृत्यु के बाद पाचन होता है तथा उनसे प्राप्त अनुभूतियों को लेकर वह फिर जन्म ग्रहण करता है जिससे उसका अगला जीवन अधिक सुखद एवं विकसित होता है। इसी क्रम से बार-बार जन्म लेकर उनके प्राप्त अनुभवों के आधार पर उसकी निरन्तर प्रगति होती जाती है तथा अन्त में वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

यहाँ पर हम जैन दर्शन एवं योगवासिष्ठ के सन्दर्भ में मृत्यु पर विचार करेंगे।

भारतीय मनीषियों ने जीवनकला के साथ - साथ मृत्युकला पर भी गहरा चिन्तन किया है और इस रहस्य को उजागर किया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणों को छोड़ सकते हैं। देहत्याग के समय हमें कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। जिस प्रकार हम अपने पुराने - फटे वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय होनी चाहिए। योगवासिष्ठ अनेक उदाहरणों द्वारा इस अनुभूति को स्पष्ट करता है - जैसे पक्षी एक वृक्ष को छोड़कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठता है वैसे ही आशा के सैकड़ों फाँसों से बँधा हुआ और अनेक वासनाओं के भावों से युक्त जीव (आत्मा) भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। अपने भीतर के वासनाओं की भावना के अनुसार आकार धारण के कारण समय-समय पर जीव अपने विचार के अनुसार अपना आकार बदलता रहता है।<sup>१</sup> जीवन का यह दृष्टिकोण मृत्यु की कला है और इस कला को सिखाने का सबसे अधिक प्रयत्न 'जैन मनीषियों' ने किया है, जिसे समाधिमरण, सल्लेखना, संथारा आदि नामों से जाना जाता है।

जैन परंपरा में मृत्यु को एक प्रक्रिया के अन्तर्गत अपनाया जाता है। यह प्रक्रिया कठिन होती है। इसका नाम समाधिमरण है। इसे ज्ञानीजन ही अपना सकते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा मृत्यु का स्वागत या आलिंगन करने के लिए स्वयं धीरे-धीरे इसकी ओर (मृत्यु की ओर) बढ़ते हैं।

जैन परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में समाधिमरण एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इस परम्परा में श्रमण साधकों एवं गृहस्थ उपासकों दोनों के लिए समाधिमरण ग्रहण करने के निर्देश मिलते हैं। जैन आगमों में समाधिमरण ग्रहण करने के अनेक सन्दर्भ हैं। अन्तकृद्दशांग एवं अनुत्तरोपपातिक में ऐसे श्रमण साधकों और उपासकदशांग में ऐसे गृहस्थों की जीवन गाथाएँ मिलती हैं, जिन्होंने जीवन के अंतिम समय में समाधिमरण किया था।

**आचारांग, समवायांग, स्थानांग, पंचाशकादि** प्राचीन जैन ग्रन्थों में समाधि-मरण अथवा सल्लेखना के स्वरूप पर विचार-विमर्श हुआ है, लेकिन **रत्नकरंडक श्रावकाचार** में आचार्य समन्तभद्र ने समाधिमरण के स्वरूप का स्पष्ट शब्दों में जो विवेचन किया है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है। इनके अनुसार - उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, असाध्य रोग अथवा इसी तरह की कोई प्राणघातक अनिवार्य परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर धर्म की रक्षा अथवा समभाव की साधना के लिए जो देहत्याग किया जाता है, वह समाधिमरण कहलाता है।<sup>२</sup>

जीवन की अंतिम बेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में इधर-उधर के विक्षेप, माया-ममता, वैभव-विलास, ललक-लालसा से पृथक होकर अपनी स्वीकृत साधना, आत्म-मन्थन के प्रति एक रूप होकर तथा सभी पाप, ताप, संताप, समग्र आसक्ति और प्रीति से विमुक्त होकर अनशनपूर्वक देह से ममत्व का त्याग कर देना चाहिए। साधना की इस अर्न्तमुखी स्थिति में साधक परिवार, घर, जड़, चेतन आदि सभी पदार्थों से आसक्ति का त्याग करता है। अपनी समस्त शक्ति अर्थात् आत्मा, मन, प्राण आदि को इस समत्व साधना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। साधक को लौकिक और पारलौकिक दोनों संसारों का आकर्षण नहीं रहता है। सभी ओर से सिमटकर वह विशुद्ध आत्म-परिणति में विचरण करता है। इस प्रकार समाधिमरण विशुद्ध चारित्र से युक्त आत्मभाव में आत्मा के रमण करने का नाम है।<sup>३</sup>

**उपासकाध्ययन** का स्पष्ट मत है कि जब व्यक्ति को यह विदित हो जाए कि उसका शरीर नष्ट होने वाला है तो उसे समभावपूर्वक शरीर का त्याग करना चाहिए और यदि देह ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह नष्ट हो रहा हो तो किसी तरह का प्रमाद भी नहीं करना चाहिए।<sup>४</sup>

प्राणि के दुःखों का मूल कारण देह के प्रति मोह भाव ही है क्योंकि देह के प्रति रागभाव और देह के विनाश के कारणों के प्रति द्वेष-भाव होने से वह समभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है। वह अपने प्रियजनों की मृत्यु अथवा स्वयं की मृत्यु की सम्भावना से सदैव भयभीत रहता है। लेकिन जो ज्ञानी हैं, वे ऐसा नहीं समझते हैं। वे अपनी मृत्यु से नहीं डरते उनके अनुसार तो मृत्यु जीर्ण-शरीररूपी-पिंजरे से आत्मा का छुटकारा दिलाती है अतः यह तो कल्याणकारी मित्र है। ऐसी निराकांक्ष समभाव मृत्यु को मृत्यु महोत्सव कहा गया है।<sup>५</sup>

**योगवासिष्ठ** का भी स्पष्ट मत है कि मृत्यु के समय अज्ञानी को ही क्लेश होता है। इसके उपाख्यानों में लीला का उपाख्यान सर्वश्रेष्ठ और सबसे लम्बा है। इसमें मृत्यु आदि अनेक रहस्यों का वर्णन है। व्यक्ति तीन प्रकार होते हैं।<sup>६</sup> प्रथम अज्ञानी पुरुष, द्वितीय धारणा का अभ्यास करने वाला पुरुष और तृतीय युक्ति युक्त पुरुष।

**योगवासिष्ठ** के अनुसार, अंतिम दो अर्थात् धारणा का अभ्यास करने वाला एवं युक्तियुक्त पुरुष शरीर को सुखपूर्वक त्याग देता है। किन्तु प्रथम जो अज्ञानी पुरुष है उसे मृत्यु के समय बहुत कष्ट होता है।<sup>९</sup>

**योगवासिष्ठ** का स्पष्ट मत है कि जो व्यक्ति शास्त्रों के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं किया है या अच्छों की संगति न करके बुरे लोगों के संगति में रहता है तो ऐसे व्यक्ति को मृत्यु के समय ऐसी आन्तरिक वेदना होती है जैसे कि वह अग्निकुण्ड में गिर पड़ा हो।

आगे योगवासिष्ठकार ने विवेकहीन पुरुष के मृत्यु के निकट होने पर जो अवस्था होती है, उसका उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है - मृत्यु के समय उसके आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है, उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता है, उसे दिन में ही तारे दिखाई देने लगते हैं। उसको आकाश में चारों ओर काले बादल छाए हुए नजर आते हैं। उसका हृदय दर्द से फटने लगता है। उसे ऐसा लगता है जैसे कि सारे पदार्थ गतिशील हों, पृथ्वी आकाश के स्थान पर और आकाश पृथ्वी के स्थान पर है। उसे ऐसा लगता है जैसे उसे अंधेरे कुँए में डाल दिया गया हो या पत्थर के अन्दर दबा दिया गया हो। वह अपने को चारों ओर से गिरता, पड़ता हुआ चिल्लाने की आवाज सुनता हुआ पागल सा होकर अपनी सब इन्द्रियों में चोट लगी हुई सा अनुभव करता है। उसके सब इन्द्रियों का ज्ञान धीरे-धीरे मन्द पड़कर चारों ओर अन्धेरा छा जाता है उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है। मोह के कारण उसकी कल्पना शक्ति भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार से वह अपने विवेक को खोकर महा अंधकार में पड़ा रहता है।

सामान्यजन संसार और विषय-कषाय के पोषक जड़ और चेतन पदार्थों को आत्मीय समझते हैं। आत्मीयता के कारण उन्हें छोड़ने में कष्ट होता है। लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है जिनको शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान है वे विषय और कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को तथा अपने शरीर को भी आत्मीय नहीं मानते हैं। अतः उनको छोड़ने में दुःख नहीं होता है। वे इस संसार को अपना वास्तविक निवास स्थान नहीं समझते हैं। वे इससे मुक्त होना चाहते हैं। अतः ज्ञानी व्यक्ति अपने पौद्गलिक शरीर के त्याग का अवसर उपस्थित होने पर आनेवाली मृत्यु का महोत्सव मनाते हैं। वे अपने रुग्ण, असक्त, क्षणभंगुर, जीर्ण-शीर्ण शरीर को उसी प्रकार प्रसन्नतापूर्वक छोड़ते हैं जिस प्रकार नया वस्त्र ग्रहण करने के लिए पुराने वस्त्रों का त्याग किया जाता है।<sup>८</sup>

वसिष्ठजी का भी कहना है कि मृत्यु का भय मूर्खता है क्योंकि मृत्यु का दो में से एक ही अर्थ हो सकता है : या तो मरने पर मनुष्य का सर्वथा अन्त हो जाता

हो या मृत्यु के पश्चात् उसे दूसरा जीवन मिलता हो। इन दोनों बातों में से जो भी हो अच्छी ही है। जब अन्त ही हो गया तो डर किस बात का? चलो सब आफतों और मुसीबतों से सदा के लिए मुक्ति मिली। जीवन का, जिसमें नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, झंझट मिटा। ऐसा होने पर अफसोस और डर किस बात का? यदि मृत्यु से जीवन का अन्त नहीं होता बल्कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश होता है तो फिर खेद और डर किस बात की? पुराने और रोगी शरीर को छोड़कर नये में प्रवेश करना किसको बुरा लगेगा? यह तो ऐसा ही है जैसा कि फटे-पुराने कपड़ों को फेंककर नये कपड़ों को पहनना अथवा पुराने और टूटे-फूटे मकान को छोड़कर दूसरे नये मकान में प्रवेश करना। ऐसा होने पर तो दुःख की जगह आनन्द मनाना चाहिए।<sup>१</sup>

मृत्यु अवश्यभावी है। इससे बचा नहीं जा सकता है। अतः तप, संयम, समाधि आदि से जीवन को लाभान्वित करना चाहिए। तप, संयम आदि व्रतों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक जो मृत्यु प्राप्त होती है, वह समाधिमरण ही है।<sup>१०</sup> महर्षि मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं तप आदि शुद्ध भावनाओं द्वारा श्रामण्य धर्म का पालन करते हुए इस अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त किया था।<sup>११</sup>

प्रत्येक व्यक्ति जीवनभर नाना प्रकार के कष्टों से अपने शरीर की रक्षा करता है। अनेक प्रकार की प्रताड़नाओं को सहते हुए इसे सुख देने का भरपूर प्रयास करता है। लेकिन एक दिन यह शरीर कृतघ्न की भाँति साथ छोड़ देती है। अज्ञानी व्यक्ति हर समय इस चिन्ता में रहता है कि इससे कैसे बचाया जाए। लेकिन मृत्युरूपी शिकंजा इसे अन्ततोगत्वा कस ही लेता है। अज्ञानी अपनी देहासक्ति के कारण इस विचार से अत्यन्त दुःखी रहता है तथा अज्ञान के बन्धन में पड़ा रहता है। लेकिन जो व्यक्ति ज्ञानसहित देह पर से अपने ममत्व का त्याग करता है तथा धर्मध्यानसहित वीतरागतापूर्वक अपना देह त्याग करता है, उसका यह देह त्याग समाधिमरण है।<sup>१२</sup>

समाधिमरण अपनातेवाला (ज्ञानी) व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता है। जब मृत्यु का समय निकट होता है तो वह प्रसन्नचित्त होकर यह कह उठता है “अहिंसा, सत्य, क्षमा, संतोष की धर्म साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप में चला हूँ और मानव जीवन के इस स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्म साधना के नाम पर बहुत कुछ कर लिया है, अब शेष कार्य आगे करूँगा। जीवन का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया है, जीवन के अंतिम क्षणों में भी झुकेंगे नहीं। हे मृत्यु! हम तुम्हें ही झुकाएंगे।” वह कह उठता है- “यह देह तो नाशवान है, इसे नष्ट होना ही है। अतः ऐ मृत्यु! तेरा स्वागत है, तू मेरे नश्वर शरीर को अपने साथ ले जा और मेरी अमर आत्मा को इससे मुक्त करा।”<sup>१३</sup> यहाँ व्यक्ति का यह मनोभाव उसकी ज्ञान-भावना तथा मृत्यु और जीवन के प्रति तटस्थता के भाव का प्रदर्शन कर रही है।

योगवासिष्ठ के अनुसार व्यक्ति इस जन्ममरण के भंवर में तभी तक फँसा रहता है जब तक कि आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। जब तक अज्ञानी जीव अपने अनिन्दित स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेते हैं तब तक वे जल में आवर्तों भाँति संसार में चक्कर काटते रहते हैं। विवेकी पुरुष आत्मसाक्षात्कार के बाद असत् का त्यागकर सत्य ज्ञान को प्राप्त कर कालक्रम से परमपद पा कर पुनः मृत्यु के पश्चात् संसार में पुनर्जन्म नहीं पाता। मृत्यु के द्वारा उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जाने पर उसे किसी दूसरे शरीर में जाने की आवश्यकता नहीं रहती।<sup>१४</sup>

जैन आचार्यों की दृष्टि में मानव शरीर की अपेक्षा धर्म या नैतिक मूल्यों की रक्षा का ज्यादा महत्त्व है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अगर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें धर्म और शरीर दोनों ही के नष्ट होने की सम्भावना हो अथवा धर्म की रक्षा शरीर त्याग से सम्भव हो तो धर्मरक्षार्थ शरीर का त्याग करना श्रेयस्कर है। लेकिन इस शरीर त्याग में व्यक्ति के मन में मरने या जीने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। अगर किसी चीज की आकांक्षा रहे तो मात्र धर्म या नैतिक मूल्यों के रक्षा की।

सामान्य रूप से व्यक्ति धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के लिए अपने शरीर का पोषण एवं रक्षण करता है, लेकिन जब उसका शरीर धर्म और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है और वह बोझ बनने लगता है, तब ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के निमित्त देहत्याग करता है। उसका यह देहत्याग आध्यात्मिक दृष्टि से उचित माना जा सकता है। आचार्य देवनन्दी ने इसे बड़े ही अच्छे ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार सोना-चाँदी, खाद्य पदार्थ तथा अन्य इसी तरह की मूल्यवान और उपयोगी वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यवसायी को उस घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं होता जिसमें उक्त वस्तुएँ रखी हों। यदि किसी कारणवश उसके विनाश का प्रसंग (आग, बाढ़ आदि) उपस्थित हो जाए तो वह उस घर की रक्षा का पूरा उपाय करता है लेकिन जब घर- रक्षा का उपाय सफल होता दिखाई नहीं देता तो घर में रखे हुए बहुमूल्य वस्तुओं को ही बचाने का प्रयास करता है और घर को नष्ट होने देता है। इसी प्रकार व्रत- शीलादि गुणों का अर्जन करने वाला व्यक्ति इन व्रतादि गुणों के आधारभूत शरीर का पोषण एवं रक्षण आहार द्वारा करता है। दुर्भाग्यवश यदि शरीर के विनाश का कारण उपस्थित हो जाता है तो वह उसे दूर करने का यथा संभव प्रयत्न करता है। लेकिन जब उसको दूर करने में सफल नहीं होता है तो वह बहुमूल्य शीलादि व्रत गुणों की रक्षा करते हुए समाधिपूर्वक शरीर त्याग करता है। तात्पर्य यह है कि धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के लिए ही समाधिमरण ग्रहण किया जाता है।<sup>१५</sup>

जैन धर्म में समाधिमरण का उद्देश्य देह का विनाश करना नहीं है अपितु उस स्थिति में जब शरीर का त्याग अपरिहार्य हो गया हो तब उसके पोषण के प्रयत्नों को त्याग करके उसके प्रति ममत्व को दूर कर लेना है, ताकि देहत्याग की बेला में चित्त की समाधि बनी रहे। समाधिमरण का निश्चय चित्त की विकलता को दूर करने के लिए किया जाता है। अतः जैन धर्म में समाधिमरण को साधना का एक अंग माना गया है, जिसकी सहायता से मन में आए विकलता के भाव को दूर किया जा सके। व्यक्ति में सबसे अधिक राग अपने शरीर के प्रति ही होती है और शरीर के प्रति यह लगाव समाधिमरण के निश्चय द्वारा ही छोड़ी जा सकती है। इसीलिए समाधिमरण साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है।<sup>१६</sup>

राग-द्वेष बन्धन के मूल कारण हैं। इन्हीं के कारण व्यक्ति अपने-पराये के बोध से ग्रसित रहता है तथा संसार के इस भव चक्र में उलझता रहता है, लेकिन समाधिमरण करने वालों को अपने-पराये तथा सांसारिक वस्तुओं से किसी तरह का लगाव नहीं रहता है। वह निर्लिप्त हो जाता है और निर्लिप्तता की इस स्थिति में जन्म-मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाता है तथा जीवन और मृत्यु दोनों ही परिस्थितियों में समभाव बनाए रखता है। उसके मन में उच्चकोटि के विचार उठते हैं तथा वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है। मैं किसी काल में इस शरीर का नहीं हूँ। यह शरीर जन्म, जरा-मरण से युक्त है, रोग, आधि-व्याधि से घिरा हुआ है। सुख या कष्ट इस देह को होता है, मुझे नहीं। संसार में सम्पत्ति या विपत्ति, संयोग या वियोग, जन्म या मरण, सुख या दुःख, मित्र या शत्रु जो कुछ भी होता है वह सभी पूर्व में किए गए पाप-पुण्य का फल है। मैं एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ। उसी का कर्ता, भोक्ता और अनुभवकर्ता हूँ। ज्ञायक का स्वभाव तो अविनाशी है, उसका किसी भी तरह विनाश नहीं होता है। वह तीनों कालों में अबाधित और अचल है। अतः यह शरीर रहा तो क्या? मया तो क्या? इसलिए शरीर पर से पूर्णतः अपने ममत्व का त्याग करता हूँ। मैं समाधिमरण व्रत करके मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ।<sup>१७</sup>

जैन धर्म में समाधिमरण की महत्ता इसी से परिलक्षित होती है कि प्रत्येक जैन मुनि एवं श्रावक अपनी उपासना के अन्त में यही कामना करता है कि - मैं समाधिमरण में प्रवृत्त होकर इस मार्ग को सुखपूर्वक पार कर सकूँ। इसके लिए वीतरागदेव समाधि तथा बोधि एवं कल्याणकारी पथ प्रदान करें, जिससे मैं मुक्ति प्राप्त कर सकूँ।<sup>१८</sup> अर्थात् समाधिमरणरूपी पथ पर चलकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

**योगवासिष्ठ** के अनुसार चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है, ('न जायते म्रियते वा विपश्चित' यह श्रुति है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्न काल के भ्रम के समान जन्म, मरण आदि को देखता है।<sup>१९</sup>

प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न चेतन नहीं है ('एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाण से सब देहों में एक ही चेतन है) वह एक चेतन यदि मर जाय तो समष्टि और व्यष्टि का चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसी के अधीन है, कैसे नहीं मरेगा? अर्थात् अवश्य ही मर जायेगा। आशय यह है कि सम्पूर्ण विश्व वासना का वैचित्र्य है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतः किसी जीव की वास्तविक मृत्यु नहीं होती है और न जन्म होता है वह केवल अपनी वासना के अनुरूप अपने कतिपय गर्त में पुनः पुनः लुण्ठित होता है।<sup>२०</sup>

वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुख से श्रवण आदि के अभ्यास से भ्रमवश प्रतीत हो रहे जगत्-प्रपञ्च को, यह परमार्थरूप से उदित नहीं हुआ है, यह तत्त्वज्ञान से देखकर अज्ञान के हटने से सर्वथा द्वैत-वासना से शून्य हो विमुक्त हो जाता है। विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त कल्पित है। शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त इनमें कोई भी पुरुष नहीं है, ये सभी जड़ हैं। ये पदार्थ का प्रकाश नहीं करते हैं और न स्वयं भोग का अनुभव ही करते हैं, शरीर में चेतना ही पुरुष है, चैतन्य ही सर्वसाक्षी है। चेतन मरता है - इस सिद्धान्त का कोई साक्षी नहीं है। चेतना सम्बद्ध शरीर का मरण ही साक्षी सिद्ध है। चेतना की मृत्यु का कोई साक्षी नहीं है। क्या कभी किसी ने चेतना को मरते देखा है, विनाश ही तो मरण है, देहान्तर की प्राप्ति मरण नहीं है। चेतना का स्वतः विनाश और दूसरे से विनाश ये दोनों ही असंगत हैं। देहान्तर की प्राप्ति चेतना के अमरत्व के बिना असम्भव है। प्रत्येक शरीर में चेतना विभिन्न है, इसमें प्रमाण न होने से श्रौत प्रमाण से एक चैतन्य पक्ष ही प्रामाणिक है। चैतन्य का मरण मानने पर एक के मरने पर सभी के मरण की आपत्ति होगी, क्योंकि, एक के मरने पर सर्वमरण निष्पन्न नहीं होता है। अतः आत्मा का मरण नहीं हो सकता है, देहादि का ही मरण होता है, पुरुष का मरण कल्पना मात्र है।<sup>२१</sup>

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि समाधिमरण एवं आत्महत्या दोनों में ही स्वेच्छापूर्वक देहत्याग किया जाता है किन्तु समाधिमरण एवं आत्महत्या में अन्तर है।

समाधिमरण में जहाँ व्यक्ति मन की सांवेगिक अवस्थाओं से पूरी तरह से मुक्त होकर समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करता है वहीं आत्महत्या व्यक्ति अपनी समस्याओं से ऊबकर मन की सांवेगिक अवस्था से ग्रसित होकर करता है।

आत्महत्या एक असामान्य व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। सामान्य अवस्था में व्यक्ति देहत्याग के विषय में बात करना भी पसन्द नहीं करता है, लेकिन कुछ परिस्थितियों में वह देहत्याग कर देता है। आत्महत्या करते वक्त व्यक्ति उत्तेजना की चरम सीमा को पारकर जाता है, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर मोहग्रस्त होकर वह देहत्याग नहीं कर सकता है। समाधिमरण की प्रक्रिया में भी देहत्याग किया जाता



है, लेकिन दोनों अवस्थाओं में किया जाने वाला देहत्याग भिन्न है। एक आवेशयुक्त अवस्था में किया जाता है तो दूसरा आवेश मुक्त अवस्था में, अतः दोनों में भेद है।

इनमें अन्तर स्पष्ट करते हुए **सर्वार्थसिद्धि**<sup>२२</sup> एवं **तत्त्वार्थवार्तिक**<sup>२३</sup> में कहा गया है कि आत्महत्या जहाँ व्यक्ति बलपूर्वक या अपनी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध करता है, वहीं समाधिमरण कभी भी बलपूर्वक नहीं करता है। वह व्यक्ति की स्वतः अन्तः प्रेरणा पर निर्भर करता है। व्यक्ति निश्चय करता है कि धर्म की रक्षा के लिए समाधिमरण द्वारा देहत्याग करे या नहीं।

**तत्त्वार्थवार्तिक** के अनुसार राग-द्वेष क्रोधादिपूर्वक प्राणों के नाश किए जाने को अपघात या आत्महत्या कहते हैं। लेकिन समाधिमरण में न तो राग है, न द्वेष है और न ही प्राणों के त्याग का अभिप्राय ही है। इसे ग्रहण करनेवाला व्यक्ति जीवन और मरण के प्रति अनासक्त रहता है।<sup>२४</sup> जीवन और मरण के प्रति अनासक्त रहने के कारण उसे न तो जीवन की आकांक्षा होती है और न ही शीघ्र मृत्यु की, अर्थात् वह जो देहत्याग करता है मात्र इस भाव से कि मृत्यु अनिवार्य है, यह शरीर नष्ट होने वाला है। इसके प्रति राग रखना व्यर्थ है। अगर यह शरीर नष्ट होनेवाला है तो इसका पालन-पोषण करने से कोई लाभ नहीं है। अतः इसके प्रति अनासक्त होना ही श्रेयस्कर है। जबकि आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति के मन में यह भावना नहीं रहती है। उसके मन में मात्र यही भावना रहती है कि इस देह का त्याग करना है, वह भी शीघ्रतापूर्वक। समत्व का भाव उसके मन में नहीं रहता है। अपने तीव्र आवेग की पूर्ति के लिए वह त्याग करता है।

समाधिमरण और आत्महत्या करने की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। समाधिमरण व्यक्ति मात्र उन परिस्थितियों में प्रसन्नतापूर्वक करता है, जिनमें की जीवन यापन करना कठिन प्रतीत होता है। जैसे - अकाल, भुखमरी, उपसर्ग, वृद्धावस्था, असाध्य रोग आदि के कारण शरीर जर्जर हो जाने पर धर्म-रक्षार्थ व्यक्ति अपना देहत्याग करता है, लेकिन आत्महत्या किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में की जाती है। इसके लिए अकाल, उपसर्ग, वृद्धावस्था आदि परिस्थितियाँ अनिवार्य नहीं हैं।<sup>२५</sup>

जैन परम्परा के अनुसार समाधिमरण शान्ति एवं विवेक-पूर्वक देहादि पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग है, जो जीवन की सम्पूर्णता का एक अंग है। समाधिमरण एक आध्यात्मिक क्रिया है जो आत्मसुधार एवं आत्म-उत्थान का अंतिम एवं सर्वोत्तम विचारपूर्ण यत्न है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **योगवासिष्ठ** एवं जैन दर्शन दोनों ही मृत्यु को हर्ष का विषय मानते हैं, दुःख का नहीं। जीवन और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पक्ष

की भाँति है जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। सृष्टि इसी चक्र से जीव को गुजार कर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। जीव का पूर्ण विकास एक जन्म में संभव नहीं है इसलिए सृष्टि में कई जन्मों की व्यवस्था है। मृत्यु विकास का एक सोपान है। इसलिए मृत्यु एक अनिवार्य एवं आवश्यक सच्चाई है जिससे प्रसन्न होना चाहिए। दुःख का इसमें कोई कारण ही दिखाई नहीं देता।

**योगवासिष्ठ** में 'निर्दिष्ट योग' एक साथ ही मृत्यु भी है और जन्म भी। हमें अपने वर्तमान रूप को मृत्यु देनी होती है तभी नवीन प्रस्फुटित होता है क्योंकि जब तक मरेंगे नहीं तब तक कुछ नवीन कैसे उत्पन्न हो सकता है? **योगवासिष्ठ** के अनुसार नूतन तत्त्व हमारे अन्दर ही है - केवल प्रच्छन्न है। हम उस नूतन को 'लाने के लिए बीज जैसे हैं। बीज को पल्लिवित होने के लिए गिरना ही होता है, धरती में मिलकर उसमें विलीन होना ही होता है। जब तक बीज मरने को तैयार न हो, तब तक जन्म ले नहीं सकता। अतः हमारे वर्तमान स्वरूप की मृत्यु ही हमारा नवजीवन बन जाती है।

### सन्दर्भ :

१अ. आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः।

कायात् कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाऽण्डजाः॥ (**योगवासिष्ठः** ४/४३/२६)  
सम्पादक और हिन्दी अनुवादक - महाप्रभुलाल गोस्वामी।

१ब. काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम्। भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिको-  
दयात्॥ वही, ६/१/५१/३९।

२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ **रत्नकरण्डकश्रावकाचार्य**, पं०  
पन्नालाल 'वसन्त', वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली १९७२, ५/१।

३. आउरपच्चक्खाणं (दस पयण्णा), गाथा। ११, पृष्ठ-५-६ उद्धृत - रज्जनकुमार,  
**समाधिमरण**, वाराणसी २००२ ई० पृष्ठ ४।

४. तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।

स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥ **उपासकाध्ययन**, ८९१  
संपा०- पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९६४

५. ज्ञानिन् भय भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्यु महोत्सवे।

स्वरूपस्थः पुरंयाति देहीदेहांतर स्थिति ॥ **मृत्युमहोत्सव**, ३, श्री अखिल विश्व  
जैन मिशन, अलीगंज, एटा १९५८।

6. Dr. Bhagavan Das, *Mystic Experiences, Tales of yoga and Vedanta from the yogavasishtha* by Fourth Ed. 1988, Page - 93.

७अ. अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम्।

प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च॥ **योगवासिष्ठः** ३/५४/३६

७ब. मूर्खः स्वमृति कालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः। **योगवासिष्ठः** ३/५४/३७

८. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।

स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा॥ **मृत्युमहोत्सव**, ८।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ **गीता** २/२२।

९. भीखनलाल आत्रेय - **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त**, पृष्ठ-२८६।

१०. एव नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण या

भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं। **उत्तराध्ययनसूत्र**, १९/९४।

११. बहुयाणि उ वासाणि सामण्णमणुपालिया।

मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं। वही, १९/९५।

१२. अगर्भा दुःख संतप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे।

नात्मा विमुच्यते न्येन मृत्युभूमिपतिं बिना॥ **मृत्युमहोत्सव**, ५।

१३. देह विनासी मै अविनासी अपनी गति पकरेंगे।

नासी जासी में थिरवासी चोखे हैव निरखेंगे॥ **मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० - २६७।

१४. तावद् भ्रमन्ति संसारे वरिण्यावर्तराशयः।

यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमनिन्दितम्॥

दृष्ट्वाऽऽत्मानमसत्यक्त्वा सत्यामासाद्य संविदम्।

कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः ॥ **योगवासिष्ठः** ४/४३/२८-२९

१५. मरणास्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहं-विनाशोऽनिष्टः।

तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो

यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानः

तदाश्रयस्य न पातमभिवांछति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन

परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतता।

**सर्वार्थसिद्धिः**, ७/२२/७०५, संपा०- पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

१६. द्रष्टव्य - संदर्भ क्रमांक १२।

१७. **समाधिमरण भावना**, पृ० - ८ श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला, पुष्प १२६, जैन

पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।

११० : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

१८. मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे।

समाधि बोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरी पुरः॥ **समाधि सप्तपदी** उद्धृत रज्जनकुमार,  
पूर्वोक्त, पृष्ठ १७।

१९. न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित्।

स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत् षश्यति केवलम्॥ **योगवासिष्ठः** ३/५४/६७।

२०. अमरिष्यन्न वै चित्तमेकस्मिन्नेव तन्मृते। प्राच्यभारतीग्रन्थमाला

अभविष्यत् सर्वभावमृतिरेकमृताविह ॥ **योगवासिष्ठः** ३/५४/७०।

२१. अलमनुदितमदितं जगत्प्रबन्धं भवभयोऽभ्यसनैर्विलोक्य सम्यक्।

अलमनुदितवासनो हि जीवो भवति विमुक्त इतीह सत्यवस्तु॥ **योगवासिष्ठः**  
३/५४/७४।

२२. न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते? किं तर्हि! प्रीत्यर्थोऽपि। यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न  
सल्लेखना कार्यते॥

**सर्वार्थसिद्धि**, ७/२२/७०५, संपा०- पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री।

२३. यस्मात् असत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते, सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव  
करोति॥

**तत्त्वार्थवार्तिक**, ७/२२, पृ० - ३६३, संपा०- महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य,  
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२४. ... न तथा सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवध्दोषसंस्पर्शः॥  
**वही**, ७/२२/७।

... अर्हत्प्रणीतां सल्लेखनां कुर्वन् जीवितमरणानभिसन्धानात्

अनभिसंहितात्मीयमरण संबन्धेऽपि रागद्वेषाभावत् नात्मवधकः॥ **वही**,  
७/२२/९।

25. The vow is to be adopted "as a religious duty" (or to earn religious merit) during a Calamity, severe famine, old age or illness from which there is no escape or against which there is no remedy. T.K. Tukol - **Sallekhana is not Suicide**, Ahmedabad 1976, P. 87.



## महावीर एवं बुद्ध का वर्षावास

डॉ० मनीषा सिन्हा\*

प्राचीन जैन एवं बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि महावीर एवं गौतम बुद्ध के समय वर्षावास श्रमण परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग था। महावीर ने गणधर, श्रमण, श्रमणी, आचार्य, उपाध्याय सभी को वर्षावास का आदेश दिया।<sup>१</sup> निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए वर्षावास का मूल उद्देश्य अहिंसा महाव्रत का पालन था। वर्षाकाल में पृथ्वी असंख्य कीट-पतंगों से परिपूर्ण हो जाती थी और गमनागमन में होने वाले पदाघात के कारण कितने जीवों की हत्या हो जाती थी।<sup>२</sup> इसलिए इनको हानि से बचने के लिए इस काल में मार्ग का कम से कम उपयोग आवश्यक था। **विनयपिटक** से भी सूचित होता है कि बुद्ध जब राजगृह में चारिकारत थे तब उन्होंने हिंसा से बचाव, भिक्षुओं की सुरक्षा एवं चारिका या भ्रमण की असुविधा के कारण इस नियम को लागू किया कि वर्षाकाल में भिक्षु-भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर सभी किसी सुरक्षित स्थान पर निवास करेंगे।<sup>३</sup>

वर्षावास में महावीर एवं बुद्ध ने अपने उपदेशों द्वारा अनुयायियों की संख्या में भारी वृद्धि की। प्रायः बुद्ध को विहारों का दान इसी समय मिला। महावीर और बुद्ध का समय ब्राह्मण धर्म से इनके संघर्ष का काल था। इसलिए जैन एवं बौद्ध श्रमण वर्षावास करते समय अपने धर्मोपदेशों से उनके बाह्य आडम्बर एवं कुरीतियों पर प्रहार करते थे।

महावीर स्वामी ने ५५७-५८ ई०पू० में बयालीस वर्ष की अवस्था में कैवल्य प्राप्त किया और ५२७ ई०पू० में बहतर वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया। इस अवधि में उन्होंने बयालीस वर्षाकाल व्यतीत किया जिसे चातुर्मास भी कहा जाता है।<sup>४</sup>

### महावीर के ४२ वर्षावासों की सूची

- |                |                  |                  |
|----------------|------------------|------------------|
| १. अस्थिक      | २. नालन्दा       | ३. चम्पा         |
| ४. पृष्ठ चम्पा | ५. भद्वियनगर     | ६. भद्वियनगर     |
| ७. आलम्बिया    | ८. राजगृह        | ९. वज्रभूमि      |
| १०. श्रावस्ती  | ११. वैशाली       | १२. चम्पा        |
| १३. राजगृह     | १४. वैशाली       | १५. वाणिज्यग्राम |
| १६. राजगृह     | १७. वाणिज्यग्राम | १८. राजगृह       |

\* अशोक विहार कालोनी (प्रथम चरण), पहड़िया, वाराणसी

११२ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

१९. राजगृह	२०. वैशाली	२१. वाणिज्यग्राम
२२. राजगृह	२३. वाणिज्यग्राम	२४. राजगृह
२५. मिथिला	२६. मिथिला	२७. मिथिला
२८. वाणिज्यग्राम	२९. राजगृह	३०. वाणिज्यग्राम
३१. वैशाली	३२. वैशाली	३३. राजगृह
३४. नालन्दा	३५. वैशाली	३६. मिथिला
३७. राजगृह	३८. नालन्दा	३९. मिथिला
४०. मिथिला	४१. राजगृह	४२. पावा

गौतम बुद्ध ने ५२७-२८ ई०पू० में पैंतीस वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त किया और ४८३ ई०पू० में अस्सी वर्ष की आयु में इनका निर्वाण हुआ। इस तरह पैंतालीस वर्ष में इन्होंने पैंतालीस वर्षावास व्यतीत किया। जिनका क्रम निम्नवत है:-

वर्षावास	-	स्थान
प्रथम	-	ऋषिपत्तन मृगदाव
द्वितीय	-	राजगृह (वेलुवन)
तृतीय	-	”
चतुर्थ	-	”
पंचम	-	वैशाली (महावन कूटागारशाला)
षष्ठ	-	मंकुल पर्वत (अनुपिय)
सप्तम	-	त्रायखिंश
अष्टम	-	सुंसुमारगिरि (भग्गदेश)
नवम	-	कौशाम्बी (घोषिताराम विहार)
दशम	-	पारिलेम्पक (वनखण्ड)
ग्यारह	-	नाला
बारह	-	वेरंजा
तेरह	-	चालिय पर्वत
चौदह	-	श्रावस्ती (जेतवन विहार)
पन्द्रह	-	कपिलवस्तु
सोलह	-	आलवी
सत्रह	-	राजगृह
अठारह	-	चालियपर्वत
उन्नीस	-	”
बीस	-	राजगृह
इक्कीस से पैंतालीस	-	श्रावस्ती

**वर्षाकाल प्रारम्भ-स्थानांगसूत्र** में वर्षावास तीन प्रकार का बताया गया है<sup>६</sup>:

(i) **जघन्य वर्षाकाल** - सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के दिन से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक सत्तर दिन का होता है।

(ii) **मध्यम वर्षाकाल** - श्रावण कृष्ण-प्रतिपदा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक चार मास या एक सौ बीस दिन का होता है।

(iii) **सामान्य वर्षाकाल** - आषाढ़ से लेकर मार्गशीर्ष तक छह मास का होता है।

महावीर स्वामी ने आषाढ़ मास के अन्त में चातुर्मास लगने के बाद पचास दिन पर वर्षावास किया था।<sup>७</sup> सुरक्षित स्थान न मिलने की दशा में ही पाँच-पाँच दिन करके पचास दिन रुका जा सकता था।<sup>८</sup> **बृहत्कल्पभाष्य** में वर्षावास का परम प्रमाण चार माह बताया गया है।<sup>९</sup>

बौद्ध ग्रन्थ **विनयपिटक** से ज्ञात होता है कि राजगृह में निवास करते समय गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को बताया कि वर्षावास का दो समय रहेगा<sup>१०</sup> :-

(i) आषाढ़ पूर्णिमा के दूसरे दिन से प्रारम्भ करना चाहिए इसे 'पूर्णिमा वर्षावास' कहा गया है।

(ii) आषाढ़ पूर्णिमा के मास भर पश्चात् प्रारम्भ करना चाहिए इसे 'पछिमिका वर्षावास' कहा गया है।

**वर्षावास का स्थान** - जैन धर्म में वर्षावास वाले स्थान के सम्बन्ध में तेरह विशेष गुणों पर बल दिया गया है, यथा<sup>११</sup> :-

१. जहाँ पर विशेष कीचड़ न हो, २. अधिक जीव उत्पत्ति न हो, ३. शौचस्थल निर्दोष हो, ४. रहने का स्थान शांतिप्रद हो, ५. गोरस की अधिकता हो, ६. जनसमूह विशाल और भद्र हो, ७. सुविज्ञ वैद्य हों, ८. औषधि सुलभ हो, ९. स्वाध्याय योग्य स्थान हो, १०. गृहस्थ वर्ग धन-धान्यादि से समृद्ध हो, ११. राजा धार्मिक हो, १२. भिक्षा सुलभ हो, १३. श्रमण, ब्राह्मण का अपमान न होता हो।

बौद्ध धर्म में भी भिक्षुओं को बताया गया कि उनके वर्षावास का स्थान निम्न दोषों से मुक्त होना चाहिए<sup>१२</sup> :-

१. वृक्षकोटर, २. वृक्षवाटिका, ३. शवदाहगृह, ४. छप्पर चारी (अनाज रखने का मिट्टी का कुण्ड), ५. अस्थायी गृह।

**वर्षावास में भ्रमणसीमा** - जैन श्रमण-श्रमणियों के लिये वर्षावास में निवास स्थान के चारों ओर केवल सवायोजन अर्थात् पाँचकोस गमनागमन की सीमा निर्धारित थी।<sup>१३</sup> बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को भी वर्षावास में निवास स्थान पर भ्रमण की अनुमति नहीं थी, केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही यह सम्भव था।<sup>१४</sup>

**वर्षावास में भिक्षुणी नियम** - जैनों या बौद्धों में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों को इस काल में कुछ विशेष नियमों से बाधाँ गया था। भिक्षुओं की तरह इनके लिए भी वर्षावास अनिवार्य था लेकिन भिक्षुणियों को अकेले समय व्यतीत करना निषिद्ध था। जैन भिक्षुणी को प्रवर्तिनी के साथ कम से कम चार साध्वियों की उपस्थिति में रहना होता था<sup>१५</sup> जबकि बौद्ध भिक्षुणी को निर्धारित अष्टगुरु नियम का पालन आवश्यक था।<sup>१६</sup>

**भिक्षा नियम** - महावीर के अनुयायी श्रमणों द्वारा वर्षावास व्यतीत करते समय भिक्षा के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन किया जाता था। इनसे यह अपेक्षा थी कि जब भी आहार की इच्छा हो उन्हें आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणि, गणधर, गणावच्छेदक या प्रमुख भिक्षु से आज्ञा लेकर ही जाना चाहिए।<sup>१७</sup> इस समय भिक्षुओं को यह भी आदेश था कि संघ को सूचना दिये बिना अशन, पान, खादिम, स्वादिम, चार प्रकार का आहार भिक्षा में नहीं लेना चाहिए।<sup>१८</sup> तपस बल के आधार पर भिक्षुओं को भोजन या जल ग्रहण के लिए गृहस्थ कुल की ओर जाने की संख्या भी निर्धारित थी।<sup>१९</sup>

नित्यभोजी	-	एकबार
षष्ठभक्त	-	दो बार
अष्टमभक्त	-	तीन बार
विकृष्टभक्त	-	इच्छानुसार

बौद्धों में इस काल में भिक्षा के सम्बन्ध में अलग नियम ज्ञात नहीं होते हैं।

**वर्षावास समाप्ति काल** - बौद्धों ने वर्षावास की अन्तिम पूर्णिमा को प्रवारण कहा है।<sup>२०</sup> इस दिन भिक्षुओं एवं भिक्षुणीओं को आमन्त्रित कर अनुरोध किया जाता था कि वे वर्षावास में हुए दृष्ट, श्रुत तथा परिशंकित अपराधों की संघ को जानकारी कराये। इसमें भिक्षुओं की उपस्थिति अनिवार्य थी। इसका मूल उद्देश्य भिक्षु-भिक्षुणी से उन पापकर्मों की स्वीकृति कराना था जो चार माह सह-निवास करने में सम्भावी था।<sup>२१</sup>

वर्षावास के पश्चात कार्तिक मास में कठिन नामक उत्सव आयोजित होता था।<sup>२२</sup> कठिन वस्त्र ऐसे भिक्षु या भिक्षुणी को दिया जाता था जिसके पास चीवर की कमी हो और जिसने वर्षावास सम्यक रूप से व्यतीत किया हो। यह वर्ष में एक बार वर्षावास के पश्चात् आयोजित होता था।

निर्ग्रन्थों में वर्षावास की समाप्ति के पश्चात इस तरह आयोजन नहीं दीखता। संभवतः अपरिग्रह महाव्रत के कारण श्वेताम्बर परम्परा में अधिक वस्त्र निषिद्ध था, दूसरे जैन धर्म की दिग्म्बर परम्परा वस्त्रहीन थी। जैन भिक्षु वर्षावास के पश्चात् विहार पर निकल जाते थे और जनसामान्य को दान-तप आदि की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करते थे।



**सन्दर्भ :**

१. कल्पसूत्र, सम्पा० - देवेन्द्रमुनि शास्त्री, गढ सिवाना १९६८ ई०, पृ० ३१८।
२. आचारांगसूत्र, सम्पा० - मधुकरमुनि व्यावर १९८० ई०, पृ० १७२-७३।
३. विनयपिटक, हिन्दी अनुवादक, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ १९३५ ई०, पृ० १७१, १८०।
4. Duli Chand Jain and Pratibha Jain, "Mahavira - The great wanderer" *Jain Journal*, Vol. XXXVII., No. 2, October 2002, P-83.
५. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग १९५१ ई०, पृ० ५२२, देखिए - अंगुत्तर निकाय की 'अट्टकथा' मनोरथपूरणी।
६. स्थानांगसूत्र, सम्पा० - मधुकर मुनि; व्यावर १९८१ ई०, पंचम स्थान, द्वितीय उद्देश्य, पृ० ४८२-८३।
७. कल्पसूत्र, सम्पा० - देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ३१८।
८. मोहनलाल मेहता, जैन आचार, पृ० १७१।
९. बृहत्कल्पभाष्य, १/६/७/८।
१०. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ० १७१।
११. आचारांग, २/३/१/२।
१२. विनयपिटक, हिन्दी अनु०, पृ० १८०।
१३. कल्पसूत्र, सम्पा० - देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ३२१।
१४. विनयपिटक, हिन्दी अनु०, पृ० १७२।
१५. भूलाचार, १०/१६ तथा टीका।
१६. विनयपिटक, हिन्दी अनु०, पृ० १८३।
१७. कल्पसूत्र, सम्पा०- देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ३४५।
१८. वही पृ० ३३८।
१९. वही पृ० ३२५-३२।
२०. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५६।
२१. वही।
२२. विनयपिटक, हिन्दी अनु०, पृ० २५६-५८।



## तीर्थकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ (होशंगाबाद संग्रहालय के सन्दर्भ में)

डॉ० गुलनाज तंवर\*

ऋषभदेव द्वारा स्थापित जैन धर्म भारत का एक प्राचीनतम धर्म है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि इस धर्म की जड़ें पाताल से भी गहरी हैं। विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'जियो और जीने दो', 'अहिंसा परमो धर्मः' जैसे महान् उद्घोष करने वाला जैन धर्म अपने २४ तीर्थकरों में विश्वास करता है, जिन्हें वह जिन अथवा 'देवाधिदेव' की संज्ञा प्रदान करता है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव तथ अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी माने जाते हैं। तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ हुए।

तीर्थकरों की प्रतिमाएँ पूर्ण रूप से सम्मानीय हैं। असामान्य रूप से इन प्रतिमाओं के कई सिर, हाथ और पैर नहीं होते हैं। केवल दो ही आसनो में ये मूर्तियाँ मिलती हैं - ध्यान मुद्रा में बैठे हुए तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में सीधे खड़े हुए। जैन धर्म की धारणा के अनुसार ये दोनों मुद्राएँ यौगिक मुद्राएँ हैं। ध्यान मुद्रा की स्थिति में बैठे तीर्थकरों की प्रतिमाएँ बुद्ध प्रतिमाओं की भाँति हैं, किन्तु तीर्थकरों के वक्ष पर श्रीवत्स का चिन्ह होने के कारण ये प्रतिमाएँ बुद्ध प्रतिमाओं से सरलता से अलग की जा सकती हैं। पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की मध्यकालीन तीर्थकर प्रतिमाओं में इस चिन्ह का अधिकांशतः प्रभाव मिलता है। सर्वतोभद्र अथवा चौमुख प्रतिमाएँ कुषाण काल से बननी प्रारम्भ हुई तथा मध्यकाल तक निर्मित होती रहीं। होशंगाबाद क्षेत्र में प्राप्त प्रतिमाओं में भी वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिन्ह का अंकन है।

होशंगाबाद क्षेत्र न केवल हिन्दू धर्म की मूर्तिकला से अपितु जैन धर्म की प्रतिमाओं की मूर्तिकला से भी गौरवान्वित रहा है।

होशंगाबाद जिला मध्य नर्मदा घाटी तथा सतपुड़ा पठार के उत्तरी उपान्त पर स्थित है। यह २१°४' तथा ५९°३' के समानान्तर तथा ७६°४६' तथा ७८°४२' के शिरो - बिन्दुओं के बीच स्थित है। इसका आकार एक ऐसी अनियमित पट्टी के समीप है, जो नर्मदा के दक्षिणी तटों की ओर फैली हुई है। यहां विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों से सम्बन्धित मूर्ति शिल्प बिखरा पड़ा है जिनमें से अनेक पुरावशेष

\* ४३/२, जुगनू स्टील फर्नीचर्स, हरि फाटक, महाकाल रोड, उज्जैन (म०प्र०)

स्थानीय संग्रहालय में संरक्षित हैं। प्रस्तुत आलेख में यहां रखी पार्श्वनाथ की तीन पाषाण प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत है :

### १. पार्श्वनाथ प्रतिमा -

माप - ८० x ३० x १७ सेंटीमीटर, माध्यम - बेमालाइट, प्राप्ति स्थल - टिमरानी, समय - लगभग १२वीं - १३वीं शताब्दी।

यह प्रतिमा खड़गासन में है। दोनों हाथ कोहनी से खण्डित है। पैर भी खण्डित है। प्रतिमा के दोनों ओर लघु प्रतिमाओं का अंकन है। पादपीठ पर दोनों ओर दो प्रतिमाओं का अंकन है। प्रतिमा की पादपीठ पर तीन पंक्तियों में शिलालेख भी अंकित हैं। दोनों ओर लघु प्रतिमा का अंकन है।

### २. पार्श्वनाथ प्रतिमा -

माप - ३० x ५४ x ३३ सेंटीमीटर, माध्यम - बेमालाइट, प्राप्ति स्थल - सनखेड़ा, समय - लगभग ११वीं - १२वीं शताब्दी।

पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा ध्यानमुद्रा में है। वक्ष पर श्रीवत्स-चिन्ह का अंकन है। मस्तक के पीछे सात फणों के सर्प का अंकन है। प्रतिमा की पादपीठ पर देवनागरी लिपि में लेख का अंकन है।

### ३. पार्श्वनाथ प्रतिमा -

माप - ९० x ३४ x २३ सेंटीमीटर, माध्यम - लाल बलुआ पत्थर, प्राप्ति स्थल - सोहागपुर, समय - लगभग ११वीं - १२वीं शताब्दी।

प्रतिमा खड़गासन मुद्रा में है। सबसे ऊपर त्रिछत्र है, जो भग्न है। उसके दोनों ओर गन्धर्व अंकित हैं, जो भग्न हैं। मस्तक के पीछे सात फण युक्त सर्प है, जिसके बायीं ओर चंवरधारी विशिष्ट मुद्रा में प्रदर्शित है। चंवरधारी का मुख भग्न है। नीचे से पैर व पादपीठ भी खण्डित है। प्रतिमा के दोनों ओर नाग का भाग खण्डित है।

**सन्दर्भ :**

१. होशंगाबाद डिस्ट्रिक्ट गजेटियर।
२. इन्दुमति मिश्रा - प्रतिमा विज्ञान, भोपाल १९७२ ई०।
३. डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी - जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी १९८१ ई०।
४. अमलानन्द घोष (सम्पादक) जैन कला एवं स्थापत्य, दिल्ली १९७५ ई०।
५. बालचन्द्र जैन - जैन प्रतिमा विज्ञान, जबलपुर १९७४ ई०।



## महाराणा प्रताप का पत्र सम्राट अकबर- प्रतिबोधक जैनाचार्य हीरविजयसूरि के नाम\*\*

डॉ० सोहनलाल पटनी\*

यह ऐतिहासिक दस्तावेज गुजराती साप्ताहिक समाचार पत्र जयजिनेन्द्र के ता० १.४.०३ के अंक में प्रकाशित हुआ है। हिन्दीभाषियों एवं इतिहासकारों के लिये महत्त्वपूर्ण यह दस्तावेज यहाँ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

यह पत्र आश्विन शुक्ल पंचमी सं० १६३५ गुरुवार का है एवं राणा प्रताप ने इसे चावंड निवास के समय श्रीमद् विजयहीरसूरीश्वरजी को लिखा था। इस पत्र में निम्न बातों का स्पष्टीकरण किया गया है :-

१. महाराणा प्रताप से सूरिजी का पत्र व्यवहार था।
२. महाराणा उदयसिंह जी के समय सूरिजी के मेवाड़ आगमन पर यथोचित सम्मान नहीं हुआ था जिसके लिए इस पत्र में क्षमा मांगी गई है।
३. मेवाड़ में तपागच्छ एवं उसके उपासकों एवं आचार्यों को मान्यता दी गई।
४. सम्राट अकबर को हीरविजयजी द्वारा दिये प्रतिबोध की सराहना करते हुए उसका प्रभाव सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में स्वीकार किया गया है।

पत्र को अविकल रूप से यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ :-

स्वस्ति श्री मसुदुं शुभ स्थाने सरब ओपमा धारक भट्टारक महाराज श्री हीर विजे सूरिजी चरणकमलायणे स्वस्त श्री वजे कटक चावंडेरा सुथाने महाराजाधिराज श्री राणा प्रताप सिंहजी ली० पगे लागणो वंचसी। अठारा समाचार भला है। आपरा संदा भला चाइजे। आप बडा है, पूजनीक हो। सदा करपा राखी, जीसु सदा रखावेगा। अप्रंच आपरो पत्र अणा दिनाम्हे आयो नहीं, सो करपा कर लखावेगा। श्री बड़ा हजूररी वगत पदारणो हुवो जीमें अठासुं पाछा पदारता पातसा अकब्रजी ने जेनाबादम्हे गनान रौ प्रतिबोध दीदो, जीरो चमत्कार मोटो बताया। जीवहंसा छरकली (चिडिया) तथा नामपखेरु (पक्षी) वेती सो माफ कराई जीरो मोटो उपकार कीदो, सो श्री जैनरा ध्रममें आप असाहिज अघोतकारी (उघोतकारी) अबार कीसे देखता आपजु फेर वे न्ही आवी। पूरब हिन्द सथान अन्त्रवेद (अन्त्रवेद) गुजरात सुदा चारु दसा म्हे धरम रो बड़ो अदोतकार देखाणो, जटा पछे आपरो

\*\* यह पत्र आदरणीया बहन डॉ० कु० नीना जैन द्वारा लिखित पुस्तक **मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति** शिवपुरी १९९१ ई०, परिशिष्ट १, पृष्ठ १४७ पर भी प्रकाशित है।

\* निदेशक, अजित प्राच्य एवं समाज विद्या संस्थान, शान्तिनगर, सिरोही (राज०)

पदारणो हुवो नहीं सो कारण कही वेगा पदारसी। आगेसुं पटा प्रवाना कारणरा दस्तुर माफक आप्रे है जी माफक तोल मुरजाद सामो आवो सा बरतेगा, श्री बड़ाहजूररी वषत आपरी मुरजाद सामो आवारी कसर पड़ी सुणी सो काम कारण लेखे भूल रही वेगा, जीरो अंदेसो नहीं जाणेगा। आगेसुं श्री हेमा आचारजी ने श्री राजने मान्या है जीरो पटो कर देवाणो जि माफक आगे पटरा भटारष गादी प्र आवेगा सो पटा माफक मान्या जावेगा। श्री हेमाचारजी पेला श्री वडच्छरा भटारषजी ने बड़ा कारण सुं राजन्हे मान्या जि माफक आपने आपरा पटरा गादी प्रपाट हवी तपगछ रा मान्या जावेगाइ सुवाये देसम्हे आप्रे गच्छरो देवरो तथा उपासरा वेगा, जीरो मुरजाद श्री राजसुं वा दूजा गछ रा भटारष आवेगा सो राषेगा, श्री समरण ध्यान देवजातरा जठे, आद करावसी, भूलसी नहीं ने वेगा पदारसी। प्रवानगी पंचोली गोरो। समत १६३५ रा आसोज सुद ५ गुरुवार।

### अनुवाद -

स्वस्ति श्री मसूदा (अजमेर) शुभ स्थान पर सर्व उपमा लायक भट्टारक महाराज श्री हीरविजय सूरिजी के चरण के स्वाधिपत्य श्री वज्रकटक (सशस्त्र छावनी) चावंड के डेरा स्थान से महाराजाधिराज श्री राणा प्रताप सिंह जी लिखायत पद वन्दना बांचे। यहाँ के समाचार भले हैं। आपके सदा भले की कामना। आप बड़े हैं, पूज्य हैं, सदा कृपा रखी वैसी ही सदा रखें। अप्रंच इन दिनों आपका पत्र नहीं आया सो कृपा कर लिखियेगा। श्री बड़ा हजूर (महाराणा उदय सिंहजी) के समय में आपका पधारना हुआ था उस समय यहाँ से वापस पधारते समय जैनाबाद (फतहपुर सीकरी) के पादशाह अकबर को ज्ञान का प्रतिबोध दिया जिसका चमत्कार बहुत महत्वपूर्ण बताया गया। जीव हिंसा चिडकली तथा पक्षी मात्र का शिकार बन्द करवाया जिसका बड़ा उपकार हुआ। इस तरह जैन धर्म में आप जैसे उद्योतकारी इस समय दूसरा कोई दिखाई नहीं देता। पूर्वी हिन्दुस्तान, अन्तर्वेद, गुजरात समेत चारों दिशाओं में धर्म का बड़ा प्रकाश दिखा उसके बाद आपका पधारना हुआ नहीं इसलिए नहीं आने का कारण बता जल्दी पधारना। आगे से (भविष्य में) पट्टे व परवाने के अनुसार व दस्तुर माफिक आपका तोल (मान) मर्यादा व सामैया आना आदि बर्ताव बराबर होगा। श्री बड़े हजूर (राणा प्रताप के पिता उदयसिंहजी महाराज) के समय आपकी मर्यादा अनुसार सामैया करने की कसर पड़ी सो कामधाम की व्यस्तता के कारण भूल पड़ी होगी। उसका अंदेशा मन में नहीं रखें। पूर्व में श्री हेमाचार्य जी को राज्य ने माना है एवं उसका पट्टा कर दिया गया है उस माफिक आगे पट्ट परम्परा के भट्टारक गद्दी पर आयेंगे उसी तरह सम्मानित किये जायेंगे। श्री हेमाचार्य जी से पहले श्री वडगच्छ के भट्टारकजी को बड़े कारण से राजा ने माना उसी माफिक आपके पाट गादी (पाट परम्परा) तपागच्छ की मानी जावेगी। इसके सिवाय देश में (मेवाड़ में) आपके राज्य एवं दूसरे गच्छ के भट्टारक आयेंगे सो मानेंगे। श्री स्मरण, ध्यान देव यात्रा में याद करें, भूलें नहीं व शीघ्र पधारें। आज्ञा से पंचोली गोरा ने लिखा। संवत् १६३५ आसोज सुदी पंचमी गुरुवार।



## खरतरगच्छ - क्षेमकीर्तिशाखा का इतिहास

शिवप्रसाद\*

निग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर आमनाय में चन्द्रकुल से उद्भूत, अत्यन्त प्रभावशाली और अद्यावधि विद्यमान सभी गच्छों में प्राचीनतम खरतरगच्छ है। इस गच्छ में आचार्य जिनदत्तसूरि, मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि, आचार्य जिनकुशलसूरि और अकबरप्रतिबोधक युगप्रधान आचार्य जिनचन्द्रसूरि ये चार दादा गुरु माने गये हैं। तीसरे दादा गुरु आचार्य जिनकुशलसूरि के शिष्य, प्रसिद्ध विद्वान् विनयप्रभ उपाध्याय के प्रशिष्य और विजयतिलक के शिष्य क्षेमकीर्ति हुए। इन्हीं के नाम से खरतरगच्छ की परम्परा में एक उपशाखा प्रसिद्ध हुई, जो क्षेमकीर्तिशाखा या क्षेमधाड़शाखा के नाम से विख्यात हुई।<sup>२</sup> आचार्य क्षेमकीर्ति के चार प्रमुख शिष्यों-क्षेमहंस, तपोरत्न, मोदराज और गुणरत्न में से क्षेमहंस और तपोरत्न की शिष्य परम्परा लम्बे समय तक विद्यमान रही। इस शाखा में क्षेमराज, जयसोम, गुणविनय, विद्याकीर्ति, मत्तिकीर्ति, सुयशकीर्ति, भाग्यविशाल, सुमतिसिन्धुर, कीर्तिविलास, जिनहर्ष, कनकविलास आदि अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों से संस्कृत और राजस्थानी साहित्य को समृद्ध बनाने में अतुलनीय योगदान दिया।<sup>३</sup> महोपाध्याय विनयसागर जी के अनुसार आज भी इस परम्परा में कुछ यति विद्यमान हैं।

क्षेमकीर्ति के शिष्य क्षेमहंस द्वारा रचित **मेघदूतदीपिका** नामक एक कृति प्राप्त होती है।<sup>४</sup> इसी शाखा के मुनि क्षेमराज द्वारा रचित विभिन्न कृतियों की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि वे क्षेमहंस के प्रशिष्य और सोमध्वज के शिष्य थे।<sup>५</sup> इसी शाखा के एक अन्य रचनाकार जयसोम द्वारा रचित कृतियों की प्रशस्तिगत गुर्वावली से ज्ञात होता है कि उनके गुरु का नाम प्रमोदमाणिक्य था जो उक्त क्षेमराज के ही शिष्य थे।<sup>६</sup> यह बात निम्नलिखित तालिका से भलीभांति स्पष्ट हो जाती है :-

क्षेमकीर्ति	(क्षेमकीर्तिशाखा के आदिपुरुष)
↓	
क्षेमहंस	(मेघदूतदीपिका के रचनाकार)
↓	
सोमध्वज	
↓	
क्षेमराज	(विभिन्न कृतियों के रचनाकार)
↓	
प्रमोदमाणिक्य	
↓	
जयसोम	(प्रसिद्ध ग्रन्थकार)

\* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

क्षेमराज द्वारा रचित **श्रावकाचारचौपाई** (वि०सं० १५४६), **उपदेशसप्ततिका** (वि०सं० १५४७), **फलवर्धिपार्श्वनाथरास**, **चारित्रमनोरथमाला**, **इखुकारीराजा-चौपाई**, **मंडपाचलचैत्यपरिपाटी**, **नमिराजर्षिचौपाई**, **मेतार्यचौपाई**, **तेतलीपुत्रचौपाई** आदि प्रमुख हैं।<sup>१०</sup> क्षेमराज के पट्टधर प्रमोदमाणिक्य द्वारा रचित किसी भी कृति का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु इनके शिष्य जयसोम द्वारा रचित **बारहव्रतभावना संधि** (वि०सं० १६४६), **बारहव्रतसंग्रहणारास** (वि०सं० १६४७), **वयरस्वामिचउपइ** (वि०सं० १६५९), **संभवस्तवन** (वि०सं० १६५७), **चौबीसजिनगणधरसंख्यास्तवन** (वि०सं० १६४९), **साधुवंदना**, **गौडीस्तवन** आदि विभिन्न कृतियां प्राप्त होती हैं।<sup>११</sup> जयसोम की शिष्य-परम्परा में कई प्रसिद्ध रचनाकार हुए। इनके शिष्य गुणविनय द्वारा रचित **खण्डप्रशस्तिवृत्ति**<sup>१२</sup> (वि०सं० १९४३); **नलदमयन्तीकथावृत्ति**<sup>१३</sup> (वि०सं० १९५७); **घनारास**; **कयवन्नारास**; **कर्मचन्दवंशावलीरास**; **अंजनासुन्दरीरास**; **ऋषिदत्ताचौपाई**; **गुणसुन्दरीचौपाई**; **मूलदेवचौपाई**; **तप इकावनबोलचौपाई**; **शत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटी स्तवन**; **अंचलमतस्वरूपवर्णन** आदि कृतियां प्राप्त हुई हैं।<sup>१०अ</sup> गुणविनय के शिष्य मतिकीर्ति हुए जिनके द्वारा रचित **चित्तललितांगारास**; **अघटकुमारचौपाई** (वि०सं० १६७४); **धर्मबुद्धिरास** (वि०सं० १६९७) आदि रचनायें उपलब्ध हैं।<sup>११</sup> **अघटकुमारचौपाई** के अन्त में रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा दी है जो इस प्रकार है।

क्षेमराज

↓  
प्रमोदमाणिक्य

↓  
जयसोम

↓  
गुणविनय

↓  
मतिकीर्ति (अघटकुमारचौपाई वि०सं० १६७४ एवं धर्मबुद्धिरास  
वि०सं० १६९७ आदि के रचनाकार)

मतिकीर्ति के शिष्य सुमतिसिन्धुर हुए जिन्होंने वि०सं० १६९६ में **गौडीपार्श्वस्तवन** की रचना की।<sup>१२</sup> मतिकीर्ति के एक अन्य शिष्य कीर्तिविलास द्वारा रचित विभिन्न स्तवनादि प्राप्त होते हैं।<sup>१३</sup> मतिकीर्ति के एक अन्य शिष्य सुमतिसागर हुए जिनके प्रशिष्य और कनककुमार के शिष्य कनकविलास ने वि०सं० १७३८ में **देवराजवच्छराजचौपाई** की रचना की।<sup>१४</sup> जयसोम के द्वितीय शिष्य विजयतिलक हुए। इनके प्रशिष्य और तिलकप्रमोद के शिष्य भाग्यविशाल ने **गुणावलीचौपाई** की प्रतिलिपि की।<sup>१५</sup> जयसोम एक अन्य शिष्य सुयशकीर्ति ने वि०सं० १६६६ में **शंखेश्वर पार्श्वगाथास्तवन** की रचना की।<sup>१६</sup>

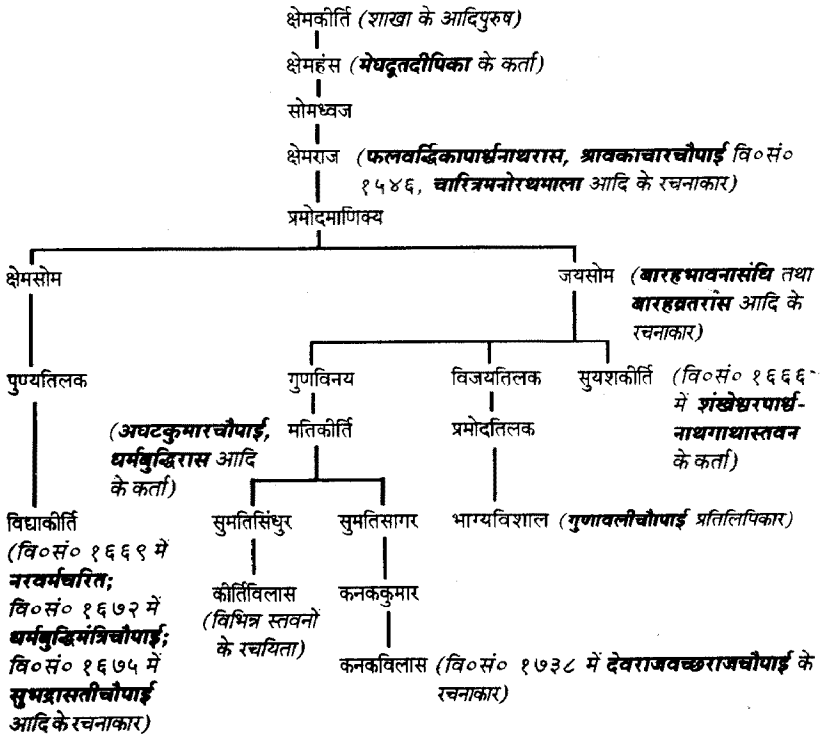
१२२ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

प्रमोदमाणिक्य की परम्परा में विद्याकीर्ति नामक एक प्रसिद्ध रचनाकार हुए। इनके द्वारा रचित **नरवर्मचरित** (वि०सं० १६६९); **धर्मबुद्धिमंत्रिचौपाई** (वि०सं० १६७२); **सुभद्रासतीचौपाई** (वि०सं० १६७५) आदि कृतियां प्राप्त होती हैं।<sup>१७</sup> मोहनलाल दलीचंद देसाई ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इनकी गुरु-परम्परा दी है,<sup>१८</sup> जो इस प्रकार है :

प्रमोदमाणिक्य  
|  
क्षेमसोम  
|  
पुण्यतिलक  
|

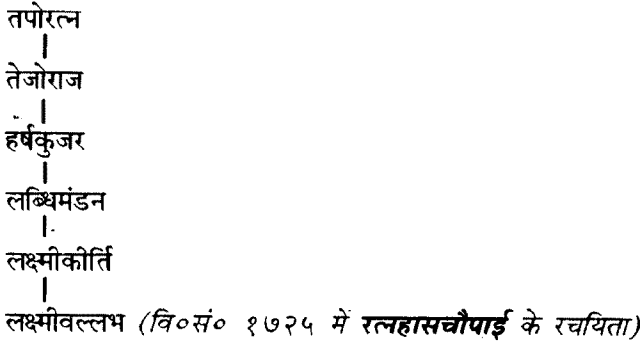
विद्याकीर्ति (**नरवर्मचरित** वि०सं० १६६९३, **धर्मबुद्धिमंत्रिचौपाई** वि०सं० १६१२; **सुभद्रासतीचौपाई** वि०सं० १६७५ आदि के रचनाकार)

उपरोक्त साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा ज्ञात छोटी-छोटी गुर्वावलियों के आधार पर शाखा प्रवर्तक मुनि क्षेमकीर्ति के शिष्य क्षेमहंस की शिष्य-सन्तति की एक तालिका संगठित होती है, जो निम्नानुसार है :

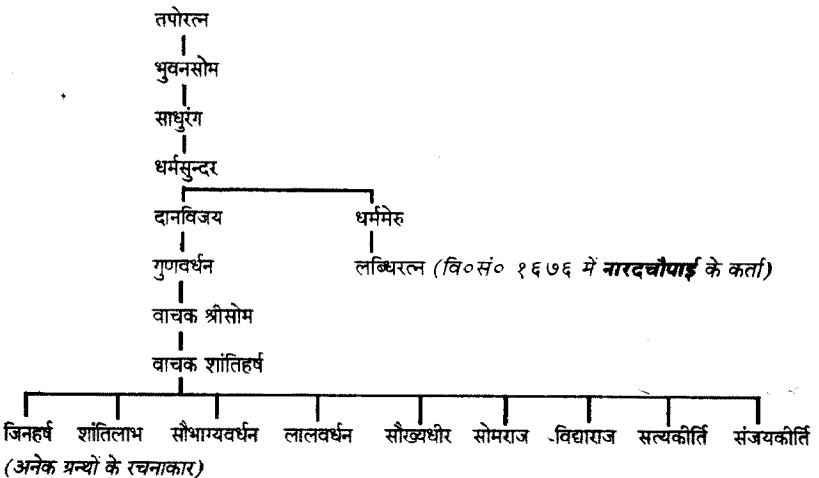




जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका है क्षेमकीर्ति के दूसरे शिष्य और क्षेमहंस के गुरुभ्राता तपोरत्न की भी शिष्य-परम्परा आगे चली। तपोरत्न के दो शिष्य हुए, प्रथम तेजोराज और द्वितीय भुवनसोम। तेजोराज की परम्परा में आगे चलकर लक्ष्मीवल्लभ नामक विद्वान् हुए जिन्होंने वि०सं० १७२५ में **रत्नहासचौपाई** की रचना की। उक्त कृति की प्रशस्ति में इन्होंने मात्र अपने गुरु लक्ष्मीकीर्ति का ही उल्लेख किया है<sup>१९</sup> किन्तु देसाई ने विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इनकी गुर्वावली दी है, <sup>२०</sup> जो इस प्रकार है :

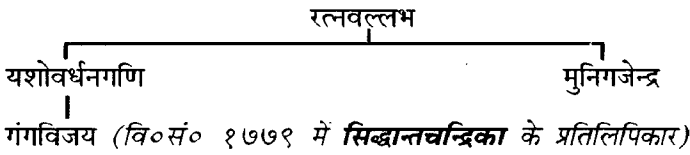


तपोरत्न के दूसरे शिष्य भुवनसोम की परम्परा में जिनहर्ष नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं जिनके द्वारा रचित अनेक कृतियां प्राप्त होती हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने स्वसम्पादित **जिनहर्षग्रन्थावली**<sup>२१</sup> में इनकी कृतियों पर विस्तृत विवेचन किया है। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इनके गुरु-परम्परा की लम्बी तालिका दी है, <sup>२२</sup> जो इस प्रकार है :



**कृष्णारुक्मिणीचौपाई** (रचनाकाल वि०सं० १६७६) के रचनाकार लब्धिरत्न ने भी अपने प्रगुरु के रूप में धर्मसुन्दर का उल्लेख किया है।<sup>२३</sup> उपरकथित गुर्वावली में भी धर्मसुन्दर का नाम आ चुका है। समान नाम, समसामयिकता और गच्छसाम्य के आधार पर धर्मसुन्दर नामधारक दोनों मुनिजनों को अभिन्न माना जा सकता है।

**अघटितराजर्षिचौपाई** (रचनाकाल वि०सं० १६६७) के कर्ता भुवनकीर्तिगणि,<sup>२४</sup> **सुदर्शनश्रेष्ठीरास** (रचनाकाल वि०सं० १६६१) के कर्ता सहजकीर्ति,<sup>२५</sup> **मंगलकलश-चौपाई** (वि०सं० १८३२); **इलापुत्ररास** (वि०सं० १८३९) और **तेजसारचौपाई** (वि०सं० १८३९) के रचनाकार **रत्नविमल**<sup>२६</sup> आदि कई विद्वान् भी यद्यपि क्षेमकीर्तिशाखा से ही सम्बद्ध थे किन्तु क्षेमकीर्तिशाखा की पूर्वप्रदर्शित गुरु-शिष्य परम्परा की दोनों तालिकाओं में प्रदर्शित मुनिजनों से इनका क्या सम्बन्ध रहा, यह अन्वेषणीय है। ठीक यही बात वि०सं० १७७९ में **सिद्धान्तचन्द्रिका** के प्रतिलिपिकार गंगविजय के बारे में भी कही जा सकती है। प्रतिलिपिकार गंगविजय ने प्रतिलिपिप्रशस्ति के अन्त में अपनी गुरु-परम्परा<sup>२६अ</sup> दी है, जो इस प्रकार है -

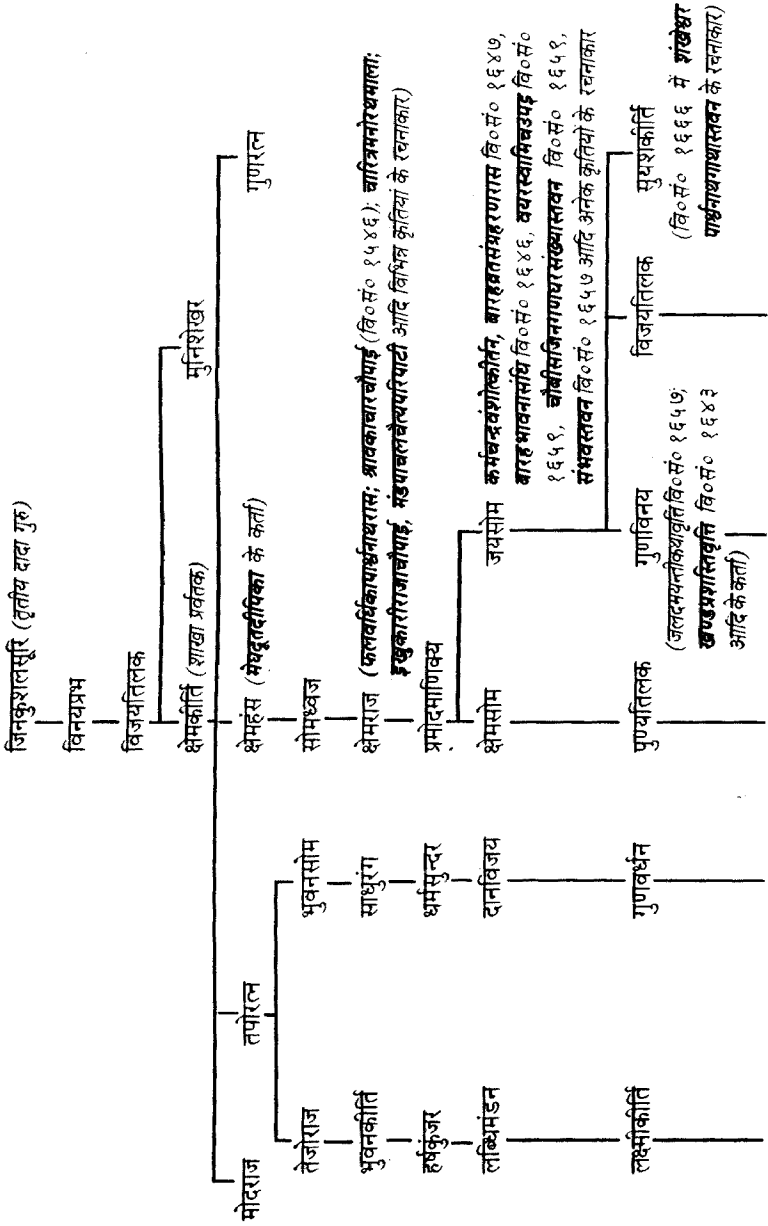


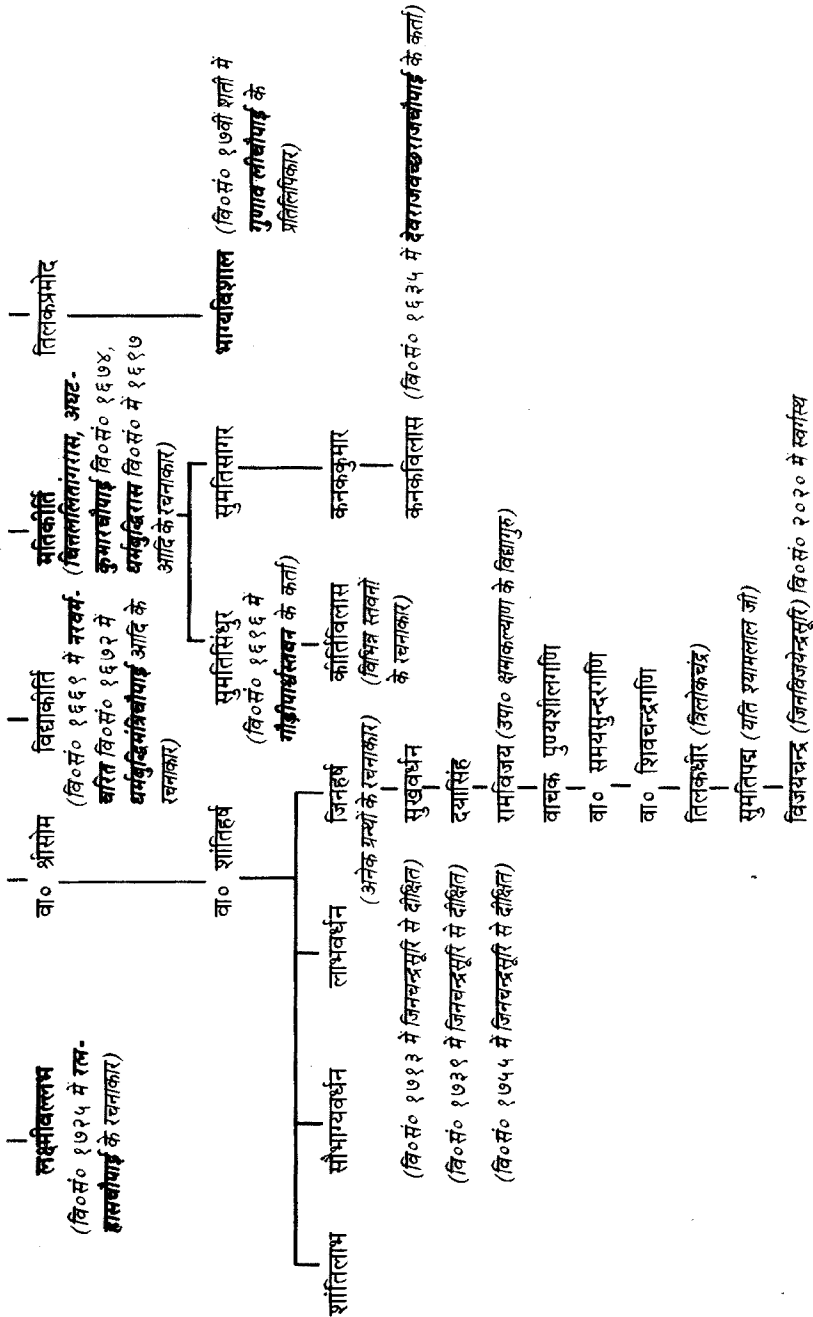
जिनहर्ष के गुरु-भ्राताओं की भी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा लम्बे समय तक चलती रही। इसमें भी अनेक रचनाकार हुए।<sup>२७</sup>

जिनहर्ष के पट्टधर सुखवर्धन हुए जिन्हें वि०सं० १७१३ में जिनचन्द्रसूरि ने दीक्षित किया था।<sup>२८</sup> इनके पट्टधर दयासिंह भी वि०सं० १७३९ में जिनचन्द्रसूरि द्वारा ही दीक्षित हुए। दयासिंह के शिष्य रामविजय अपरनाम रूपचन्द्र को भी उक्त आचार्य ने ही दीक्षित किया था।<sup>२९</sup> रामविजय अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उपाध्याय क्षमाकल्याण ने इन्हें अपने विद्यागुरु के रूप में उल्लिखित किया है। इनके द्वारा रचित २८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।<sup>३०</sup> रामविजय के पश्चात् वाचक पुण्यशील, वाचक समयसुन्दरगणि, वाचक शिवचन्द्रगणि क्रमशः पट्टधर बने। इसी परम्परा की अंतिम कड़ी में जयपुर के यति श्यामलाल जी<sup>३१</sup> हुए जिसका उपाश्रय वहां जौहरी बाजार में आज भी विद्यमान है। इनके एक शिष्य विजयचन्द्र 'जिनविजयेन्द्रसूरि' के नाम से खरतरगच्छ की भट्टारकीय शाखा के पट्टधर हुए जिनका वि०सं० २०२० में देहान्त हुआ। इस प्रकार इस शताब्दी के मध्य तक खरतरगच्छ की क्षेमकीर्ति शाखा का अस्तित्व रहा।

उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस शाखा के मुनियों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक विस्तृत तालिका का पुर्नगठन किया जा सकता है जो इस प्रकार है :

खरतरगच्छ क्षेमकीर्तिशाखा के मुनिजनों की गुरु-शिष्य परम्परा





**सन्दर्भ :**

१. अगरचंद भंवरलाल नाहटा, संपा०, **मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टमशताब्दी स्मृतिग्रंथ**, दिल्ली १९७१ ई०, पृष्ठ ४९ और आगे।
२. महोपाध्याय विनयसागर, संपा०, **गौतमरासपरिशीलन**, प्राकृत भारती, पुष्प ४१, जयपुर १९८७ ई०, पृष्ठ ८६-८७।
३. वही, पृष्ठ ८७।
४. अगरचंद भंवरलाल नाहटा, संपा०, **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, श्री अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ८, कलकत्ता वि०सं० १९९४, पृष्ठ १०३।
५. मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, नवीन संस्करण, सम्पा० - जयन्त कोठारी, भाग १, अहमदाबाद १९८६, पृष्ठ १९०-१९१ एवं **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृष्ठ ११२।
६. देसाई, पूर्वोक्त, भाग २, नवीन संस्करण, पृष्ठ २३५-३८, शीतिकंठ मिश्र, **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (मरु-गुर्जर)**, भाग २, वाराणसी १९९४ ई०, पृष्ठ १७२ और आगे।
७. **जैनगूर्जरकविओ**, नवीन संस्करण, भाग १, पृष्ठ १९०-१९१।
८. वही, भाग २, पृष्ठ २३५-३८, एवं Vidhatri Vora-Ed. **Catalogue of Gujarati Mss. L.D. Series No. 71, Ahmedabad 1978 A.D., P. 719.**
9. A.P. Shah - **Catalogue of Prakrit of Sanaskrit Mss of Muni Shree Punya Vijayjis Collection, Vol II, L.D. Series No. 6, Ahmedabad 1968 A.D., No. 4998, pp 130-37.**
10. Ibid, No. 5213, pp 130-37.
- १०अ. **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (मरु-गुर्जर)**, भाग २, पृष्ठ १३०-३७।
११. **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ३, पृष्ठ १८३-८५.
१२. संवत् सोल छयाणवइ, माहा हे आठमि दीह उदार कि  
भेर्वा हे गोडीयास जी दुःख भेटवा हे भवनासच्चा हे पारकि।  
संरीसइ संखेसरइ खंभनयरीय हे जगहथंभण पास कि,  
ग्राम नगर पट्टण रहेवा पूरइ हे निज भगतानी हे आसकि।  
**जैनगूर्जरकविओ**, भाग २; पृष्ठ ३१३।
१३. अगरचन्द नाहटा - **युगप्रधानजिनचन्द्रसूरि**, पृष्ठ १७६।
- १४-१६. वही, पृष्ठ २००।

१२८ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

१७. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (मरु-गुर्जर) भाग २, पृष्ठ ४६७ और आगे।

१८. जैनगूर्जरकविओ, भाग ३, पृष्ठ १४७-४८।

१९-२०. उपाध्याय श्री लखमीकीरति शिष्य, लखमिवल्लभ मत्तिसारइ।

चोपी करी बार ढाल करि, भवीयणनई उपगारइ।।

देसाई, जैनगूर्जरकविओ, भाग ४, पृष्ठ ३४८।

२१. सांदूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा वि०सं० २०१८ में प्रकाशित।

२२. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४-३६।

२३. जैनगूर्जरकविओ भाग ३, पृष्ठ ३७८।

२४. वही, भाग २, पृष्ठ ३९५।

२५. वही, भाग २, पृष्ठ ३९५।

२६. वही, भाग ४, पृष्ठ १४२-१४४।

२६अ. अमृतलालमगनलाल शाह, संग्रा० एवं संपा० श्रीप्रशस्तिसंग्रह, श्री जैन

साहित्य प्रदर्शन, श्री देशविरति धर्मारजक समाज, अहमदाबाद वि०सं०

१९९३, भाग २, प्रशस्ति क्रमांक १०३३, पृष्ठ २७१।

२७. जिनहर्षसूरिग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ३६।

२८-२९. वही, पृष्ठ ३५।

३०. जैनगूर्जरकविओ भाग ५, पृष्ठ ३३९।

३१. महोपाध्याय विनयसागर, नंदीश्वरद्वीपपूजा, जयपुर १९९० ई०, पृष्ठ ४।



## Concept of Self Evolution in Jainism

Prof. Mukul Raj Mehta\*

There are various processes leading oneself from the stage of implicit faith in the truth to the stage of final realization of the truth. The processes have a common term for them and that term is yoga<sup>1</sup>. In Jainism the term *cāritra* (conduct) is equivalent of the term Yoga.

- First of all, we must have some understanding of the general scheme of the Jaina doctrine of conduct (*cāritra*). The inflow of *karmic* matter is due to the three-fold activities of the mind, the sense-organ of speech and the body, hence the first condition of the stoppage of inflow is the control (*gupti*) over thought, speech and physical movements<sup>2</sup>. There are other conditions needed for the consummation. They are: (1) the five-fold regulation (*samiti*) of the five main activities for the maintenance of life;<sup>3</sup> (2) the ten-fold moral virtues (*dharma*) of consummate forbearance, modesty, renunciation, non-attachment and celibacy;<sup>4</sup> (3) contemplation (*anuprekṣā*) of these twelfold objects viz. the fleeting nature of things, the helplessness of one involved in the worldly existence, the nature of the world itself as fraught with misery and suffering, the loneliness of the worldly sojourn, the transcendental nature of the self as distinct and separate from the body, the impure character of the body, the conditions of the inflow of *karmic* matter and the consequent misery and suffering, the nature of the condition of the stoppage of *karmic* inflow, the nature of the condition of the dissociation of *karmic* matter from the soul, the nature of the constituents of the universe, the difficulty of the attainment of enlightenment, and the rightness of the path of righteousness one has selected to tread upon;<sup>5</sup> (4) the patient endurance of the twenty-two afflictions (*pariśahas*)<sup>6</sup> and their conquest for the sake of steady persistence in the path of righteousness as well as for the dissociation of *karmic* matter<sup>7</sup> and (5) the five-fold conduct (*cāritra*) viz. desisting from all harmful activities (*sāmāyika*), re-initiation (*chedopasthāpanā*) after the rectification of

\*Deptt. of Philosophy, Banaras Hindu University.

the activities due to carelessness (*pramāda*), austerity which is possible only for one who has attained special purity and has thorough knowledge of the rules of conduct as well as the energy to observe them in life (*parihāraṇiśuddhi*), conduct which is attended by the rise of only the subtlest type of passions (*sūkśmasamparāya*), (6) and lastly the conduct which is perfect (*yathākhyāta*).<sup>8</sup>

The above six viz. (1) self-control (*gupti*), (2) self-regulation (*samiti*), (3) moral virtues (*dharma*), (4) contemplation (*anuprekṣā*), (5) conquest of afflictions (*pariśahajaya*) and (6) conduct (*cāritra*) constitute the means to the stoppage (*samvara*) of inflow of new *karmic* matter.<sup>9</sup> Apart from these six, the Jainas admit austerity (*tapas*), both physical and mental or external and internal, which effects stoppage (*samvara*) of the inflow as well as the dissociation (*nirjarā*) of the accumulated *kārmic* matter. Each of the external (*bāhya*) and internal (*āntarika*) types of austerity has six sub-classes. Thus fasting, decreased diet, fixing the type of diet by the exclusion of all other types, giving up of strong and delicious diet, selection of a lonely and peaceful habitat, and various types of physical postures that enhance the strength of endurance are the six sub-classes of the external austerity.<sup>10</sup> These forms of external austerity, when rightly followed, result in non-attachment, lightness of body, conquest of the senses, protection of self-control and lastly the dissociation of *karmic* matter.<sup>11</sup>

The following six are the sub-classes of internal austerity:<sup>12</sup> (1) nine fold expiation (*prāyaścitta*) such as confession of a sin, repentance and the like; (2) four-fold humility (*vinaya*) such as one observed in the presence of a person who is superior in the purity of attitude or knowledge or conduct and the like; (3) respectful service (*vaiyāvṛtṭya*) of these ten viz. the supreme preceptor (*ācārya*), the preceptor (*upādhyāya*), an ascetic (*tapasvin*), an ascetic student (*śaikṣa*), an ailing ascetic (*glāna*), the descendant group (*gaṇa*) of disciples of a *sthavira*, the descendant group (*kula*) of disciples of a famous *ācārya*, the four-fold community (*saṅgha*) of monks, nuns, laymen and laywomen, ascetics (*sādhu*) and the associates (*samanojñā*); (4) the five-fold 'study' (*svādhyāya*) of the scriptures viz. teaching, enquiry, contemplation, correct reading and preaching of their contents; (5) the renunciation (*vyutsarga*) of the not-self such as the external possession as well as the quasi-self such as the body, the mind, the sense-organs and the passions; and (6) lastly concentration (*dhyāna*).



The trio of right attitude, right knowledge and right conduct constitutes, according to the Jainas, the pathway to final emancipation.<sup>13</sup> Right attitude or *samyag-darśana* is the predilection or love for truth. It is only at the stage of self-conscious effort for spiritual advancement that this love of truth is called *samyag-darśana*. After the acquisition of this characteristic the soul passes through a number of stages of spiritual development, technically known as *Guṇasthāna*. This is a very important doctrine of the Jainas. Once the soul succeeds in acquiring the *samyag-darśana*, it is bound to attain emancipation sooner or later. The attainment of right attitude (*samyag-darśana*) is followed by the attainment of right knowledge (*samyag-jñāna*) and right conduct (*samyak-cāritra*).

**ĪHYĀNA** : Ācārya Kundakunda and, following him, Pūjyapāda and Yogindudeva have very thoroughly discussed this method of self-realization in their respective works viz. *Mokṣaprābhṛta*, *Samādhitantra* and *Paramātmaprakāśa*. They distinguish three states of the self viz. the exterior self (*bahirātman*), the interior self (*antarātman*), and the transcendental self (*paramatman*). The self with the deluded belief that it is none other than the body is the exterior self. The self that clearly discriminates itself from the body and the sense-organs is the interior self. The pure and perfect self free from all limitations is the transcendental. The self or soul is intrinsically pure and perfect. Its limitations are due to its association with *karmic* matter. From the point of view of *Guṇasthāna*, the soul before it cuts the knot (*granthi*) and experiences the first dawn of the spiritual vision is the exterior self and the soul after the vision and before attainment of omniscience is the interior self. On the attainment of omniscience the self becomes the transcendental self. One is to eradicate the interior as much as the exterior self in order to realize the transcendental self. We can compare this concept with the concept of “*Trividha sattā*” of Advaita Vedānta. This process of eradication is Yoga.<sup>14</sup> The practices prescribed fall into two categories called *dharma-dhyāna* and *Śukladhyāna*. They lead to final emancipation.<sup>15</sup>

**GUṆASTHĀNA** : The soul has inherent capacity for emancipation. But this capacity remains dormant and inactive unless and until it gets an opportunity for expression. The soul is roused to active spiritual exertion when it is reminded of the great mission that it has to fulfil. The particular changes (*Pariṇāma*) of the *Jiva* from the stage of

*Mithyātva* or ignorance to the stage of *Kevalī* or perfection are said or known as *Guṇasthāna*. This classification of *Guṇasthānas* is according to the presence of maximum polluted (evil) *Pariṇāma* to the maximum good *Pariṇāma* as well as the minimum *Vītarāga Pariṇāma* to the maximum *Vītarāga Pariṇāma* in the *Jīva*.<sup>16</sup>

There are fourteen stages of spiritual development (*Guṇasthāna*) in Jainism :- 1. *Mithyātva*; 2. *Sāsādana*; 3. *Mīśra*; 4. *Avirata Samyagdr̥ṣṭi*; 5. *Deśavirat*; 6. *Pramattavirat*; 7. *Apramattavirat*; 8. *Apūrvakaraṇa*; 9. *Anivṛttikaraṇa*; 10. *Sūkṣma Samparāya*; 11. *Upaśānta*; 12. *Kṣīṇamoha*; 13. *Sayogikevalī*; 14. *Ayogikevalī*.<sup>17</sup>

Faith in the false belief is the *Mithyādr̥ṣṭi*. The one remains with the practice of *Samyaktva* is in the *Sāsādana Guṇasthāna*. In between these two, or the combined form of these two is *Mīśra Guṇasthāna*. The person even on being *Samyagdr̥ṣṭi* attached with the worldly subjects, is *Avirata Samyagdr̥ṣṭi*. Partial detached one is *Deśavirata Samyagdr̥ṣṭi*. One who is though detached, but is still with full of *Pramāda*, is the *Pramatta Saṃyat*. One who is without *Pramāda*, is the *Apramatta Saṃyat*. When a feeling of pleasure is felt, as a result of diluted *Karmavaragaṇās*, that is *Apūrvakaraṇa*. In the *Anivṛttikaraṇa* stage, the passions (*Kaṣāya*) remain present in the form of seeds. In the *Sūkṣmasamparāya*, except greediness, all the passions are destroyed. When the greediness is also destroyed absolutely, the one reaches to the *Upśāntamoha Guṇasthāna*. The *Kṣīṇakaṣāya Guṇasthāna* is the stage of subtle attachment (*Moha*). The *Kevalī* with mind, speech and body is *Sayogikevalī*. At the end of the fruits of *karmas*, he becomes a pure soul, that is *Ayogikevalī*.

**HARIBHADRA** : Acārya Haribhadra has described spiritual development in his books *Yogadr̥ṣṭi Samuccaya* and *Yogabindu*. He has described eight stages of spiritual development in *Yogadr̥ṣṭi Samuccaya* which are known as *Aṣṭadr̥ṣṭi* and five stages in *Yogabindu*. In *Yogadr̥ṣṭi Samuccaya*, Haribhadra defines it as- That which corrects one's vision towards knowledge and faith, which destroys the evil feelings and produces the correct ones, that is *Dr̥ṣṭi*.<sup>18</sup> They are eight in a serial as follows: 1. *Mitrā*; 2. *Tarā*; 3. *Balā*; 4. *Diprā*; 5. *Sthirā*; 6. *Kāntā*; 7. *Prabhā*; 8. *Parā*.<sup>19</sup> The first four are called *Pratipāti* or *Oghadr̥ṣṭi*, because the possibility of downfall remains there, whereas the next four are *Apratipāti* or *Yogadr̥ṣṭi*, because there remains no such possibility. The first four

have attachment towards world and the soul have spiritual ups and downs, where as in the next four, the soul is enlightened and moves up only. After reaching to the fifth *Dr̥ṣṭi*, the soul always moves up towards the spiritual development and never faces the downfall, that is why *Yogaḍṛṣṭi* is called “*Sat ḍṛṣṭi*”. In *Yogabindu*, the stages of spiritual development are similar to the fourteen *Guṇasthāna* or eight *ḍṛṣṭi* described earlier in the *Yogaḍṛṣṭi Samuccaya*. The stages of spiritual development described in *Yogabindu* are as : 1. *Adhyātma*, 2. *Bhāvanā*, 3. *Dhyāna*, 4. *Samatā*, 5. *Vṛttisamksaya*.<sup>20</sup>

**LEŚYĀ:** The good (*Śubha*) and evil (*Aśubha*) mental formation of modes is called *Leśyā*, due to which the relation between Soul and Karma is understood.<sup>21</sup> According to Acarya Nemicandra, *Leśyā* is that by which the soul attaches itself with the *Puṇya* and *Pāpa*.<sup>22</sup> The intensity of the power of bondage in the Karma varies. Some Karmas become responsible for *sharp* (maximum) bondage. These stages of the Karmas depend on the intensity of the *Rāga* or attachment. From this point of view, the *Bhāva* of *Jīva* always changes. It has the intensity of *Rāga-dveṣa* some times maximum and sometimes minimum. The variety of intensity in *Rāga-dveṣa* of the *Jīva* is named as *Leśyā* in the *Jaina Yoga*. The actions of mind, speech and body attached with the *Kaṣāya* is called *Leśyā*.<sup>23</sup> The *Leśyā* is divided into two kinds :- the light (*Prabhā*) of the body is told to be the *Dravyaleśyā* in the *Āgama*. The performance of mind, speech and body, united with the *Kaṣāya* is called *Bhāvaleśyā*.<sup>24</sup> The six divisions of *Leśyā* are based according to different colours and different formations of modes of mind, which are told to be *Praśasta* and *Apraśasta*. These are:- 1-*Kṛṣṇaleśyā*-*sharpest Apraśasta*, 2-*Nilaleśyā* - *sharp Apraśasta*, 3-*Kapotaleśyā* - *Apraśasta*, 4- *Tejoleśyā* - *Praśasta* 5- *Padmaleśyā* - *sharp Praśasta* 6- *Śuklaleśyā* - *sharpest Praśasta*.<sup>25</sup>

## References :

1. Haribhadra defined the term *Yoga* in the sense of ‘what leads one to emancipation’ for the first time in the history of *Jaina thought*. (Cf. *Mukkheṇa joyaṇāo jogo savvo vi dhamma-vāvaro-Haribhadra’s Yogavimśikā, kārikā I*). This meaning of the term is unanimously accepted in the post-Haribhadra *Jaina literature*. Of course, the term ‘*Yoga*’ was used in the general sense of subduing the senses and the mind and the processes of concentration and ecstasy even in the earlier stages of the *Jaina thought*.

2. *Samyag-yoga-nigraho guptih, Tattvārtha-sūtra*, IX. 4.
3. Cf. *Iryā-bhāṣai-śanā-dānanikṣepo-tsargah samityah- Tsu*, IX. 5.
4. *Uttamakṣamā-mārdava- "ṛava-śauca-satya-saṁyama-tapastyāga" kincañya-brahmacaryāṇi dharmah-Ibid.*, IX. 6.
5. *Anitya-śaraṇa-samsārikatva-nyatva-sucitva-srava-saṁvara-nirjarā lokabodhidurlabha-dhārmavakhyātatva-nucintanam anuprekṣah - Ibid*, IX. 7.
6. For enumeration See *Ibid*, IX. 9.
7. *Mārgacyavana-nirjarārtham parisodhavyah pariśahaḥ-Ibid*, IX. 8.
8. *Ibid*, IX. 18
9. *sa gupti-samiti-dharmā nuprekṣā-pariśahajaya-cāritraih-Ibid.*, IX.2.
10. *Anasanā-vamaudarya-vṛttiparisankhyeṇa-rasaparityāga-vivikta - sayyāśan-kāyaklesā bahyam tapaḥ-Ibid*, IX. I 9.
11. Cf. *Samyak-prayuktāni bāhyam tapaḥ asmat sadvidhadaapi bāhyat tapaśah sangatyāga-śātralāghave-ndriyavijaya-samyamarakṣana-karmānirjarā bhavani-Bhasya*, *Ibid*, IX. 19.
12. *Prāyaścitta-vinaya-vaiyāvṛtṭya-svādhyāya-vyutsarga-dhyānāny uttaram-Ibid*, IX. 20.
13. *Samyagdarśana-jñāna-cāritrāṇi mokṣamārgah. Ibid*, VII. 7.
14. Cf. *Evam tyaktvā bahirvacam tyajed antar aśesatah eṣa yogah śamasena pradīpah paramātmanah-Samādhitantra*, 17.
15. From *Studies in Jaina Philosophy*. N.M. Tantia.
16. *Jainendra Siddhānta Kośa*, Vol. II, P. 245.
17. *Gommatasāra, Jīvakāṇḍa*, g. 9, 10.
18. *Yoga-dṛṣṭisamuccaya*, s. 17.
19. *Ibid*, s. 13.
20. *Yogabindu*, s. 31.
21. *Dhavalā*, a:3:276.
22. *Gommatasāra. Jīvakāṇḍa*, g. 488, 489.
23. *Ibid*, g. 489.
24. *Ibid*, g. 536, *Sarvārthasiddhi*, 2:6.
25. From - *Concept of Spiritual Development and Liberation*, M.R. Mehta.



## Jaina Śramaṇa Tradition from Ādinātha to Pārśvanātha

Colonel D.S. Baya 'Śreyas'\*

"Ādimatīṃ pṛthvinātham ca, Ādimatīṃ niṣparigrahaṇīṃ  
Ādimatīṃ Tīrthanātham ca, Śrī Rṣabhasavāminam stumahl!"

In the present context this verse is not being recited merely as a benediction but has much wider connotations. It hails *Bhagavān Rṣabhadeva* as the first ruler of the lands, the first ascetic to take the monastic vows and the first Prophet Propounder of the faith that started the Śramaṇa tradition and the *Tīrhan̄kara* the giver of the four-fold socio-religious order known as *tīrtha*.

### Indian Philosophical Traditions -

From the very dawn of human civilisation the philosophical traditions on the Indian sub-continent have evolved on two parallel lines - the *Vedic* and the *Śramanic*.

The exponents of *Vedic* tradition believe in their tradition to have been handed down to them by a superhuman entity (*apauruṣeya*), which they variously describe as the supremesoul or *Parabramha*. *Parabramha* is either abstract or manifest. The manifest *Parabramha* manifests itself in the form of divine trinity or the incarnation triad in the forms of *Brahmā*, *Viṣṇu* and *Maheśa*. Among them, too, the story of twenty-four incarnations or *Avatāra* of *Viṣṇu* symbolically relate to the story of evolution of life from the marine life (*Matsyaavatāra*) to a variety of higher life-forms like amphibians (*Kūrma-avatāra*), tough terrestrial animals (*Varāha-avatāra*), Pseudohumans (*Narasimha-avatāra*), midgets (*Vāmana-avatāra*), axe-wielding primitives (*Paraśurāma*), bow and arrow wielding humans (*Rāma-avatāra*), more evolved and thoughtful humans who were said to have mastered *Yoga* (*Kṛṣṇa-avatāra*) and the most evolved enlightened, merciful and

\*E - 26, Bhupalpura, Udaipur - 313 001 (Rajasthan).

benevolent humans (*Buddha-avatāra*). The *Vedic* tradition evolved around the teachings of seers who believed in the forces of nature as the expressions of divine will and mood and composed hymns in their praise and in the praise of *Viṣṇu* whom they considered the all-powerful controller of all the elements controlled by the lesser gods.

The *Śramaṇic* tradition, on the other hand, evolved around more rational beliefs. It attributed the progress of human prowess and virtues not to divine interference but to human thought and intelligence, developed as a result of contemplation by the intellectually well-endowed thinkers and seers. The first such thinker and seer was *Rṣabha*, the son of the last *Kulakara Nābhi* and his consort *Marudevi*. Before *Rṣabha*, who later came to be known as *Ādinātha* or the first master for his rich and abundant gift to humanity, the human-beings were jungle dwellers who led primitive lives without a well-defined social order or any means of livelihood except what they could get from the trees around them. They depended on the trees - *Kalpa -vṛkṣas* - for their food, clothing, utensils, shelter, etc. It is easy to see that their lives were entirely controlled by the forces of nature and that they had very little or no control over them. It was *Rṣabha* who meditated long and deep and found ways to bring the humanity out of this morass and taught the people to eke out a living with their own efforts rather than to sit-back and hope for the best. It is not surprising that such a potent potentate is also mentioned as one of the twenty-four incarnations of *Viṣṇu* by the *Vedic* tradition. He is the common ground on which both these traditions met in the time of yore.

From the story of evolution of life on earth, symbolically depicted by the story of incarnations of *Viṣṇu*, also borne out by the Darwinian theory of origin of species, it is clear that the *Śramaṇic* tradition, represented by *Buddha*, is more evolved of the two traditions. It is not at all surprising, as it is the tradition that is based on enlightenment gained through deep and long contemplation and universal love and compassion for the living irrespective of their stages of evolution or stations of life. The Jain concept of *Jīva* also rhymes with this theory when it considers the water-borne finest creatures of vegetable origin such as algae, etc as the lowest life-form with only one sense of touch and higher life-forms in the form of two or more senses up to the rational five-sensed creatures as capable of thought and reason.

A word about the usage of the term 'Buddha', here, will not be out of place. More than a personal identity it represents a class identity. All those that are enlightened about the fact that one gets what one gives, that compassion begets happiness and that cruelty begets misery, that the way out of the mundane miseries is through the path of virtue and compassion are *Buddhas*. *Ṛṣabha* was one and the very first such *Buddha*. With his advent the Śramaṇic tradition marks its beginning. Not to mention that He was followed by many more *Buddhas* both in the *Jaina* as well as in the Buddhist traditions. This paper aims at very briefly surveying the important epochs in the *Jaina Śramaṇa* tradition from the time of first *Jaina Buddha - Bhagavān Ṛṣabhadeva* to the penultimate - *Bhagavān Pārśvanātha*.

### Śramaṇa Tradition -

*Śramaṇa* is a qualitative noun or an adjective that presupposes the qualities of endeavour and equanimity in a person bestowed with this title. A *Śramaṇa*, therefore, has to endeavour to sustain his life as well as his spiritual quest. Although his endeavours are mostly spiritual in nature, he is not exempted from endeavours of mendicancy for sustaining life and that of spreading the gospel for the common spiritual weal while he endeavours to secure spiritual emancipation for himself. The *Jaina* and Buddhist monastic orders, besides some others, such as the *Ājīvakas* that could not survive the ravages of time, have traditionally been known as *Śramaṇa* traditions as their members devoted themselves to the physical as well as spiritual endeavours.

### Ancient Origin of Jaina Śramaṇa Tradition -

The ancient origin of the *Jaina Śramaṇa* tradition is amply borne out by both literary as well as archaeological evidence. The traditional *Jaina* history from the earliest times of the first *Tīrthankara Lord Ṛṣabhadeva* (Circa third period of the descendent phase of the present time-cycle) to the last *Tīrthankara Lord Mahāvīra* (Circa 6<sup>th</sup> Century BC in the fourth period of the same phase of the current time cycle) can be traced from the events mentioned in the *Jama* scriptures.

According to the *Jaina* tradition, ages ago the first *Tīrthankara, Lord Ṛṣabhadeva*, was the initiator of the transition of the human civilisation from that of the culture of enjoyment (*Bhoga saṁskṛti* in

which one didn't have to work for one's livelihood as all one's needs were fulfilled by the trees called *Kalpavṛkṣās*) to that of the culture of action (*Karma saṁskṛti* in which one has to work for one's livelihood). He also established the traditions of agriculture, education, warfare, state-craft, legal system, etc. Actually, before him the society was led by the headmen who were called *Kulakaras* (*Rṣabha's* father - *Nābhirāj* was the last *Kulakara*) and he was the first ever king who ruled the country.<sup>2</sup> After firmly establishing the systems of the society and the state and ruling for an immeasurably long period of time - *Rṣabha* relinquished his temporal powers in favour of his eldest son, *Bhārata*, and became the very first ascetic<sup>2</sup> engaged in the pursuit of spiritual enlightenment, after attaining which he preached the faith and established the four-fold religious order referred to as 'ford (*tīrtha*) and became the very first Tīrthānkara (founder of the ford)<sup>2</sup>, and salvation, which he, ultimately, attained atop Mt. *Kailāsa* referred to as *Aṣṭāpada* in the Jaina lore. The eldest of his one hundred sons, *Bharata*, became the very first paramount sovereign or kingemperor (*Cakravarti*) of the land that was named as *Bhārataṣa* after him. In this connection Dr. Hermann Jacobi wrote, "there was nothing to prove that *Lord Pārśvanātha* was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in holding *Lord Rṣabhadeva*, the first *Tīrthānkara* as its founder and there may be something historical in the tradition which takes him as the first *Tīrthānkara*." With such reliable evidence being available, there is nothing to prevent us from believing that Jainism is the most ancient religious philosophies of the world that started with the advent of human civilisation and evolved with time.

After *Lord Rṣabhadeva*, there was a succession of twenty-three *Tīrthānkaras* who propounded and preached almost the same precepts and practices that to first *Tīrthānkara* had propounded with due modifications felt necessary due to the changing times and the changing human nature. *Lord Mahāvīra* (599-527 B.C.) became the last Prophet-propounder (*Tīrthānkara*).

*Lord Pārśvanātha*, the twenty-third *Tīrthānkara*, is accepted as a historical personality by the modern historians such as Vincent Smith, R.C. Majumdar and R.K. Mukerjee, who regard him as a great preacher of *Jaina Dharma*. He was the prince of Varanasi, who became an ordained



monk, practised grave penance and achieved spiritual enlightenment, propounded the faith and preached it for nearly seventy years before he ultimately attained *nirvāṇa* atop *Sammedaśikhara* (*Pārasnāth Hill*) in the Jharkhand state. Before him, the twenty-second Prophet, *Lord Ariṣtanemi*, was a cousin of *Lord Kṛṣṇa* and there could be little doubt about his historical veracity. He lived and preached in the *Saurāṣṭra* region in the western India and attained *nirvāṇa* atop the *Ūrjayantagiri* or Mt. *Girnar*.

Similarly, historical instances are found in the Jaina lore about the remaining twenty *Tīrthan̄karas* as well and there is no reason to question their historicity in the absence of evidence to the contrary.

Also, there is ample archaeological evidence to prove that the Jainism did not originate with the accepted historical figure - *Lord Pārśvanātha*, but aeons ago with Lord *Rṣabhadeva*, who is referred to as *Ādinātha* (the first lord) for this very reason. The following is an account of such archaeological evidence<sup>3</sup> :-

A. It has been recorded that king *Khāravela* of *Kaliṅga*, in his second invasion of *Magadha* in 161 BC, brought back an idol of *Agrajina* or the first *Jina* (*Rṣabhadeva*), which had been carried away from *Kaliṅga* three centuries earlier by king *Nanda-I*. This shows that in the 5<sup>th</sup> century BC, *Lord Rṣabhadeva* was worshipped and that his idol was highly valued by his followers.

B. In the Indus valley excavations some nude male terracotta figures were found. It clearly shows that *Jaina* faith was followed by the people of the Indus valley civilisation as the worship of nude male deities is a very well-established practice in Jainism.

C. On one of the seals were found engraved nude figures of six male deities standing in contemplative mood with their hands held very close to their bodies' (*Kāyotsargamudrā*). This practice of contemplating in standing posture is peculiar only to the *Jainas*. This shows that the figures were of *Jaina* ascetics.

D. The figures of male deities in contemplative mood in standing or sitting postures resemble the currently worshipped figures of *Jaina Tīrthan̄karas*.

E. On some seals we find the figure of a bull engraved under the figure of a nude male deity practising penance in the *Kāyotsarga mudrā* i.e. in a standing posture. These figures appear to be those of Lord *Ṛṣabhadeva* as in the *Jaina* tradition there is an established practice of depicting the emblem (*lāñchana*) of each *Tīrthānkara* below their figures and that a bull is the emblem of Lord *Ṛṣabhadeva*.

F. Sacred signs of swastikas, drawn in *Jaina* and Hindu style are also found engraved on some seals.

G. Some motifs on some seals found in Mohan-Jo-Daro resemble those found in the ancient *Jaina* art of Mathura and suggest that Jainism was prevalent in that civilisation at that ancient time (3500-3000 BC).

Recently, reputed scholar saint *Ācārya Vidyānandaji*, has concluded from his research on the relics from the excavations at Mohan-Jo-Daro in the Indus valley, that Jainism was prevalent at least 5000 years ago.

All this evidence points at a very ancient origin of Jainism and it is now recognised as one of the oldest religious philosophical traditions of the world.

### Śramaṇa Tradition of Lord *Ṛṣabha* -

*Ṛṣabha* was the first establisher of human social and political order and thereby to become the first ruler of the lands and their people who owed him their allegiance for the favour of his leadership in order to become the masters of their own destinies. He also became the first ascetic and thinker-seer of the descendant phase of the present time cycle, referred to as *Hunḍā Avasarpīni-kāla*, and lived a long and productive life. He could delve deep into the problems facing the humankind of his time and find solutions to them making life easier and bearable for the humans facing extinction for want of food and other life sustaining necessities. He did not limit his quest only to find solution to mundane problems but also meditated on the matter of spiritual evolution and could chart-out a path for the spiritual emancipation for those that wanted themselves free from the miseries of mundane existence. He was the first and foremost exponent of a well-rounded socio-spiritual order comprising the monastic as well as lay social groups (*Tīrtha*) that is today known as the Sramanic tradition. For this achievement of his, he is known as the first *Tīrthānkara*.

**Bhagvān R̥ṣabha's Time -**

When we talk of Lord *R̥ṣabha's* time we cannot escape the consideration of *Jaina* concept of time, which is, to say the least, mind boggling. According to *Jaina* mythology the infinite time is divided into infinite time cycles of twenty *Koṭā-koti Sāgaropamas* each, which are, in turn, sub-divided into two equal halves - each of ten *Koṭā-koti Sāgaropamas* and known as ascendant (*Utsarpiṇī*) and descendent (*Avasarpiṇī*) phases (*kāla*). Each of these phases, yet again, consists of six periods (*Ārā*) of varying duration. In the ascendant phase the period of intense misery is followed by that of misery, misery mixed with pleasure, pleasure mixed with pain, pleasure and then intense pleasure. In the descendent phase the order reverses itself and the first period of intense pleasure yields to the sixth period of intense pain. Presently we are in the fifth - Pain-period (*Dukhamā Ārā*) of the descendent phase of the time-cycle called *Huṇḍā*. Again, according to well-recorded *Jaina* belief the end of the descendent phase of each time cycle is marked by a natural calamity of immense proportion when the climate becomes very hot and inhospitable and the human-beings are reduced to mites of cubit sizes and their civilisation is temporarily suspended only to be revived at the opportune time. They live in burrows and survive only by coming out at nights and eating fish and other creatures that, too, come out at night and even by cannibalisation.<sup>4</sup> During the following ascendant phase the times change for the better and in the first period, the earth cools down sufficiently and the climate becomes more hospitable for the burrow-dwelling mites to come out of their holes and live in the open again. With better times they also start growing in size but still live off the land depending on their surroundings and getting sustenance from the trees. In the third period the first Prophet Propounder (*Tirthankara*) leads them to the life of endeavour and so on and so forth. Similar happenings have been occurring for infinite time-cycles in the past and they repeat themselves, ad infinitum, time-cycle after time-cycle.

Lord *R̥ṣabha* was born in the third period of this descendent phase of this time cycle some forty thousand years less than one *Koṭā-koti Sāgaropama* from now and lived a long life of eighty-four hundred thousand *Pūrvas*.<sup>6</sup>

### Śramaṇa Order and Tradition of Lord Rṣabha -

Lord *Rṣabha* established a large Śramaṇa order that consisted of eighty-four principal disciples (*Gaṇadhara*s), eighty-four thousand monks and three hundred thousand nuns. He had prescribed an ethical code for his ascetic order that comprised five great vows of complete non-violence, truthfulness, non-theft, sexual continence and detachment from material as well as emotional baggage. They could not stay in one place for over a month except for the rainy season when they could stay at one place for four months. To atone for their known and unknown flaws and faults every morning and evening they had to recall, repent and retract (*Pratikramaṇa*) for them regularly. The reason cited for this regular observance, even if an infraction had not been known to have been committed, is that at that early time in the history of human evolution the people and so the ascetics were quite simple but not very bright.<sup>7</sup> The last *Tirthaṅkara* Lord *Mahāvīra* also prescribed a similar ritual observance irrespective of the commitment of the flaw or otherwise.<sup>8</sup> However, the reason cited for this prescription was that by his time the people and so the ascetics had also become dull as well as crooked.<sup>9</sup> Lord *Rṣabha* not only ordained the ascetics in his Śramaṇic order but also imparted the knowledge, gained through his constant contemplation and meditation, to his disciples. Amongst his disciples there were twenty thousand monks and nuns who had gained omniscience and liberation, four thousand seven hundred and fifty who had gained the knowledge of fourteen *Pūrvas*, nine thousand who had gained extra sensory clairvoyant perception, and twelve thousand six hundred who had gained extensive telepathic perception.

### From Ajitnātha to Ariṣṭanemi -

In the period of some forty-two thousand years less than a *Koṭākoṭi Sāgaropama* that elapsed between the *nirvāṇa* of the first *Tirthaṅkara* *Bhagvān Rṣabhadeva* and the advent of the penultimate *Tirthaṅkara* *Bhagvān Pārśvanātha* there were twenty-one more *Tirthaṅkaras* from the second one *Bhagvān Ajitnātha* to the twenty-second Lord *Ariṣṭanemi*. The Śramaṇic traditions of these twenty-one *Tirthaṅkaras* were slightly different from those of the first and the last *Tirthaṅkaras* for the simple reason that the nature and intellectual capacities of their disciples had

changed in the intervening period.<sup>10</sup> The disciples of the first *Tīrthaṅkara* were simple and dull and found it difficult to comprehend the faith but having comprehended it they could practice it flawlessly. The disciples of the following twenty-two *Tīrthaṅkaras* were simple and wise and they could interpret their instructions in the right perspective and act accordingly without close supervision. While the canonical instruction for them also proceeded along the same lines as for the disciples of the first *Tīrthaṅkara*, the ethical code for them prescribed only four great vows (they could understand that the fourth vow of detachment from all mundane pleasures also included sexual continence) of non-violence, truthfulness, non-theft and detachment from material and emotional belongings. They were discreet enough to judge the benefits and harms of a situation for themselves and could decide about their courses of action themselves rather than to follow detailed instructions for every aspect of their conduct, which was and is the case for the ascetics of the Śramanic orders of the first and the last *Tīrthaṅkaras*. They could stay in one place as long as they found it suitable. They could wear even the colourful clothes rather than to rain naked or to wear white clothes only. Also, they did not have to undertake the ritual observance of daily morning and evening retractory repentance for known and unknown flaws as they were alert enough to know when an infraction took place and to atone for it as and when required. The story of monk *Thāvaccāputra* in the *Jñātādharma-kathā*<sup>11</sup> and those of fifty-one spiritual aspirants of *Bhagvān Ariṣṭanemi*'s time, mentioned in the *Antakrddasanga*<sup>12</sup> who liberated by virtue of their intense spiritual observances and severe penance, bear enough evidence to these facts about the Śramanic orders of these twenty-one *Tīrthaṅkaras*.

### The Śramaṇa Tradition of Pārśvanātha -

There is ample evidence in the canonical works as well as in the explanatory literature on them about the Śramanic tradition of *Bhagvān Pārśvanātha*, who is accepted as a historical figure by the modern historians. He had lived and preached only two hundred and fifty years earlier than the time of Lord *Mahāvīra*.<sup>13</sup> The evidence of the four dimensional faith of Lord *Pārśvanātha*, consisting of the four great vows, is available in the dialogue between *Śramaṇa Keśī* of the monastic order of Lord *Pārśvanātha* : ~ ' *Gaṇadhara Gautama* of Lord *Mahāvīra*,

contained in the twenty-third chapter of *Uttarādhyayana* entitled 'Keśī-Gautamiya',<sup>14</sup> wherein the former enquires about the reason for the difference between his four dimensional faith and the five dimensional one preached by Lord *Mahāvīra*<sup>15</sup> and the latter satisfies him by his answer that such issues about the faith must be analysed wisely by the wisdom gained through the right-knowledge.<sup>16</sup> He also said that the difference has been necessitated by the changes in the natures of the members of the ascetic orders of various *Tirthankaras*. That the ascetics of the first *Tirthankara* were simple and dull, those of the twenty-two *Tirthankaras* after him were simple and wise and the ones belonging to the ascetic order of the last *Tirthankara* were dull and crooked.<sup>17</sup> That for the ascetics of the order of the first *Tirthankara* it is difficult to comprehend the-faith but having understood once they practised it easily; for those of the last *Tirthankara* it is difficult to comprehend the faith as also to practise it afterwards; for the ascetics of the orders of the twenty-two *Tirthankaras* in between it is easy to understand the faith as also to practise it.<sup>18</sup>

Similar questions were also raised about - the nakedness preached by Lord *Mahāvīra* while *Pārśvanātha* prescribed no such restriction for the members of his ascetic order.<sup>19</sup> *Gautama* dispelled *Keśī's* doubt by saying that the question of physical monastic identity such as nakedness or the clothed one is a matter of mundane consideration and for the benefit of the society at large. It had no spiritual relevance as long as the ascetics remained unattached to whatever belongings - material as-well as emotional - they had.

Some aspects of Śramanic tradition of Lord *Pārśvanātha* are also revealed in the dialogue between *Pārśvāpatyīya Śramaṇa Peḍhālaputra* and *Gaṇadhara Gautama* contained in the chapter entitled '*Nālandīya*' in the second volume of *Sūtrakṛtāṅga*<sup>20</sup> and those of *Kālaśyaveśīputra* contained in the *Vyākhyāprajñaptisūtra*.<sup>21</sup>

### Illustrative Parables -

The ascetics of the order of the first *Tirthankara* were simple but dull, those of the orders of the twenty-two *Tirthankaras* in between were simple and wise and those of the order of the last *Tirthankara* were dull and crooked. The explanatory literature on *Kalpasūtra* mention

three parables to illustrate the simplicity and crookedness as also the cleverness and dullness of the ascetics of these times. They are as follows:

The first parable that illustrates the simplicity of the monks of the traditions of the first twenty-three *Tīrthaṅkaras* goes like this - "Once a disciple went to beg for alms. He got thirty-two hot balls as alms. He thought that the guru was certainly going to give him sixteen balls so why not eat then while they - were still hot and ate them. After some time he again thought that out of the remaining sixteen balls, too, the guru would give him eight and ate them as well. Like this he kept on thinking and eating the balls until only one was left in the vessel. When he brought and showed only one hot ball to the guru, he enquired as to who was the give that gave only one ball as alms. The simple disciple simply answered that he had got thirty-two balls and narrated the whole incident as it happened. The guru was some what taken aback and asked him as how he could bring himself to eat all but one ball. The disciple took no time to pop the remaining one ball into his mouth and replied, 'thus' O' Master!'.<sup>22</sup>

Next is the parable that illustrates the Crookedness of the people of the last *Tīrthaṅkara's* time. "A merchant instructed his son not to speak in front of (i.e. not to talk back to) the elders. Once, when the merchant went out of the house, the son locked himself in and wouldn't reply to the merchant's call for opening the door. On entering the house by breaking the lock the-merchant asked the son as to why he did not reply, the son promptly told him that he only had instructed him not to speak in front of the elders."<sup>23</sup>

The third parable that illustrates the wisdom of the ascetics of the times of the twenty-two *Tīrthaṅkaras* from *Ajītnātha* to *Pārśvanātha* or clever crookedness of the ascetics of the time of the last *Tīrthaṅkara* is like this - "Once a disciple went to beg for alms and was very late in coming back. When enquired by the guru he plainly told him the truth that he had stopped to watch the tricks of a male rope-walker. The guru explained that such indulgence was against the monastic propriety and advised' him not to indulge. in such pursuits in future. The disciple agreed and promised not to repeat the incident. When the disciples went out next a female rope-walker was performing the tricks.. The wise disciples could reason that if watching a male juggler was wrong, more

so would be to watch the female one. The dull disciples, however, could not reason like this and stayed back to watch her tricks and showed their ignorance when asked by the guru."<sup>24</sup> The explanatory literature attributes the watching of the female artist to the disciples' dullness, however, I feel that no one could be so stupid. This could happen only due to the clever manipulation of the guru's instructions by a crooked mind. I, therefore, hold the view that the people of the time of the last *Tirthankara* were not dull and crooked but crooked and clever manipulators.

### Conclusion -

From the above-mentioned discussion we can conclude that the *Jaina Śramaṇa* tradition is certainly as old as the Vedic tradition if not older. There is sufficient evidence to prove its ancient origins. That the Śramanic traditions of the times of various *Tirthankaras* differed from each other in some details but as far as the basic spiritual considerations were concerned, they were the same.

### References :

1. Arhat Caityavandan, *Pañca Pratikrmaṇasūtra*, Jaina Bandhu Printing Press, Indore 2021 Vik. Era, verse 3, p. 86.
2. "Ādimāṇ Pṛthvinathāṇ ca, ādimāṇ Niṣparigrahāṇi  
Ādimāṇ Tīrthanātham ca, Śrī Rṣabhāsvāmināṇ stumahlī"
3. *Jainism In Global Perspective*, PV, Varanasi, 2000.
4. This may sound surprising but only recently a demographic investigator has surmised that if the population growth remains unchecked for another thousand years the fourth millennium may see a world population where houses of a thousand storeys and more may be required to house such immense population. In the Jaina context we are talking of a time yet about forty thousand years hence.
5. *Kalpasūtra*, Upādhyāya Pyarcandji, Beawar, 2029 Vik. Era, p. 207.
6. 1 Pūrva is equivalent to 8400,000x8400,000 years.
7. *Kalpasūtra*, *ibid*, p. 4-5.
8. *Ibid*, p. 4.



9. Ibid, p. 5.
10. Ibid, p. 4.
11. *Jñātādharma-kathā*, I/5.
12. *Antakṛddāśaṅga*, Varga I-V.
13. *Kalpasūtra*, ibid, p. 179.
14. *Uttarādhyayanāsūtra*, 23.
15. "Cāujjāmo ya jo dhammo, jo imo pañcasikkhio |  
Desio Vaddhamāṇeṇa, Pāseṇa ya Mahāmuṇī ||"  
Egakaṇṇa pavṇṇāṇaṇ, visese kiṇi ṇu kāraṇaṇ ||  
Dhamme duvihe Mehāvi! kaṇaṇ vippacca ṇa te? ||"-Ibid, 23/23-24.
16. "Paṇṇā samikkhae dhammaṇ, tattaṇ tattaviṇicchayaṇiṇ - Ibid, 23/25.
17. "Purimā ujjujadā u, vakkajadā ya pacchimā |  
Majjhimā ujjupaṇṇā u, teṇa dhamme duha kae ||" - Ibid, 23/26.
18. "Purimāṇaṇ duvvisoṇṇo u, carimaṇaṇ duvvipālo |  
Kappo majjhimagāṇaṇ tu, suvisoṇṇo supālo ||" - Ibid, 23/27.
19. "Acelago ya jo dhammo jo imo santaruttaro |" - Ibid, 23/ 29.
20. Quoted from *Jinavāni*, April, 2002, p. 109.
21. Ibid. p. 166.
22. *Kalpasūtra*, ibid, pp. 5-6.
23. Ibid, p. 7-8.
24. Ibid, p. 6-7.



## Social Aspect of Non-Violence

Dr. B.N. Sinha\*

Theory of non-violence is followed in society, but it is non-violence which makes the society exist. Society takes its origin in non-violence and it also flourishes in non-violence. Without non-violence there cannot be any social life. This is why, Giddings has defined society as -

“Society is the union itself, organization, the sum of formal relations, in which associating individuals are bound together”<sup>1</sup>. Union, organization, association in some way or other symbolise non-violence. In the words of J.L. Gillin - “Society is the largest relatively permanent group which share common interest, common territory, a common mode of life and common ‘esprit de corps belongingness where by they distinguish themselves from outsiders”<sup>2</sup> The very word common represents the equality in society which is based on non-violence. So in the social conduct it has been asserted -

*“Do unto other, as you would have other do unto you”*

But this internal relation between non-violence and society cannot be known clearly till human nature and origin of society are not introduced here.

### Human Nature

Aristotle a great Greek-philosopher has propounded that “*Man is a social animal*”. He (man) is an animal but with sociability. His sociability is due to gregariousness in his nature and several necessities in his life.

***Gregariousness*** :- Because man is gregarious by his nature he wants to live with other persons. He participates in the pleasures and pains of others as well as he wants his own pleasures and pains to be participated by others. He praises others and wants to be praised by others. He does not want to be alone. So to keep a man alone is a punishment for him. After committing crimes a criminal is kept in some jail or cell where his all social activities are prohibited as **punishment**. A man always wants to be accompanied with others.

\*Former Reader, Deptt. of Philosophy, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi-2

**Necessities** :- Human life is full of necessities which cannot be fulfilled by a single person. So all persons depend on one another for getting their necessities fulfilled. This interdependence creates co-operation among them which represents non-violence. The sociability and non-violence are co-existents. They cannot be separated. Therefore Aristotle has said -

“He who is unable to live in Society or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or god.”

Umāswāti a great Jaina-thinker has defined animate (Jīva) in the following way -

*Pārasparopgraho jīvānām ||2||<sup>3</sup>*

To co-operate one another is the nature or function of Jīvās, Man is the most developed being among all beings found in the world. So he also possesses co-operative nature, and where there is co-operation there is non-violence.

Some psychologists have assigned that man has also aggressiveness or pugnacity in his nature. *Frued* a well-known psychologist of the present age has named this sort of human motive as Thanatos. But he has also accepted that human nature consists of both love and hatred, co-operation and contradiction. The hatred creates hurdles on the path of social development. The society is developed due to love and affection which are positive forms of non-violence.

### **Origin of Society**

In the social philosophy, following five theories concerning origin of society have been discussed -

1. The Theory Social Contract
2. The Theory of Divine Origin
3. The Patriarchal Theory
4. The Matriarchal Theory
5. The Theory of Evolution

Among these, the theory of *Social Contract* is prominent, which has been established by Hobbes, Locke and Rousseau the modern social philosophers. They have analyse human nature on which origin of society is based.

## Hobbes

Hobbes, while discussing the nature of human being has assigned that man is selfish by nature. Though he possesses both divine and devil motives, he always likes to use the divine element of his nature to satisfy his devil demands. Because human beings are selfish they fear from one another and this fearfulness has compelled them to organize society. This shows that human nature is full of violence which causes disturbance and disaster in society. But in his famous work "*Leviathan*" he has propounded following 19 Laws of Nature which support non-violence-

### (i) The Fundamental Law of Nature - Peace

"That everyman, ought to endeavor Peace, as farre as he hope of obtaining it and when he cannot obtain it; he may seek, and use all helps and advantages of Warre."<sup>4</sup>

It means that one should try his best to achieve peace but in case of failure he should defend himself even on the basis of war.

### (ii) The second Law of Nature - Liberty

"That a man be willing when others are so too, as farre forth, as for Peace and (65) defence of him self he shall think it necessary, so lay down this right to all things and be contented with so much liberty against other men as he would allow other men against himself."<sup>5</sup>

"It means a man should have liberty as much as he can provide it to others"

### (iii) The Third Law of Nature - Justice

"That men perform their Covenants made : without which Covenants are in vain and but Empty words, and the right of all men to all things remaining, wee are still in the condition of Warre."<sup>6</sup>

That all men have rights of all things.

### (iv) The fourth Law of Nature - Gratitude

"That a man which receiveth Benefit from another of meer Grace, Endeavour that he which giveth it have no reasonable cause to repent him of his good will."<sup>7</sup>

### (v) The fifth, Mutuall accommodation or Complaisance

"That everyman strives to accommodate himself to the rest."

**(vi) The sixth, Facility to Pardon**

That upon caution of the Future time, a man ought to pardon the offences past of them that repenting, desire it.”<sup>9</sup>

**One should pardon the offences of others done in the past so that in future peace may be maintained.**

**(vii) The seventh, that in Revenges, men respect only future good**

“That in Revenges, (that is, retribution of Evil for Evil) Men look not at the greatness of the evil past but the greatness of the good to follow”<sup>10</sup>

If one has to take revenge, he should see the good of future not the evil of past.

**(viii) The eighth, against contumely**

That no man by deed, word, continence, or gesture, declare, Hatred, or Contempt of another.”<sup>11</sup>

It means hatred to or contempt of other person should not be expressed either in word or in action.

**(ix) The ninth, against Pride**

“That every man acknowledges other for his Equall by Nature. The breach of this Percept is pride.”<sup>12</sup>

Having avoided pride all should treat with one another equally.

**(x) The tenth, against Arrogance**

“That at the entrance into conditions of Peace, no man require to reserve to himself any Right, which is not content should be received to every one of the rest.”<sup>13</sup>

A person should not reserve any right for his own self, which is not given to others.

**(xi) The eleventh, Equity**

“Also if a man be trusted to judge between man and man it is percept of the Law of Nature, that the deale Equally between them.”<sup>14</sup>

A justice should treat all men equally while he is making some judgement.

**(xii) The twelfth, Equall use of things common -**

“That such things as cannot be divided, be enjoyed in common, if it can be; and if the quantity of the thing permit, without Stint; otherwise Proportionably to the number of them that have right.”<sup>15</sup>

Things should be enjoyed commonly, if they cannot be divided.

**(xiii) The thirteenth, of Lot**

“But some things there be, that can neither be divided, nor be enjoyed in common. Then the Law of Nature which preseribeith Equity, requireth, That the Entire Right or else, (making the use alternate) the first possesson, be determined by Lot.”<sup>16</sup>

The things which can neither be divided nor be enjoyed commonly, the right concerned may be determined by Lot.

**(xiv) The fourteenth of Primogeniture and First seising**

“Of Lots there can be two sorts - Arbitrary and Naturall. Arbitrary, is that which is agreed on by the competitors, Naturall, is either Primogeniture, which signifies, Given by Lot or First Seisure.”<sup>17</sup>

On the basis of Competition and Primogeniture things should be distributed.

**(xv) The fifteenth of Mediators**

“That all mediate Peace, be allowed safe conduct. For the Law that commandeth Peace, as the end commandeth Intercession, as the means; and to Intercession this Means is safe conduct.”<sup>18</sup>

**(xvi) Intercession commands a safe conduct**

“That they that are at controversie, submit their Right to judgment of an Arbitrator.”<sup>19</sup>

The judgment of Right should be submitted to arbitrator.

**(xvii) The seventeenth, No man is his own Judge**

“And seieng everyman is presumed to do all things in order to his own benefit, no man is a fit Arbitrator in his own case.”<sup>20</sup>

In is own case no body should be the arbitrator.

**(xviii) The eighteenth no man to be Judge that has in him a natural cause of Partiality**

“For the same reason no man in any cause ought to be received for Arbitrator, to whom greater profit, or honour, or pleasure apparently anseth out of the victory of one party, than the other for he health taken a bribe; and no man can be obliged to trust him.”<sup>21</sup>

Due to partiality in man, no man should be the judge in his own case.

#### **(xix) The nineteenth of Witness**

“And in a controversie of Fact, the judge being to give no more credit to one, than to the other (if there be no other Argument) must give credit to a third and fourth; or more. For else the question is undecided and left to force, contrary to the Law of Nature.”<sup>22</sup>

This law gives importance to witness.

Hobbes has said very clearly about Laws of Nature.

“The Laws of Nature are Immutable and Eternall. For Injustice, Ingratitude, Arrogance, Pride, Iniquity Acception of persons and the rest, can never be made lawfull For it can never be that warre shall preserve life, and Peace destroy it.”<sup>23</sup>

#### **John Locke**

According to Locke man is a society loving, co-operative, supporter of love and kindness and nice by his nature. He is lover of morality and peace. His all mutual relations are governed by love. By nature all men are equal. No body has any right more than other. All are morally equal and they have equal right to develop their personalities. Human life is mainly influenced by divinity. The society has been originated on the basis of social contract only for maintaining peace and morality in human life.

#### **Rousseau**

Like Locke Rousseau has also accepted that man is good by his nature. Though to some extent he has selfishness, he has also benevolence and kindness in his nature. By nature he possesses fearlessness, peace and satisfaction.

There is absence of hatred, aversion and enmity etc. in his life. But due to his competitive life man becomes unable to lead a peaceful life. So in order to enjoy a peaceful life man has organized society on the basis of social contract.

In this way, origin of society on the ground of social contract theory given by Hobbes, Locke and Rousseau shows that human life needs benevolence, kindness, love, affection, equality etc. which symbolize non-violence. It is non-violence which can make the society full of peace and prosperity. The violence can never provide a happy life to society, because man by his nature dislikes disturbance disaster and decay. So human life and society need non-violence in order to be flourished.

### **The Negative form of Social Non-Violence**

It is well-known that prohibition of violence is the negative form of non-violence. So, the negative form of social non-violence is the negation of social violence. The social violence is of different kinds which may be known in the following way.

#### *Disparity of Social Status*

The disparity of social status has various forms and figures, such as -

- (i) The Birth Theory of Hindu Social Organization
- (ii) Male - female Unequality
- (iii) The Dowry System
- (iv) Superiority Complex

Society consists of different classes, castes and creeds. But all classes do not have the same and equal social status. In the Eastern societies as well as in the Western societies people are divided in various classes on their social statuses. In India society is classified on the basis of birth while in the Western countries society has different classes on the basis of colour of people living there.

### **(1) The Birth Theory of Hindu Social Organization**

In the Vedic social organization, which is also named as the Hindu social organization society has been divided into four classes - Brāhmaṇa, Kṣātriya, Vaiśya and Śūdra. They have been originated respectively from head or mouth, arms, thighs and legs of the Parama Puruṣa, according to the Puruṣa Śukta of the R̥ga Veda. Because mouth or head occupies the highest place in body, so the Brāhmaṇa class is placed on the top of social ranking. The Kṣātriya class has the second position in



society because arms are seen in the body on the second level, according to the height of body. The Vaiśya class has the third social position because thighs have the third height in body. The Śūdra class is on the lowest level of social status because legs are the lowest parts of body. The different duties of these classes have been prescribed by the Hindu social thinkers.

(1) The Brāhmaṇa class has to do its six duties -

(a) To perform Yajña, (b) To guide others in performing Yajña, (c) To study, (d) To teach, (e) To take charity and (f) To give charity.

(2) To rule over nation and to provide safety to it are the duties of Kṣatriya class

(3) Agriculture and business have been prescribed as the duties of Vaiśya class.

(4) Services to other three classes have been declared as the duty of Śūdra class.

Bhīṣma Pitāmaha, in the Śāntiparva of the *Mahābhārata*, while discussing the different duties of four varṇas (classes) has said -

“Prajapati (Creator) has created Śūdras only to serve other three classes of society. To be at their services is the supreme duty of Śūdras. They should not try to achieve property. If they earn wealth, that causes sin on their parts. Some Śūdra of religious nature may perform some religious activity being permitted by king. The upper three classes should give to Śūdras their umbrellas, turbans, shoes, fans and clothings which have been already used by them.”<sup>24</sup>

According to ancient social rules -

Śūdras are those who have no right to study.

Śūdras are those who have no right to earn money.

Śūdras are those who have no right to perform any religious activity.

Śūdras are those who are neglected.

Śūdras are those who are tortured by other three classes.

In short Śūdras are those who being human beings do not enjoy any human treatment. They have been being illtreated since primitive

age down to the modern age. How much humiliating it is when Bhīṣma says to give Śūdras those things which are already used by other classes. Just opposite to it Brāhmaṇas as the members of the most superior class are enjoying all facilities available in society. As generally found in the Vedic literature, a Brāhmaṇa remains Brāhmaṇa from his birth to death, though he does whatever right or wrong he likes and a Śūdra remains a Śūdra during his whole life though he follows code of conduct sincerely. There is no provision of change. Goswāmi Tulasi Das has said very frankly -

### **Pūjahuṃ bipra śīla guṇahinā**

That a Brāhmaṇa should be worshiped even if he is without modesty and other moral conduct. In this way, it can be seen, very clearly that in no case a Brāhmaṇa is to be disrespected and Śūdra is to be respected. In the western countries Black-Persons are just like Indian Śūdras. They are neglected by white persons who consider themselves superior to them. The Black-Persons are not allowed to have all facilities which are enjoyed by White-Persons. There are two extremes of social life which result into social-violence.

### **II. The Male-female Unequality**

In Indian society women have been placed on two opposite extremes. On one side they have been honoured as Lakṣmī, Durgā and Saraswatī. Religiously in the forms of goddesses they are addressed before gods as Gauri-Śankara, Śīta-Rām, Rādhā-Kṛṣṇa etc. Even socially they are placed before men as Māta-Pitā. In West-Bengal all women are addressed as Mān in various relations. In Madhya-Pradeśa girls are saluted by their male family members. On different auspicious days they are worshiped. Any religious function performed by husband in the absence of wife is considered as incomplete. In the Śīva temple Śīva-Linga and Gauri Patta are found combined in the same statue which show equal importance of Śīva and Gauri i.e. male and female. There is also a concept of Ardhanārīśvara which is a combined form of Śīva and Pārvatī. Śīva represents man while Pārvatī represents woman. It means human life is a synthesis of male and female elements.

But these all are in vain, when on the other side women are found confined to the kitchen only. After being young they are married with

young men, they beget children, nurish them and cook during whole life by living their original family circles. As if they have been created for marrying, nurshing and cooking. In case of being widower a man marries with some other woman quite freely but an woman being widow is seldom allowed to marry again. According to Satiprathā, which is now no more in practice, a woman was compelled to be burnt with her husband's dead body. An woman is expected to go to her husband's place as bride and to return from there as a dead body. If means she should never return back from her husband's home, though she may have been tortured in any way.

More over in the Vedic tradition women are not permitted to read Vedas. The Vedas are known as pious and perfect wordings of God, which are beyond womanly approach. In the same way woman are not considered worthy to obtain liberation in the Digambar branch of Jainism. According to the Jaina code of conduct a fifty year old nun uses to salute a 25 yrs old monk. A monk is considered to be respected by a nun without any consideration of age, because he a male.

These unequal treatments with women undoubtedly cause social violence which must be removed by paying equal honour to them. They should enjoy all favours and facilities freely and fearlessly because men and women are two pillars on which human life is based. So both of them should be equally supported and strengthened. It is the need of social non-violence.

### **The Dowry System**

The dowry system has been playing a very damaging role in Indian Society. Due to dowry many young girls of marriageable age commit suicide and many brides are being burnt and poisoned. This system has become a curse for society and it is causing violence in different ways.

In its beginning dowry system was playing a good role for the establishment of a new family of newly married couple. All necessary things for the establishment of the new family were being provided to that by both sides of bride and bride-groom. Both sides used to help the new family very happily. But as time passed change came which day by day brought this system in a very wretched form. The bride groom-side

thought about the economic burden of bride and bridegroom, coming on its part for the whole life after marriage ceremony held as well as the inability of bride in earning livelihood. So the bride groom-side began to recover compensatory amount from the bride side and that gave birth to the present dowry system.

Now a days dowry system is being seen in a very destructive form and day by day its awfulness is increasing. Indian government has passed rules against this system but that is mainly on paper not in practice. News papers daily present different news of burning, poisoning and suicide on the bridal parts. Even before marriage several young girls commit suicide when they see their fathers in painful position. The parents of young girls consider themselves as very unfortunate. They sell their paternal properties in order to fulfil the different demands of bridegroom's parents and become helpless and hopeless. In the case of unsatisfactory fulfillment of demands brides are killed directly or indirectly. So the dowry system presents a very - very vulgar form of social violence.

But the non-violence way of removing this disastrous and damaging system may be seen in the following way.

I) Both sons and daughters should be treated equally in all ways. Girls should be educated as well as boys are educated. They should be made able to earn their livelihood themselves. It means girls should not depend on male members of society. They should be ready very courageously to face all problems coming in their lives. But they should never be jealous with the male members of society, rather they should shake their hands with them co-operatively.

II) So far parents are concerned, they proclaim their duties towards own issues in three forms - (a) Nursing them (b) Educating them and (c) Managing their marriages. But as I think dowry system will not come to its end till marriage - management will be in the hands of parents. So after educating their sons and daughters parents should leave them free, so that they may manage their lives according to their own sweet will.

III) After being free from the parental pressure, young boys and girls will arrange their marriage on the basis of love and as a result of

that love-marriage will be popular. Love marriage is seen beyond caste and creed. It is not necessary for a young man to marry with a young girl of his own caste and religion. Even downward marriage (Anuloma Vivāha) and upward marriage (Viloma Vivāha) do not matter in the love-marriage-system. Neither lover nor beloved demands anything from each other. They simply want to be married with each other and to have a pleasant and peaceful life accepted by society. In this way a great problem of society is solved through love marriage. But ordinarily it is said that love-marriage has percentage of success lesser than that of arranged marriage. It is because lover and beloved being attracted by their facial beauty of each other come into contact with and decide to marry. They do not care for economic and social problems. But after being married they have to face with both economic and social problems, which make them weak and they lose their patience. Sometimes they do not tolerate free movements of each other and they disagree to cooperate with each other which results into divorce. So decision of marriage should not be made in haste. After having sound economic footings lover and beloved should marry so that they may enjoy a successful and happy married life.

### **Untouchability**

Untouchability is the worst among all curses prevailing in Indian society. It has been coming from ancient time and is till defaming Indian society. Indian social organization has declared some castes as untouchables. Untouchables are those persons of lower classes who are never considered to be touched. As it has been assigned in the Vedic tradition, even shadow of untouchable person causes sin if somebody touches that. Untouchable persons are not allowed to enter into the village in which so called upper-class-people reside. They can not take water from the well of the high-class-persons. They are ordered to live outside the village in which touchable resides. Though untouchables are men they are never treated as men. This humiliating position presents great social violence. The non-violence way of thinking proclaims that man should be behaved as a man. The untouchables deserve all proper rights and respect suitable for a healthy and happy human life.

### Superiority Complex

In society many persons suffer from superiority complex. They want to be honoured by others though they themselves do not like to respect them. Every where they try to enjoy privileges more than other people. This creates envy and anger in the hearts of those persons who are treated as inferiors. The so-called inferior persons do not want to be disrespected in any way. They oppose ill-treatments done by superior fellows and this results into quarrel and crime. The clash between superior class (Savarn) and inferior class (Nimnavarna) of Bihar has been coming from many years back and has disturbed the whole society. But for the proper social development a society needs peace which may be attained through equal behaviour with one another.

### Some other Elements of Social Violence

There are also some elements other than the elements discussed above, of social violence which may be known in the following way -

#### 1) Negligence on Family Level

In the ancient Indian society mother and father were being respected as goddess and god respectively.

**Mātṛdevo Bhava**

**Pitṛdevo Bhava**

That mother is goddess and father is god. The word 'deva' means that one who gives. A mother gives birth of her child by keeping him in her womb for nine months. She nourishes him by giving milk of her breast. She washes his all dirt till he does not become able to do that himself. During her whole life she worships different gods and goddesses for the cause of the prosperity of her issue. In no time and place she wants any harm to him. So it has been said -

#### **Putrokuputrojāyate, Mātā Kumātā na bhavati**

That a son may be of ill-behaviour but a mother may never be so:

Father plays almost the same role in the life of his issue. He labours hard to attain all means of his family pleasures. He tries his level best to provide healthy foodings and wealthy clothings to his family members. He manages to educate his sons and daughters well. When issues become young, parent arrange their suitable marriages and earning sources so

that they may lead their lives happily. Socially, these things have been considered as loans of parent on the parts of issues.

### **Mātr̥ṇa and Pit̥r̥ṇa**

These loans are expected to be returned by issues when they respect their parents and fulfill their all necessities of old age. But what to talk of respect and recovery of loans, issues do not care for their parent's proper life. In the modern society 99% parents are being neglected and ill-treated. They are unwanted guests. The unwanted guest is called as guest outwardly but inwardly his arrival is felt painful. The hoast, in stead of paying proper respect to him, wants and tries to remove him from his door. In the same way, these days old-parents are invited formally and outwardly but are disliked and disgusted informally and inwardly. Parents are badly criticised for what they have not done, but they are never praised for what they have done. They always try their level best to do what ever they can, for the betterment of their issues but they are ever condemned. It is almost impossible for old parents to adjust in their own families. If I am not wrong, **a Śudra in Hindu society and an old man in his family have the same status because both are weak, neglected and negated.** As negligence towards Śudra causes violence in the society, in the same way, negligence towards old persons results into social violence.

Young people should not be ungrateful to the old persons of their families. It is old persons who have made them young by facing different troubles. Old persons have both legal and moral rights in their families though due to their age they become weak and dependents. They deserve all respects and regards from their issues. If young persons neglect the old persons of their families indirectly they invite the future negligence on their own parts because their own issues will also follow the same way of behaviour.

### **Intensity of Ambition**

Ambition is one of the constituents of human nature. Therefore everybody has his own ambition which inspires him to do all the best he can, in order to fulfil it. Ambition makes a man active and labourious. Without ambition life becomes meaningless. It is ambition which makes a man poet, singer, scientist, philosopher, politician etc. Though ambition

is boon for life, it becomes curse when its intensity crosses the proper limitation. A man who is over ambitious likes to achieve his ambition by any way right or wrong. He does not care for social and moral rules. Any how, he desires to obtain his goal. If he works in some office, he wants to occupy the highest chair by surpassing his all seniors. His intensity of ambition compels him to do which is neither social nor moral. He wants to remove from his path, those persons whom he considers hurdles on it. Sometimes he even kills his competitors. So the intensity of ambition causes different types of violence in society.

But according to the theory of social non-violence, no body should be over-ambitious so that he may scape from different criminal activities and have a peaceful life.

### **The Positive form of Social Non-Violence**

The positive form of social non-violence may be discussed in the following way.

- (i) The Karma Theory of Social Organization
- (ii) Home for Homless
- (iii) Help to Handicaps
- (iv) Service to those who are suffering from the so called incurable diseases like leprosy etc.
- (v) Socializior: of Prostitutes

### **1) The Karma Theory of Social Organization**

The Karma theory of social organization brings equality in society. The society in which Karma theory is followed question of superior and inferior does not arise. All enjoy social honour according to the duties or activities they do. No body has any grievance against other people. So in the Vedic tradion Kṛṣṇa has propounded in Śrimadbhagavadgīta.

**“Cāturvarṇyam mayā sṛṣṭam guṇakaramavibhāgaśaḥ”**

It means four Varnas have been created by Him (Kṛṣṇa) on the basis of qualities or abilities (Guṇa) and activities (Karma) done.

In the Jaina tradition Ācārya Jinasena has asserted in his famous work Ādi Purāna, that all human beings have been originated due to the rise of Jāti-Nāma-Karma and they have accepted different businesses



for their livelihood. According to their functions they are known as Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra. The persons interested in religious activities are known as Brāhmaṇas. Those who are interested in arms are kṣatriyas. The people doing agriculture and business i.e. money making are Vaiśyas. The persons interested in other activities necessary for a proper human life are addressed as Śūdras.<sup>25</sup> In the *Uttarādhyayana-sūtra*, while supporting the karma theory of social organization, it has been stated that a man is known Brāhmaṇa or Kṣatriya or Vaiśya or Śūdra according to the activity he does.<sup>26</sup> Even Harkesi an issue of a criminal (cāndāla) becomes saint (Muni) by doing good karmas (Sukarms). In the *Varāṅga Carīta* also, in the favour of the kama theory, it has been advocated that it is action or karma which puts a man in a particular class<sup>27</sup> Abhidhāna Rājendra also supports the Karma theory by asserting that all persons have been originated through the same organ of origination, so how can they be put in different classes .<sup>28</sup>

In the Buddhist tradition also theory of Karma has been supported. As it has been mentioned in the *Mahāvastu*<sup>29</sup> and *Aggajjasanta* there was no class in the society in ancient time<sup>30</sup> Buddha has declared very boldly.

### “Saba Jāti Vihino”<sup>31</sup>

It means all are without class (Jāti). If there is any class or caste that is only a Human class (Mānavajāti). Except this there is no class at all.<sup>32</sup> All have thighs, nails flesh, backs. All feel pleasure and pain in the same way. All have five senses. Birds differ from one another, animals have also difference among themselves. But human beings do not differ bodily.<sup>33</sup> In the *Vajrasūci* also there has been stated.

### “Ekeva Jāti”

It means there is only one caste or class. If there is any class that is only due to Karma. A Brāhmaṇa may be known as Brāhmaṇa on the basis of his deed (Karma) In the same way, due to his activities a person may be categorized in lower class.<sup>34</sup> By birth no body is either Brāhmaṇ or man of lower class.<sup>35</sup> Buddha has said that children imagine milk, curd, meat, ghee etc. of the dust lying by the side of road, in the same way due to the lack of the wisdom people imagined different classes of human beings, while actually there is no class except human class.<sup>36</sup>

The karma theory of social organization has been analysed and supported strongly by contemporary Indian social philosophers like Mahatma Gandhi. Dr. Bhagawan Das, Ācārya Narendradeva etc.

Mahātmā Gāndhī in his social philosophy has discussed social class-division under following headings -

**Varṇa** - The word 'Varṇa' means to select (Varana). A man is free to select his business though he is bound to be born in some caste and creed. So he should be treated according to his activity or business. If a man taking birth in Brāhmana varṇa does not practise the conduct prescribed for him, he should never be honoured as a Brāhmana. On the other hand if a man of Śūdra varṇa possesses moral conduct, he should never be disrespected on the cause of his birth. It is only theory of kama which can bring equality, in the society and equality represents non-violence.

#### **Four Varṇas in one family**

As Mahātmā Gāndhī has asserted four varṇas - Brāhmana, Kṣātriya, Vaiśya and Śūdra may be seen in one family. In the same family there is found a teacher who teaches in some school or college, like a Brāhmana whose main duty is to teach. The second man of the same family who is strong and stout protects his family from different calamities coming to it, like a Kṣātriya. The third man of the family is found doing agriculture and business as Vaiśyas do. The fourth man sweeps dirt and dust for keeping the residence neat and clean, which has been prescribed as the duty of a Śūdra. So in the same family Brāhman Kṣātriya, Vaiśya and Śūdra live lovingly and harmoniously, without any difference and division. They sit together, have their meals together without any hesitation. So in the society also all should live friendly and freely.

#### **Four Varṇas in one man**

Mahātmā Gāndhī has shown that four varṇas may be seen in one man. All persons have heads which symboise Brāhmana because teaching is one of the duties of Brāhmana which is done through head. All men have arms which protect themselves from attacks done by other persons. To provide protection to society is the duty of Kṣātriya. All persons eat corn, fruit, vegetables etc. which are produced through

agriculture and it is one of the duties of Vaiśya. All persons clean their bodies themselves. Cleaning is the duty of Śūdra. This is why all varṇas are found in the same man who cares equally all the parts of his body. He does not want even a single organ of his body to be troubled. He loves all parts of his body, in the same way in the society also all varṇas should be treated equally.

### **Harijan**

According to Mahātmā Gāndhī all persons living in society are Harijanas, so there is no question of social disparity as untouchability. The word 'Harijan' consists of two words - Hari and Jana. Hari means God and Jana means people of God because they have been created by God. If all persons of different varṇas have been created by God and all are equal and Harijans, there should be no disparity among them. Hari and Jan are not new words, they have been coming from ancient time but interpretation of their combined form is undoubtedly a new one and very suitable to solve the problem of social violence.

### **Dr. Bhagwān Dāsa**

Dr. Bhagawān Dāsa one of the contemporary Indian philosophers has interpreted ancient theory of Hindu social organization in a new way. In his book *The Science of Social Organization* he has inspired people to establish social organization full of justice, equality and happiness. He has opposed the class struggle theory of Karl Max and has propounded the *Theory of Class - Collaboration* for which he has accepted theory of *Psycho-Synthesis* not the theory of *Psycho Analysis*. He has given new meanings to Āśramas the four stages of individual life, because society is the organized form of individuals who lead Āśrama life.

i) **Brahmacarya Āśrama** - Brahmacarya Āśrama is the place where physical development is attained.

ii) **Gārhasthyāśrama** - It is the place for emotional satisfaction, because after returning back from Brahmacaryāśrama the young man marries with some suitable bride and leads a happy emotional life.

iii) **Vānaprasthāśrama** - In this āśrama a man leads his life intellectually.

**iv) Saṁnyāsāśrama** - This is the place for spiritual life.

Dr. Bhagwan Das has said that āśramas are to train persons in order to be good and retrained members of society, so that it may possess a harmonious life full of peace and non-violence.

The division of society in the forms of varṇas is for the development of social life. It is not concerned with caste and creed. Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra are respectively classes of teachers, rulers, nourishers and workers. In its beginning this social classification was fully depended on karma, but as time passed it began to deteriorate and lastly came to be based on birth, which is now resulting into social violences. But really varṇa-vyavasthā is based on psychological characteristics of human beings. It is not only social, but scientific also. All want to work according to their capabilities. So these classes represent respectively the spiritual, intellectual, emotional and physical nature of human beings.

### **Ācārya Narendra Deva**

Ācārya Narendra Deva the father of Indian Socialism has asserted that caste system is a curse for Indian society. Though it has been coming from ancient time, it is not according to place and time. Due to this system Indian society is becoming weak day by day. To strengthen the society, equality among individuals living in it is necessary. The society should be classless, because it causes equality. The caste system creates division of society which make it weak and a weak society cannot defend itself from any calamity. It cannot protect its freedom. They are not worthy to be the citizens who treat human beings as Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra, not as men.

### **Home for Homeless**

To manage home for homeless is one of the positive forms of social non-violence. The homeless persons found in society may be classified as -

- i) Illegal Children
- ii) Beggars
- iii) Totally Neglected Old Persons
- iv) Divorced Women
- v) Mentally Disordered Persons

### **i) Illegal Children**

Human beings are mainly found in two forms—man and woman or male and female. A man is a male first and after that he is either a monk or a householder, or a teacher or a father or a brother or a friend etc. In the same way an woman is a female first and after that she is either a nun or a family wife, or a mother or a sister etc. The sexual desire is the strongest one among all desires of human beings. All persons either male or female have sexual desire. Though the sexual desire is too strong it is not to be satisfied easily and openly like other desires. Socially and morally, marriage provides legal way to satisfy the sexual demands. Society allows husband and wife to satisfy their sexual desires co-operatively. This is the legal way for having sexual satisfaction. But due to intensity of sexual presser people do not care for any legality or illegality and they get themselves indulged with men or women other than their life-partners. As a result of that women get themselves pregnant and after maturity of pregnancy they beget children who are known as illegal children. The unfortunate illegal children are ordinarily killed or thrown here and there in some lonely places, due to the social illegality. The children cannot be blamed for the illegality committed by their parents. But, somehow or other they remain alive, they become homeless and poor. So it is the duty of a society to provide them proper shelter and nourishment. All people have right to live in this world and it does not matter whether some one is born legally or illegally. In this concern an organization named S.O.S. (Save Our Souls) established by Mr. Norman is working in different countries very successfully. In Varanasi also it has its branch in which illegal children are collected from different places and they are nourished and educated up to the marriageable age. They are left free to live their lives according to their own will when they become able to earn their livelihood.

### **ii) Beggars**

In India begging is very popular. In the Vedic tradition Bramacarya Āśrama and Sanyāsāśrama have been authorized to depend on begging. Taking charity and giving charity have been prescribed as the duties of Brāhmaṇa varṇa. In the Jaina and Buddhist traditions also monks and nuns depend on begging. So, theoretically these social organization have been inspiring begging from ancient time up to the

modern period in Indian society. Monks and nuns proclaim their right to take food and other necessary things from householders. Brāhmaṇas also take charities from other varṇas on different occasions.

But real beggars are those who are poor and pover. They do not claim any right of having help from rich persons. They request householders very humbly to give something. Their skeleton like bodies and dirty clothings show that they have been tortured badly by the pangs of poverty. Mahāprāna Nirālā has described a beggar in these lines.

Vaha Ātā patha para pacchatātā

Vaha Ātā

Hain sate pītha se peta,

Calarahā lakutiya teka

Muṭhībhara dāne ko, bhūkha mitāne ko

Vaha ātā patha para pachatāta, Vaha ātā.

This type of beggars need some shelters to stay, some breads to remove hunger and some clothings to cover bodies. The non-violence does not lies in fulfilling the demands of those persons who claim begging as their right but it lies in helping those poor people whom society has given neither right nor regard. The society should manage their proper residences and training centres so that after being trained they may earn their livelihood, and be free from begging.

### iii) Totally neglected Old-Persons

Sometimes old parents are totally neglected and deserted by the young fellows of their families. Young sons and daughters-in-law consider the old persons as disturbing elements in their family affairs. They do not want to see them in their own residences. They like to enjoy a free life, which is sometimes disliked by the old parents and that results into family clash. This is why parents also do not want to stay with their children. But problem arises - where and how to pass life. They pass their time under open sky and become homeless. Therefore from the view point of positive form of social-non-violence the society should provide proper home to the old and neglected persons so that they may enjoy their old-life peacefully.

#### iv) Divorced Women

A lady, after being divorced by her husband, is forced to face many social problems. She gets out of her husband's home. Sometimes her parent give her shelter in their house but sometime they also hesitate to keep her in their own family. Thus she becomes homeless which undoubtedly creates a harmful position for her. A lady without home and husband becomes very weak and comes into the clutch of unsocial elements which causes her to be spoiled. Therefore the non-violence way of living includes divorced women in class of homeless persons whom home should be provided.

#### v) Mentally Disordered Persons

Human life is full of sufferings Lord Buddha has propounded -

**‘Sarvaṃ Dukhaṃ’**

All things are painful. Every where there is suffering. The courageous persons face different problems coming to them and try to be free from them. But those who are mentally weak, do not tolerate troubles in their life and they are disturbed and disordered. After being mentally disordered they leave their own residences and roam here and there. They reach at those places which are quite unfamiliar to them. They being ill-treated by unknown persons come in much trouble. They become problems for their families and society. They become homeless and hopeless also. Though government has established Mental-Hospitals, public should also try to keep the mentally disordered persons in some hospital or home for homeless.

#### Help to Handicaps

The people who lack physical or mental fitness are known as handicaps. The blind, deaf, dumb, dull, mentally retarded, lame etc. are put in the class of handicaps. They need help from those who are normally fit. The handicaps have the same likings and dislikings which belong to human nature. They want to see, to sing, to play, to run etc. and to enjoy the life pleasantly but they find themselves unable to satisfy their own desires. They feel the abnormalities of their personalities. Some persons are found handicaps by their births while some others become handicaps due to diseases and accidents. Whatever may be the causes of inabilities

found in the handicaps but they may be removed if not fully, partly also. They may be helped by providing them artificial parts of body made in different factories.

The handicaps need not only artificial parts of body and instruments but also the soft corners of hearts and smiling faces of normal persons, so that their inabilities may be changed in abilities. They should be loved and respected.

### **Service to those who are suffering from so called incurable disease like leprosy**

About 50 yrs ago T.B. was being considered an incurable disease. So generally persons suffering from T.B. were being kept in the outer parts of residential buildings. But now medical science has proved it curable and people do not fear from it as before. The leprosy is normally considered as incurable disease, moreover it causes deformation of fingers and face, which gives an unnatural look. So normal people do not want to accompany with lepers. But they cannot be blamed for the disease they suffering from. The medical science has proved it also curable. So proper treatments should be given to lepers and they should never be behaved as sinners. They have right to live a pleasant social life. They should never be hated. It is duty of society to pay them proper social services they need. Mahātmā Gāndhī has paid special attention to lepers and their social life.

Cancer and Aids have now become the symbols of death. They are so fearful that as someone is declared as sufferer of any one of these two diseases he partly dies, if not fully. But these diseases are not infectious. So healthy persons should give their service to the persons suffering from these diseases. The physical and moral supports must be given to them.

### **Socialization of Prostitutes**

So far my knowledge goes, prostitution, in some way or other, has been spread all over the world. Generally prostitutes are known as ladies, but it is wonderful that in few countries where number of males is too shorter than that of females, gents act as prostitutes. In India prostitutes may be divided in three classes.



- i) Those who are mainly interested in singing songs
- ii) Those who are interested in both singing and sexual business.
- iii) Those who are indulged in sexual business only.

Prostitution consists of two types of exploitation.

- i) Sex Exploitation
- ii) Economic Exploitation

Often rich persons being attracted by the outward makeup of prostitutes pay their fixed charges and get the sexual demands satisfied. This is the sex-exploitation. But prostitutes, after knowing the economic capabilities of their customers begin to exploit them and make them poor and penniless. This is economic exploitation of a society which makes it weak. Though the wealthy persons have sexual enjoyment with beautiful and young prostitutes they never want to marry with them. This is the misfortune of prostitutes which makes their lives hopeless and helpless. In the old age they find nobody to look after them. So in order to get their livelihood they either purchase some girls from their poor parents or cheat some young girls and after giving them training according to their own business get their business continued.

Sometimes prostitutes want to be free from their humiliating lives to have normal social life but they fail because -

- i) No body wants to marry with a prostitute, though several persons like to enjoy with her.
- ii) For a prostitute no room is found available in some village or some colony of a city. His near about, no person wants to see her.
- iii) They are seen not capable for earning their livelihood through other businesses popular in societies.

But for a good society prostitution is curse. It should be removed by the socialization of prostitutes. They should be taught and trained so that they may be self dependents for earning their livelihood. The young persons should be inspired to marry with those prostitutes who want to have normal social life. If prostitutes are enjoyed illegally and unsocially, what sort of drawback lies in marrying and enjoying with them legally and socially. For being prostitutes, only they cannot be blamed. Even

the rich persons of society who lead luxurious life may be considered responsible for this unsocial activity. If rich persons who participate in prostitution, are permitted to live unhesitatingly in society, on what basis prostitutes should be got out of society. On humanitarian ground they also be allowed to live in common society if they leave their sex business. The theory of non-violence prescribes equal treatment to all.

**References :**

1. Quoted in *Samāja Darśana Kī Bhūmikā*, Dr. J.S. Shrivastava, p.25.
2. J.L. Gillin, *The ways of Men*, p. 340.
3. *Tattvārtha sūtra*, Umāswāti, chapter - 5.
4. *Leviathan*, Part I, chapter - 14, p. 190.
5. Ibid.
6. Ibid, Part I, chapter - 15, p. 202.
7. Ibid, p. 209.
8. Ibid, p. 209.
9. Ibid, p. 210.
10. Ibid.
11. Ibid, p. 211.
12. Ibid, p. 211.
13. Ibid, p. 211.
14. Ibid, p. 212.
15. Ibid, p. 212.
16. Ibid, p. 213.
17. Ibid.
18. Ibid.
19. Ibid.
20. Ibid.
21. Ibid, Part I, chapter - 15, p. 214.
22. Ibid.
23. Ibid.
24. Prajāpatirhi varṇānām dāsaṁ śūdramakalpyat |  
Tasmācchūdrasya varṇānām paricaryā vidhīyate ||28||  
Saṁcayāṁśca na kurvīta jātu śūdraḥ katharīcana |  
Pāpīyaṁ hi dhanāmlabdhvā vaśe kuryād garīyasaḥ ||30||  
Avaśyaṁ bharaṇīyo hi varṇānām śūdra ucayate |  
Chatraṁ veṣṭanamauśiramupānad vyajanāni ca ||32||  
Yātayāmāni deyaṇi śūdrāya paricāriṇe |  
Adhāryāṇi viśīrṇāni vasaṇāni dvijātibhiḥ ||33||  
Śūdrāyaiva pradēyaṇi tasya dharmadhanam hi tat ||34 ab  
*Mahābhārata, Śānti Parva - 60.*
25. *Ādipurāṇa, Parva* 38, 45-46.
26. *Utrādhyaṇsūtra*, 25/33.

27. *Dharma Parikṣā*, Pariccheda 167, 24-25, 31-33, *Varāṅga Carita*, 25, 2-11.
28. *Abhidhāna Rājendra*, Part - 4, p. 1441.
29. *Mahāvastu*, 1, p. 358-352.
30. *Majjhima Nikāya*, 3, p. 77-94.
31. *Divyāvadāna* 312.12, *Khuddaka Nikāya*, 1.127, 15-25.
32. Ekeva jātiloke asmina samye na pṛthagvidal. *Divyāvadāna*, 323-24.
33. *Ibid*, 327. 27-30.
34. Na jaccā basalo hoti na jaccā hoti Bāhmaṇo.  
Kammanā basalo hoti kammanā hoti Bāhmaṇo.
35. *Khuddaka Nikāya*, Part - I, 290 - 5 - 7.
36. *Divyāvadāna*, 324. 11-14.



## विद्यापीठ के प्रांगण में

### पाण्डुलिपियों के परिरक्षण एवं संरक्षण विषयक कार्यशाला सम्पन्न

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में राष्ट्रीय अभिलेखागार (National Archives) भारत सरकार नई दिल्ली के सहयोग से पांचदिवसीय पाण्डुलिपि परिरक्षण एवं संरक्षण विषयक कार्यशाला २२ फरवरी से प्रारम्भ हुई। कार्यशाला के उद्घाटन के अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए महात्मागांधी काशी विद्यापीठ के कुलपति प्रो० सुरेन्द्र सिंह ने कहा कि पाण्डुलिपियों के माध्यम से ही समाज की पहचान और उसके अतीत को रेखांकित किया जा सकता है। तत्कालीन समाज के विविध आयामों से पाण्डुलिपियां ही परिचित कराती हैं। विविध विषयों के विशेषज्ञों को मिल कर प्राचीन ज्ञान धरोहरों को उनके मौलिक रूप में संरक्षित करने के लिये कदम उठाना चाहिए। इस अवसर पर राष्ट्रीय अभिलेखागार की वैज्ञानिक अधिकारी डॉ० यशोधरा जोशी; सहायक रसायन अधिकारी डॉ० सुतापा चक्रवर्ती, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद संकाय के पूर्व प्रमुख प्रो० ज्योति मित्रा; शिलांग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० जे०पी० सिंह; कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रो० सुदर्शनलाल जैन और विश्व संस्कृत प्रतिष्ठानम् की अध्यक्ष महाराजकुमारी कृष्णाप्रिया ने विचार व्यक्त किये। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने आगन्तुक अतिथियों एवं कार्यशाला में भाग ले रहे प्रशिक्षुओं का स्वागत करते हुए पाण्डुलिपियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला।

पांच दिन चली इस कार्यशाला में वाराणसी, गोरखपुर एवं आस-पास के ५० प्रशिक्षुओं ने भाग लिया। २६ फरवरी को कार्यशाला के समापन के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अवकाशप्राप्त न्यायाधीश श्री गणेशदत्त दुबे ने मुख्य अतिथि के पद से बोलते हुए कहा कि पाण्डुलिपियों के कारण हम अतीत के हर पहलू से जुड़े हुए हैं। अभिलेख, ताम्रपत्र, भोजपत्र आदि अपने-अपने समय के सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। इस लिये इनका संरक्षण आवश्यक है। महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० अमरनाथ पाण्डेय ने कहा कि मैक्समूलर ने वेदों का सम्पादन करने से पूर्व पांच वर्ष तक केवल पाण्डुलिपियों का संग्रह किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने पांच दिन तक चले प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संक्षिप्त

विवरण प्रस्तुत किया। अन्त में ४५ प्रतिभागियों को प्रमाण पत्र वितरित किया गया। ज्ञातव्य है कि आगन्तुक सभी प्रशिक्षुओं के भोजन एवं आवास की सुन्दर व्यवस्था पार्श्वनाथ विद्यापीठ में की गयी थी।

इस अवसर पर प्रतिभागियों ने भी अपने विचार व्यक्त किये। कार्यक्रम का संचालन डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं धन्यवाद ज्ञापन डॉ० विजयकुमार ने किया।

### **पार्श्वनाथ विद्यापीठ में पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का आयोजन**

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने “श्रमण परम्परा - जैन विद्या अध्ययन” विषय पर २१ दिवसीय पुनश्चर्या पाठ्यक्रम आयोजन किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रायोजित-इस पाठ्यक्रम की तिथि २० अक्टूबर २००४ से ५ नवम्बर २००४ निर्धारित की गयी है।

विश्वविद्यालय अथवा मान्यता प्राप्त महाविद्यालयों के वे शिक्षक, जिन्होंने एक ओरियण्टेशन कोर्स पूर्ण कर लिया है अथवा अपनी नियमित सेवा के दो वर्ष पूर्ण कर लिये हैं, इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने के पात्र होंगे। इतिहास (प्राचीन इतिहास एवं कला इतिहास भी), दर्शनशास्त्र, संस्कृत, पालि एवं बौद्ध अध्ययन तथा प्राकृत एवं जैन विद्या अध्ययन के शिक्षक इस पुनश्चर्या पाठ्यक्रम से लाभ उठा सकते हैं।

पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने वाले अभ्यर्थियों का पंजीकरण शुल्क ५००/- रुपये है। भोजन और आवास की व्यवस्था पार्श्वनाथ विद्यापीठ में होगी। इच्छुक व्यक्ति निम्न पते पर सम्पर्क करें -

#### **निदेशक**

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई०टी०आई० रोड, करौंदी

पो०- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी- २२१ ००५

ज्ञातव्य है कि विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों के अध्यापकों की पदोन्नति के लिये पुनश्चर्या कार्यक्रमों में सम्मिलित होना अनिवार्य है।



## जैन जगत

### कर्मयोगी हजारीमल जी बांठिया का महाप्रयाण

सफल उद्योगपति, कुशल व्यापारी, विख्यात समाजसेवी, साहित्य-रसिक, पुरातत्व प्रेमी, लोकप्रिय जननेता, सर्वधर्मसमभाव के जीवन्त प्रतीक और राजस्थानी समाज के अप्रिमत व्यक्तित्व हजारीमलजी बांठिया का ८० वर्ष की आयु में कम्पिल के निकट हृदयाघात से निधन हो गया। आपका अंतिम संस्कार १६ फरवरी को वहीं कम्पिल स्थित अहिंसा कीर्ति स्तम्भ परिसर में सम्पन्न हुआ। आपके परिवार में आपकी पत्नी, चार पुत्र और दो पुत्रियां हैं।

बीकानेर (राजस्थान) में २४ सितम्बर १९२४ ई० को जन्मे बांठिया जी की रुचि बाल्यकाल से ही सामाजिक और साहित्यिक कार्यों की ओर थी। इसमें उन्हें अपने निकटतम सम्बन्धी स्वनामधन्य अगरचन्दजी नाहटा और भंवरलाल जी नाहटा से निरन्तर प्रेरणा मिलती रही। एक सामान्य गृहस्थ के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ कर बांठिया जी उन्नति के शिखर पर पहुंचे जहां उन्हें विकास पुरुष के रूप में जाना गया। अपने व्यवहार कौशल, व्यापारिक निपुणता और मानवीय सद्गुणों के बल पर आपने समाज के समक्ष एक उच्च आदर्श उपस्थित किया।

साहित्य के प्रति अगाध निष्ठा और इतिहास व प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी विशिष्ट रुचि के कारण बांठिया जी ने १९७८ में **काम्पिल्य महोत्सव** का आयोजन कर उसके प्राचीन गौरव की ओर विद्वानों एवं जनमानस का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने पंचाल शोध संस्थान की स्थापना कर देश के प्रमुख इतिहासज्ञों को इससे जोड़ा। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी ने आजीवन इस संस्थान के अध्यक्ष की भूमिका निभाई। इस संस्थान द्वारा प्रकाशित होने वाली पत्रिका **पंचाल** का प्रत्येक अंक अपने आप में अपूर्व रहा है। देश-विदेश के विद्वानों ने इसमें प्रकाशित आलेखों की प्रशंसा की है। व्यतिगत सम्बन्धों के कारण बांठिया जी ने देश के प्रमुख विद्वानों को उक्त संस्था से जोड़ा एवं साथ ही साथ इस क्षेत्र में छात्रों को निरन्तर प्रोत्साहन और सभी प्रकार से सहयोग प्रदान कर उन्हें एक प्रतिष्ठित विद्वान् बनाने में अपना अपूर्व योगदान दिया। बांठिया जी देश की अनेक सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक संस्थाओं से सक्रिय रूप से जुड़े रहे। सुप्रसिद्ध भाषाविद, इटली निवासी डॉ० एल०पी० टेस्सीटोरी और जैन साहित्य विशारदा जर्मन विदुषी डॉ० शालोटे क्राउजे के

साहित्यावदान से समाज को अवगत कराने में उन्होंने अद्वितीय भूमिका निभाई। बाँठिया जी ने बीकानेर स्थित डॉ० टेस्सीटोरी के विस्मृत समाधि स्थल की न केवल खोज की बल्कि उसे एक दर्शनीय स्थल के रूप में परिणित कराने में अपूर्व भूमिका निभाते हुए एक विदेशी भारतीय भाषाविद् को देश की ओर से सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की।

बाँठिया जी द्वारा स्थापित सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं को जीवन्त बनाये रखते हुए उनके कार्यों को आगे बढ़ाना ही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

### प्रो० प्रेमसुमन जैन का भव्य अभिनन्दन

**उदयपुर ३१ जनवरी :** जैन धर्म-दर्शन तथा प्राकृत भाषा और साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० प्रेमसुमन जैन के सम्मान में मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के एम०बी०ए० महाविद्यालय के सभागार में ३१ जनवरी २००४ को एक भव्य अभिनन्दन समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ 'पाहुड' भी भेंट किया गया। इस ग्रन्थ का लोकार्पण समारोह के मुख्य अतिथि कारलेटन विश्वविद्यालय, कनाडा के प्रो० जगमोहन हुमड़ ने किया।

### हरिद्वार में संक्रान्ति महोत्सव सम्पन्न

**हरिद्वार १४ मार्च :** श्री आत्म-वल्लभ-समुद्र-इन्द्र पाट परम्परा के वर्तमान गच्छाधिपति पूज्य आचार्य श्री विजय रत्नाकर सूरि जी महाराज ठाणा ३ एवं साध्वी श्री रक्षितप्रज्ञा जी म०सा० ठाणा २ की पावन निश्रा में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ हरिद्वार की पुण्य भूमि पर संक्रान्ति महोत्सव का भव्य कार्यक्रम हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर देश के विभिन्न भागों से बड़ी संख्या में पधारें हुए भक्तजन उपस्थित थे।

### भगवान् महावीर फाउन्डेशन, चेन्नई द्वारा जैन धर्म की उत्कृष्ट पुस्तकों पर राष्ट्रीय पुरस्कार २००३ घोषित

भगवान् महावीर के २६००वें जन्म शताब्दी वर्ष महोत्सव के अवसर पर भगवान् महावीर फाउन्डेशन, चेन्नई द्वारा जैन धर्म-दर्शन की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक पर राष्ट्रीय पुरस्कार प्रतियोगिता २००३ आयोजित की गयी थी। देश भर से प्राप्त जैन धर्म-दर्शन की पुस्तकों में से विद्वत् मंडल की संस्तुति के अनुसार निम्नलिखित पुस्तकों को पुरस्कृत किया गया है -

(क) हिन्दी कृति -

**जैन धर्म की सांस्कृतिक विरासत**

- प्रोफेसर डॉ० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर (राज०)

(ख) अंग्रेजी कृति -

**JAINISM : A way to Peace, Happiness & Social well being**

- डॉ० जगदीश प्रसाद जैन, (अध्यक्ष - जैन मिशन) दिल्ली

इन पुस्तकों में जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज, जीवनशैली एवं कला का आधुनिक युग के सन्दर्भ में उपर्युक्त मनीषी लेखकों ने सुबोध शैली में प्रामाणिक विवेचन किया है। इनके प्रकाशन से एक ही स्थान पर जैन संस्कृति की प्रामाणिक जानकारी जिज्ञासु पाठकों को मिल सकेगी।

इन दोनों विद्वानों को इस पुरस्कार के अन्तर्गत प्रत्येक को इक्यावन हजार (५१०००/-) रुपये की राशि के साथ प्रशस्ति-पत्र एवं स्मृतिचिन्ह आदि फाउण्डेशन द्वारा चेन्नई में आयोजित एक भव्य समारोह में प्रदान किये जायेंगे। इन दोनों पुस्तकों का प्रकाशन भी फाउण्डेशन के सहयोग से शीघ्र किया जायेगा।

**आचार्य हेमचन्द्रसूरि पुरस्कार - २००३**

भोगीलाल लहेरचन्द प्राच्य विद्या संस्थान गत आठ वर्षों से उपर्युक्त पुरस्कार से जैन शोध कार्य में संलग्न विद्वानों को पुरस्कृत करता आ रहा है। पुरस्कार की स्थापना सर्वश्री जसवन्त धर्मार्थ ट्रस्ट ने की है। चयन समिति जिस विद्वान् का चयन करती है उन्हें एतदर्थ आयोजित समारोह में इक्यावन हजार रुपये तथा आचार्य हेमचंद्रसूरि की स्वर्ण-भूषित प्रतिमा भेंट की जाती है।

इस वर्ष चयन समिति ने इस पुरस्कार के लिए जर्मन विद्वान् प्रो० विलियम वी० बोली को चुना है। प्राकृत भाषा तथा जैन साहित्य पर प्रो० बोली की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं।

पुरस्कार समारोह जून २००४ के मध्य (संभावित तिथि १३.६.२००४) आयोजित किया जा रहा है। गत वर्षों में अधोलिखित विद्वानों को इस पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है :-

- |                          |        |
|--------------------------|--------|
| १. प्रो० एच०सी० भयाणी    | - १९९५ |
| २. प्रो० एम०ए० ढांकी     | - १९९६ |
| ३. प्रो० बी०एम० कुलकर्णी | - १९९७ |
| ४. प्रो० ए०एम० घाटगे     | - १९९८ |
| ५. प्रो० एस०आर० बैनर्जी  | - १९९९ |
| ६. श्री लक्ष्मणभाई भोजक  | - २००० |
| ७. प्रो० जी०वी० टगारे    | - २००१ |
| ८. प्रो० नगीन जे० शाह    | - २००२ |



## श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार एवं सराक पुरस्कार २००३ की घोषणा

सराकोद्धारक संत, उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ द्वारा वर्ष २००२ तक ३१ विद्वानों का जैन विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में दिये गये उत्कृष्ट योगदान हेतु सम्मान किया जा चुका है। श्रुत संवर्द्धन पुरस्कारों के अन्तर्गत प्रत्येक पुरस्कार में रु० ३१,०००/- की सम्मान राशि एवं सराक पुरस्कार हेतु रु० २५,०००/- की राशि, शाल, श्रीफल, प्रशस्ति पत्र प्रदान कर चयनित समाज सेवी का सम्मान किया जाता है। श्रुत संवर्द्धन संस्थान द्वारा वर्ष २००३ हेतु निम्नवत् पुरस्कारों की घोषणा की गई है -

१. **आचार्य शांतिसागर (छाणी) स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - २००३**  
(आगामिक ज्ञान के संरक्षण हेतु)  
**डा० शीतल चन्द्र जैन, ८१/९४, नीलगिरि मार्ग, मानसरोवर, जयपुर**
२. **आचार्य सूर्यसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - २००३**  
(जिनवाणी की प्रभावना हेतु)  
**श्री नीरज जैन, 'शांति सदन', सुषमा प्रेस, सतना**
३. **आचार्य सुमतिसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - २००३**  
(जैन पत्रकारिता के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान हेतु)  
**श्री शैलेष डाह्याभाई कापड़िया, गांधी चौक, सूरत**
४. **आचार्य सुमतिसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार- २००३**  
(जैन विद्याओं के पारम्परिक अध्ययन/अनुसंधान के क्षेत्र में समग्र योगदान हेतु)  
**डा० रमेश चन्द्र जैन, जैन मंदिर के पास, बिजनौर**
५. **मुनि वर्द्धमानसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार- २००३**  
(जैन धर्म/दर्शन में मौलिक, शोध हेतु)  
**प्रो० एल०सी० जैन, ५५४, सराफा, जबलपुर**
६. **सराक पुरस्कार- २००३**  
(सराक क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान हेतु)  
**जैनम् फाउन्डेशन, सी-२/३०३, यमुना विहार, दिल्ली**  
**पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से उक्त विद्वानों को हार्दिक बधाई**

### कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण समारोह एवं जैन विद्या संगोष्ठी सम्पन्न

**इन्दौर २ अप्रैल** : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर द्वारा प्रवर्तित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार का समर्पण समारोह आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के पावन सान्निध्य में ३१ मार्च

१८० : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

२००४ को दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम परिसर में प्रातः काल सम्पन्न हुआ। श्री प्रद्युम्न कुमार जैन को उनकी कृति Jain and Hindu Logic पर वर्ष २००० का, डॉ० संगीता मेहता को जैन संस्कृत साहित्य में वर्धमान महावीर पर वर्ष २००१ का एवं डॉ० अनिल कुमार जैन को जीवन क्या है पर वर्ष २००२ का पुरस्कार समर्पित किया गया। ज्ञातव्य है कि पुरस्कार के अन्तर्गत २५०००/- रूपये की राशि एवं प्रशस्ति पत्र प्रत्येक चयनित विद्वान को प्रदान किया जाता है।

इस अवसर पर द्विदिवसीय जैन विद्या संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया जिसमें ५१ विद्वानों की उपस्थिति में चार सत्रों में विद्या के विभिन्न पक्षों पर १४ शोध पत्रों का वाचन हुआ।

इन दोनों आयोजनों में शिक्षा जगत् से जुड़े कई महत्वपूर्ण व्यक्ति एवं इन्दौर के जैन समाज के गणमान्यजनों की गरिमामयी उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

### डॉ० शेखर चन्द जैन अहिंसा इन्टरनेशनल पत्रकारिता पुरस्कार से सम्मानित

तीर्थकर वाणी अहमदाबाद के यशस्वी संपादक और तीर्थकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० शेखर चन्द जैन श्री प्रेमचन्द जैन अहिंसा इन्टरनेशनल पत्रकारिता पुरस्कार-२००४ से सम्मानित किये गये। डॉ० जैन को उनकी इस गरिमामयी उपलब्धि पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से हार्दिक बधाई।

### प्राचीन पाण्डुलिपियों का संरक्षण करायें

महावीर दिगम्बर जैन पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र, जयपुर (अधिकृत - अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी) में प्राचीन, जीर्णशीर्ण एवं दुर्लभ पाण्डुलिपियों, अभिलेखों और कागजी दस्तावेजों का संरक्षण किया जाता है। हमारे यहाँ अब तक दिगम्बर जैन मन्दिर पाटौदी, जयपुर के शास्त्र भण्डार; चौरु, फागी, बांदरसीदरी, विजयनगर एवं मुहाना के शास्त्र भण्डारों से संरक्षण हेतु पाण्डुलिपियाँ आयी हैं। कोई भी जिनके पास या जिनकी जानकारी में दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ, ग्रन्थ, दस्तावेज या प्राचीन अभिलेख नष्ट हो रहे हों, उनकी रक्षा के लिए कृपया निम्न पते पर सम्पर्क करें।

प्रो० (डॉ०) कमलचन्द सोगानी

संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति,

दिगम्बर जैन नासियाँ भट्टारकजी,

सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - ३०२ ००४

## स्वयंभू पुरस्कार - २००४ हेतु रचनायें आमंत्रित

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष - २००४ के स्वयंभू पुरस्कार के लिए अपभ्रंश से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में लिखित कृतियों की चार प्रतियाँ ३० सितम्बर, २००४ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में रुपया २१००१/- एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा। ३१ दिसम्बर, २००० से पूर्व प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियाँ सम्मिलित नहीं की जायेंगी।

वर्ष २००३ का स्वयंभू पुरस्कार प्रो० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर को उनकी कृति कवि विबुध श्रीधरकृत सुकुमालसामिचरित पर दिनांक ६ अप्रैल २००४ को श्री महावीरजी में महावीर जयन्ती के वार्षिक मेले के अवसर पर प्रदान किया गया।

नियमावली तथा आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर ३०२ ००४ से पत्र व्यवहार करें।

## महावीर पुरस्कार वर्ष २००४ एवं ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार २००४ हेतु रचनायें आमंत्रित

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी के वर्ष-२००४ के महावीर पुरस्कार के लिए जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से संबंधित किसी भी विषय की पुस्तक/शोध प्रबन्ध की चार प्रतियाँ दिनांक ३० सितम्बर २००४ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में प्रथम स्थान प्राप्त कृति को रुपया २१००१/- एवं प्रशस्ति पत्र तथा द्वितीय स्थान प्राप्त कृति को ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार रुपया ५००१/- एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा। ३१ दिसम्बर २००० के पश्चात् प्रकाशित पुस्तके ही इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं।

वर्ष २००३ का महावीर पुरस्कार डॉ० प्रद्युम्न कुमार जैन, उत्तरांचल को उनकी कृति जैन एण्ड हिन्दू लॉजिक : ए कम्पैरेटिव स्टडी तथा ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार डॉ० जिनेन्द्र जैन, कटनी को उनकी कृति जैन काव्यों का दार्शनिक मूल्यांकन पर दिनांक ६ अप्रैल २००४ को श्री महावीरजी में महावीर जयन्ती के वार्षिक मेले के अवसर पर प्रदान किया गया।

नियमावली तथा आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिए संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर से पत्र व्यवहार करें।

१८२ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

## श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के शताब्दी समारोह का भव्य शुभारम्भ

वाराणसी २४ मई : गंगा के सुरम्य तट पर स्थित भगवान् सुपार्श्वनाथ जन्मभूमि दि० जैन मंदिर परिसर में पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी द्वारा अब से ९९ वर्ष पूर्व श्रुतपंचमी के पावन पर्व पर १९०५ ई० में स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के शताब्दी समारोह वर्ष का शुभारम्भ २४ मई २००४ ई० को प्रातः काल शुभ मुहूर्त में सामूहिक अभिषेक, पूजन आदि धार्मिक कार्यों के साथ सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' के संयोजकत्व में प्रारम्भ हुआ। वर्षपर्यन्त चलनेवाले इस समारोह में समय-समय पर विभिन्न कार्यक्रम सम्पन्न होंगे। इसी क्रम में आगामी दीपावली के पश्चात् महाविद्यालय के पूर्व और वर्तमान स्नातकों का एक सम्मेलन का भी आयोजन किया जा रहा है। दि० २२ जुलाई से महाविद्यालय का नवीन सत्र भी प्रारम्भ होने जा रहा है।

## उपाध्याय रमेश मुनि ठाणा ४ का वर्ष २००४ का चतुर्मास फरीदकोट में

श्रमणसंघीय आचार्य शिवमुनिजी म०सा० के अनुयायी उपा० श्री रमेश मुनि ठाणा ४ का वर्ष २००४ का मंगल चातुर्मास पंजाब प्राप्त के फरीदकोट नगर में होना सुनिश्चित हुआ है। आपश्री का फरीदकोट में मंगल प्रवेश २४ जून २००४ को हुआ।

सम्पर्क सूत्र -

श्री सतीश जैन एडवोकेट,

जैनस्थानक, फरीदकोट (पंजाब), फोन - ९४१७०५०४६०

## मातृश्री रूपाबाई स्वर्गस्थ

सनावद १२ अप्रैल : गणिनी ज्ञानमती माताजी के संघस्थ क्षुल्लक मोतीसागर जी की संसारपक्षीय माता सुश्राविका रूपाबाई का ८४ वर्ष की आयु में ११ अप्रैल को सनावद में निधन हो गया जिनकी स्मृति में उनके पुत्र श्री प्रकाशचन्द जी जैन ने विभिन्न धार्मिक संस्थाओं के लिये दान की घोषणा की है। ज्ञातव्य है कि श्री प्रकाशचन्द जी की पुत्री और स्व० रूपाबाई की पौत्री ब्रह्मचारिणी चन्द्रिकाजी भी ज्ञानमती माताजी के संघ में संयम की साधना में लगी हुई हैं।

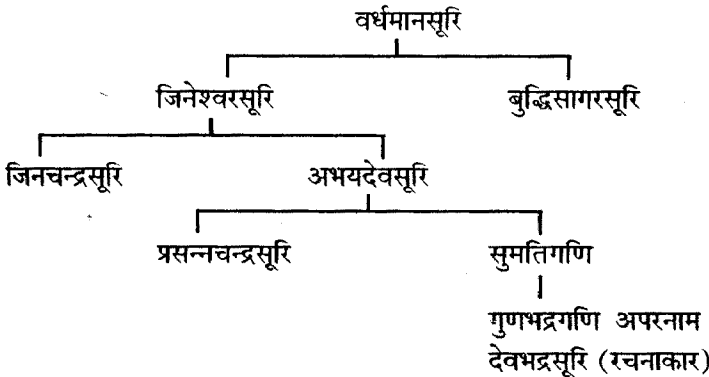


## साहित्य सत्कार

देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (गुजराती) संपा० - पंन्यास श्री नयवर्धन विजय जी गणि; प्रकाशक - श्री भारतवर्षीय जिनशासन सेवा समिति C/o धरणेन्द्र भाई वी० शाह, B-302 चंदनबाला, सुविधा शॉपिंग सेन्टर के सामने, पालड़ी, अहमदाबाद ३८० ००७; प्रथम संस्करण जुलाई २००३ ई०; आकार - डिमाई, पृष्ठ १६+५१९; मूल्य १५०/- रुपया।

प्रभुश्रीपार्श्वनाथचरित्र, रचनाकार - आचार्य देवभद्रसूरि; गुजराती अनु० एवं सम्पा० - पंन्यास श्री नयवर्धन विजय जी गणि; प्रकाशक - श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन देरासर (चंदनबाला) ट्रस्ट; आकार - रायल, पृष्ठ ४+३९४; मूल्य - x

विक्रम सम्वत् की १२वीं शताब्दी के मध्य के प्रमुख रचनाकारों में गुणभद्रगणि अपरनाम देवभद्रसूरि का प्रमुख स्थान है। महावीरचरित्र (रचनाकाल वि०सं० ११३९) और पार्श्वनाथचरित्र (वि०सं० ११६८) इनकी प्रमुख कृतियां हैं। पार्श्वनाथचरित्र की प्रशस्ति में इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा निम्नानुसार दी है।



महावीरचरित्र (प्राकृत भाषामय) का प्रकाशन १९२९ ई० में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुम्बई से और पार्श्वनाथचरित का गुजराती अनुवाद जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर से २०वीं शताब्दी के तृतीयदशक में हुआ। उक्त दोनों कृतियां लम्बे अरसे से अनुपलब्ध थीं। पंन्यास नयवर्धन विजयजी गणि ने उक्त कृतियों का गुजराती अनुवाद अपने सम्पादकत्व में प्रस्तुत कर साहित्य जगत् को अमूल्य

भेंट दी है। ऐसे महत्वपूर्ण एवं प्राचीन ग्रन्थों के गुर्जरानुवाद को अत्यन्त अल्पमूल्य में प्रस्तुत करने के कारण प्रकाशक संस्था और उसके संचालक बधाई के पात्र हैं।

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन देहरासर (चन्दनबाला) ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित **पार्श्वनाथचरित्र** के सम्बन्ध में यह बात खटकने वाली है कि पुस्तक में न तो प्रकाशक का पता दिया गया है और न ही मूल्य, अतः इसे प्राप्त करने के इच्छुक जिज्ञासु इसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। आशा है प्रकाशक गण इस ओर ध्यान देंगे। उत्तम कागज पर मुद्रित दोनों ही पुस्तकों की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक और मुद्रण सुस्पष्ट है।

**जैनदर्शनां वैज्ञानिक रहस्यो** (Scientific Secrets of Jainism) लेखक-मुनिश्री नंदिघोष विजयजी म०सा०; प्रथम संस्करण - जनवरी २०००; प्रका०- प्राचीन भारतीय साहित्य वैज्ञानिक रहस्य शोध संस्था, सी/७, राधे अपार्टमेन्ट, शाहीबाग, अहमदाबाद ३८० ००४; आकार - डिमाई, पृष्ठ २४+३४०; मूल्य १२०/- रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक मुनि नंदिघोष विजयजी म०सा० द्वारा लिखे गये ३१ आलेखों का संकलन है। मुनिश्री के ये आलेख देश की प्रतिष्ठित जैन पत्रिकाओं यथा **नवनीत समर्पण, तीर्थकर, अर्हत् वचन, जैन जर्नल, तुलसी प्रज्ञा** आदि में समय-समय पर प्रकाशित हो चुके हैं। ये आलेख १९९५ ई० में महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई द्वारा **जैन दर्शन - वैज्ञानिक दृष्टिये** के नाम से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए और पाठक वर्ग में इतने लोकप्रिय हुए कि पुस्तक की सम्पूर्ण प्रतियां समाप्त हो गयीं। पाठकों की निरन्तर मांग पर अहमदाबाद की संस्था - "प्राचीन भारतीय साहित्य वैज्ञानिक रहस्य शोध संस्था" द्वारा इनका पुनर्प्रकाशन किया गया। प्रस्तुत पुस्तक में दिये गये सभी आलेख मौलिक हैं। यह अत्यन्त हर्ष और गौरव का विषय है कि विज्ञान जैसे जटिल विषय पर प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा किये गये मौलिक शोध को आज विभिन्न जैन विद्वानों द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। मुनिश्री नंदिघोष विजय जी द्वारा प्रस्तुत यह ग्रन्थ भी उसी परम्परा की एक कड़ी है।

पुस्तक की साज-सज्जा और मुद्रण भी विषय की गम्भीरता के अनुकूल है। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन हेतु प्रकाशन संस्था बधाई की पात्र है।

**Philosopher Karma Scientists**, लेखक - प्रो० लक्ष्मी चन्द्र जैन एवं डॉ० राजेन्द्र त्रिवेदी; प्रका० श्री ब्राह्मी सुन्दरी प्रस्थाश्रम, २१, कंचनविहार, विजयनगर, जबलपुर (म०प्र०); द्वितीय संशोधित एवं आंग्ल भाषा संस्करण २००३ ई०; आकार- डिमाई; पृष्ठ ४+६०; मूल्य-५०/-

आंग्ल भाषा में लिखित प्रस्तुत पुस्तक में दिगम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यों-आचार्य गुणधर, आचार्य धरसेन, आचार्य पुष्यदन्त, अर्हत् भूतबलि, यतिवृषभ, आचार्य

वीरसेन और आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियों में दी गयी गणितीय तथ्यों की सारगर्भित चर्चा है। प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन देश के उन इने-गिने विद्वानों में से हैं जिन्होंने अपना का सम्पूर्ण जीवन गणित जैसे दुरूह विषय और उस पर भी प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में वर्णित गणितीय सिद्धान्तों के अध्ययन, मनन एवं शोध में व्यतीत कर दिया है। अब तक उनकी लेखनी से उक्त विषय पर कई पुस्तकें एवं अनेक आलेख प्रकाश में आ चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी गौरवपूर्ण शृंखला की एक कड़ी है। गणित जैसे दुरूह विषय पर कार्य करने वाले पहले भी अल्प थे और आज भी उनकी संख्या सीमित ही है, परन्तु अभाव नहीं है और न ही भविष्य में होगा। आशा है डॉ० जैन एवं डॉ० त्रिवेदी के शोधकार्यों से प्रेरणा लेकर भावी विद्वान् उनके इस गौरवपूर्ण शोध को आगे बढ़ाते हुए प्राचीन वैज्ञानिकों के योगदान से विद्वद्जगत को अवगत कराने में अपना सक्रिय सहयोग देंगे।

**ऋषभ भारती** वर्ष ६, अंक १-३ (अगस्त-अक्टूबर २००३); प्रधान संपादिका डॉ० कु० प्रभा जैन; प्रका० - श्री ब्राह्मी सुन्दरी प्रस्थाश्रम, २१, कँचनविहार, विजयनगर, जबलपुर (म०प्र०); पृ० ३२; आकार - डिमाई; मूल्य - ३००/- रुपया (तीन वर्ष हेतु)।

**ऋषभ भारती** के प्रस्तुत अंक में दो आलेख हैं। प्रथम आलेख 'रेकी-एक उपचार पद्धति' में लेखक का नाम नहीं दिया गया है। हिन्दी भाषा में लिखित इस संक्षिप्त निबन्ध में २४ रेखाचित्रों के माध्यम से बड़े ही सुन्दर ढंग से उक्त विषय पर प्रकाश डाला गया है। "On The Vikram Era" नामक द्वितीय आलेख में इसके लेखकद्वय प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जी जैन एवं डॉ० कु० प्रभा जैन ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ढंग से सम्वत् प्रवर्तक विक्रमादित्य पर अब तक हुए सभी शोधकार्यों की समीक्षा करते हुए विक्रम सम्वत् के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। इसी क्रम में उन्होंने विक्रमादित्य और खारवेल के समसामयिकता की बात करते हुए वड्डुमाणु अभिलेख के आलोक में विक्रमादित्य के बारे में संभावित चर्चा भी की है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्येताओं के लिये यह आलेख एक आलोक स्वरूप है।

**अध्यात्मसार** - रचनाकार - श्रीमद् यशोविजय जी, अनुवादक और विशेषार्थ लेखक - डॉ० रमणलाल ची० शाह; प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थल - श्री राज सोभाग सत्संग मंडल, सोभागपुरा, सायला - ३६३४३०, जिला-सुरेन्द्रनगर, गुजरात, द्वितीय संशोधित संस्करण, फरवरी २००४; आकार - रायल, पक्की जिल्द बाईंडिंग; पृष्ठ ४४+५५१; मूल्य निर्देशित नहीं; संभवत - अमूल्य।

आचार्य हरिभद्र और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् जैन परम्परा में जिन महान् साहित्यकारों का नाम लिया जा सकता है उनमें प्रमुख हैं अकबरप्रतिबोधक तपागच्छीय आचार्य हीरंजयसूरि की शिष्य परम्परा में हुए

उपाध्याय यशोविजय जी और खरतरगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि की परम्परा के महोपाध्याय समयसुन्दर। इनके द्वारा रचित शताधिक कृतियां उपलब्ध हैं जो संस्कृत-प्राकृत और मरु-गुर्जर भाषा में हैं।

प्रस्तुत कृति उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा संस्कृत भाषा में रची गयी है जो सात प्रबन्धों और २१ अधिकारों में विभक्त है। इस कृति के अनुवादक और विशेषार्थ के लेखक डॉ० रमनलाल चौ० शाह वर्तमान युग में जैन साहित्य के श्रेष्ठतम विद्वानों में से हैं। उनकी लेखनी से अब तक शताधिक पुस्तकें निःसृत हो चुकी हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में उन्होंने उपाध्याय यशोविजय जी के जीवन और उनके साहित्यावदान पर विस्तृत प्रकाश डाला है। अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय के इस ग्रन्थ को सरल भाषा में प्रस्तुत कर पाने की सामर्थ्य डॉ० शाह जैसे समर्थ विद्वान् के ही वश की बात है। यह पुस्तक अध्यात्मप्रेमियों एवं शोध अध्येताओं दोनों के लिये समान रूप से पठनीय और मननीय है।

ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का सरल भाषा में अनुवाद और विशेषार्थ प्रस्तुत करने हेतु डॉ० शाह तथा उसे अत्यधिक व्यय के साथ प्रकाशित कर उसे अध्यात्मप्रेमियों को अमूल्य (?) उपलब्ध कराने हेतु अनुवादक और प्रकाशक सभी बधाई के पात्र हैं।

**सत्य और जीवन**, लेखक - महात्मा भगवानदीन, सम्पा० - जमनालाल जैन, प्रका० - शुचिता प्रकाशन, अभय कुटीर, सारनाथ, वाराणसी, प्रमुख वितरक - वीनस बुक सेन्टर, गोकुलपेठ मार्केट, धरमपेट, नागपुर, छठा संस्करण - २००३, आकार - डिमाई, पृष्ठ - २४+१७४, मूल्य - १००/-

विश्व इतिहास में ऐसे विचारक तो मिलते हैं जिन्होंने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया किन्तु ऐसा कोई विचारक नहीं मिलता जिसने सत्य को स्वीकार न किया हो। हम सभी सत्य के उपासक हैं और सत्य की खोज में दर-दर भटकते रहते हैं। सभी की एक ही कामना रहती है - सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य ही सुख का स्रोत है। सत्यान्वेषण के अर्थ को उस दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा भगवानदीन ने पाठकों से अपने जीवन में सत्य को शामिल कराने का सुन्दर प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक पांच खण्डों में विभक्त है। सत्य के रूप, सत्य की खोज, सत्य और सुख-दुःख, सत्य और धर्म - दर्शन एवं परिशिष्ट के अन्तर्गत ज्ञान की मान्यताएँ और सोचने का ढंग शीर्षक से मनुष्य के जीवन में सत्य को सुन्दर ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के सभी लेख लगभग आधी शताब्दी पूर्व विज्ञान की कसौटी पर रख कर लिखे गए हैं जो आज भी उपयोगी हैं।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)



**निष्कलंक प्रेमावतार (हिन्दी संस्करण)**, संकलनकर्ता - स्व० डॉ० लीलुभाई डी० मेहता, प्रकाशक - ओम शान्ति चेरिटेबल ट्रस्ट, कमडोली गली, हुबली - ५८० ०२८, कर्नाटक, हिन्दी संस्करण - २००२, आकार - डिमाई, पृष्ठ- ४२४, मूल्य - ७५/-

वास्तव में जीवन क्या है? यह बहुत ही जटिल प्रश्न है। जीवन तो सभी लोग जीते हैं परन्तु इसकी चर्चा गिने-चुने लोग ही कर पाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक “निष्कलंक प्रेमावतार” कोई मौलिक ग्रन्थ न होकर “शान्ति ज्योति” नामक हिन्दी पाक्षिक की कुछ खास-खास लेखों का संकलन है। इसमें कुल सत्रह लेख हैं। पुस्तक की सभी के सभी लेख उपयोगी हैं। प्रथम लेख निष्कलंक प्रेमावतार है। यह लेख पुस्तक का प्रस्तावना स्वरूप है। अन्य लेखों में अलौकिक सानिध्य, महानुभावों द्वारा गुरुदेव के प्रति उद्गार, मेरी भारत यात्रा, हर एक धर्म में मांसाहार निषेध, अहिंसा का दिव्य संदेश, क्षत्रिय और गोरक्षा लेख उत्कृष्ट बन पड़े हैं। विश्व प्रेम और शान्ति की खोज में नामक आलेख जीवन को आनन्द स्वरूप बनाने के लिए पथ-प्रदर्शक है। ‘वचनामृत संग्रह’ जीवन को प्रगति के पथ पर ले चलने में मददगार होगा। ‘हर एक धर्म का नवनीत’ भी काफी उपयोगी बन पड़ा है। यह लेख सम्प्रदाय भेद से ऊपर उठकर जीवन को सन्मति के मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। कुल मिलाकर इस संकलित ग्रन्थ को पढ़कर पाठक अवश्य लाभ उठायेंगे और अपने जीवन को यथार्थ के समीप लाने में सक्षम होंगे।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**श्रीपालचरित**, रचयिता - पं० दौलतराम कासलीवाल, सम्पादक - डॉ० वीरसागर जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली - ११० ००३, प्रथम संस्करण - २००२, आकार - डिमाई, पृष्ठ- १०१, मूल्य - ४०/-

पंडित दौलतराम कासलीवाल कृत श्रीपालचरित जैन कथा साहित्य की उत्कृष्ट रचना है। वर्तमान में यह एक दुर्लभ ग्रन्थ है क्योंकि इसकी पाण्डुलिपि आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाती है। सम्पादक डॉ० वीरसागर जैन ने अपने अथक प्रयास से इसे संग्रहीत कर पुस्तक का रूप दिया है। प्रस्तुत रचना में कवि ने राजा श्रीपाल एवं महासती मैनासुन्दरी की लोक प्रसिद्ध कथा के माध्यम से मूलतः शीलभावना, सत्संगति, कर्मसिद्धान्त और धर्म एवं अध्यात्म की शिक्षा दी है जो लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण हेतु वर्तमान में अत्यन्त ही उपादेय है। सम्पादक ने इस ग्रन्थ को रोचक एवं उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रारम्भ में संक्षिप्त रूप में कथा का सार प्रस्तुत किया है जिसे आत्मसात कर पूरी पुस्तक का निचोड़ प्राप्त किया जा सकता है। मूल

१८८ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

पाठ में कठिन शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। पुस्तक के अन्त में नाम परिचय दिया गया है। यह कथा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से लोकप्रिय हैं। श्रीपालचरित इसी परम्परा की एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें बिना किसी सर्ग विभाजन के ७५६ गाथायें हैं कृति मुख्यतः दोहा एवं चौपाई में है परन्तु यत्र तत्र, सोरठा, अडिल्ल, रोला आदि का भी प्रयोग हुआ है। कठिन शब्दों की पादटिप्पणी भी दी गयी है। विद्वद्जनों के लिए यह ग्रन्थ संग्रहणीय है।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**लोगस्स सूत्र (एक दिव्य साधना)**, लेखक - साध्वी डॉ० दिव्यप्रभा, प्रकाशक - चौरडिया चैरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर - ३०२००३ संस्करण - २००३, आकार- डिमाई, पृष्ठ - २०७, मूल्य - १००/-

‘लोगस्स सूत्र’ साध्वी डॉ० दिव्यप्रभा द्वारा समय-समय पर दिए गए ९ प्रवचनों का संकलन है। प्रायः प्रवचन दार्शनिक एवं कठिन शब्दों से युक्त होते हैं जिसे सामान्य जन के लिए आत्मसात् करना दुरूह कार्य होता है। साध्वी जी ने इन प्रवचनों में इतनी सरल भाषा का प्रयोग किया है जिसे वे सहज ही मन में बैठ जाते हैं। इन प्रवचनों में प्रेरणादायी प्रसंग और उनका सरल एवं सुबोध भाषा में विश्लेषण हमें जीवन दर्शन की मौलिकता का दर्शन कराता है। गुरु के आत्मज्ञान की ज्योति जब हृदय को स्पर्श करती है तभी चेतना में अभीप्सा एवं जागरण प्रज्वलित होता है। साध्वी जी के ये प्रवचन लोगों को सहज ही प्रभावित करेंगे और वे इसे आत्मसात कर लाभान्वित होंगे। पुस्तक के अन्त में दिए गए मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र, सहस्रार चक्र आदि के चित्र इस ग्रन्थ को गरिमा प्रदान करते हैं। ये सारे चित्र रंगीन हैं। यह पुस्तक सुधी पाठकों के संग्रह करने योग्य है।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**मांसाहार-खतरा ए जान**, लेखक - क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी, प्रकाशक- अनेकान्त स्वाध्याय मंदिर, वर्धा - ४४२ ००१, आकार - डिमाई, पृष्ठ - ८२, मूल्य - २५/-

क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी महाराज की पुस्तक **मांसाहार-खतरा ए जान** मांसाहार प्रेमियों के लिए उचित मार्गदर्शन है। जिस तरह से आज तथाकथित आधुनिक जन अपने पूर्वजों की सात्विक वृत्ति से दूर होकर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के नाम पर मांसाहार अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं कर रहे हैं, निश्चय ही यह पुस्तक उनके लिए मार्गदर्शक और सात्विक आहार की ओर प्रवृत्त करने में पूर्णतः सक्षम सिद्ध होगी। मात्र ८२ पृष्ठीय इस छोटी सी पुस्तक में उन सभी प्रश्नों का उचित उत्तर

दिया गया है जो मांसाहारी अक्सर उठाया करते हैं। इसमें सामाजिक, नैतिक, वैद्यकीय पोषण, पर्यावरण, आर्थिक, स्वास्थ्य एवं धार्मिक आधार पर शाकाहार की उपयोगिता को समझाने का प्रयास किया गया है। आशा है पाठक गण इस पुस्तक को पढ़ कर उस पर अमल करने का प्रयास करेंगे।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**संबुज्झह किं ण बुज्झह**, लेखक - आचार्यश्री शिवमुनि जी म०सा०, प्रका०- प्रज्ञा-ध्यान एवं स्वाध्याय प्रकाशन, पुणे (महाराष्ट्र), संस्करण - जून २००२, आकार- डिमाई, पृष्ठ - २५६, मूल्य - ५०/-

“संबुज्झह किं ण बुज्झह” आचार्य शिव मुनिजी म०सा० द्वारा दिल्ली में दिए गए प्रवचनों का संकलन है। जैसा कि पुस्तक का शीर्षक है “सम्बोधि को प्राप्त करो! क्यों नहीं सम्बोधि को प्राप्त करते हो।” इस शीर्षक के अनुरूप ही सारे प्रवचन हैं। आचार्यश्री के कुल १८ प्रवचन इस पुस्तक में संकलित हैं। सभी प्रवचन शिक्षाप्रद और मनन करने योग्य हैं। मृत्यु से अमृत की ओर, सत्त्वं खु भगवं, श्रमण कौन, सरलतम है धर्म, ऐसे रहिए संसार में, आनन्दपूर्ण जीवन के सूत्र, अमृत का अक्षर हस्ताक्षर, जिन शासन का मूल: विनय, अमृतमय जीवन का विज्ञान, साधुधर्म का मूल : ध्यान, अहिंसा परमोधर्मः, जागरण का मूलमंत्र : जयं, समता : मोक्ष का परम उपाय, समस्त सिद्धियों का द्वार : सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, मन ही बंधन मन ही मोक्ष, माणुसत्तं खु दुल्लहं , अमूर्च्छा ही अपरिग्रह और परिशिष्ट के अन्तर्गत-आचार्यप्रवर श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र, युवा मनीषी श्री शिरीष मुनि जी महाराज, साधक श्री शैलेष कुमार जी : एक परिचय, २१वीं सदी में धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु प्रशिक्षक वर्ग योजना आदि का संग्रह प्रस्तुत पुस्तक में है। इन प्रवचनों को पढ़कर ऐसा आभास होता है कि हमारे समक्ष स्वयं आचार्य श्री उद्बोधित कर रहे हैं। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ और प्रत्येक शब्द में आचार्य श्री के गहन चिन्तन, विशाल दृष्टिकोण और निरन्तर प्रेरणा का समन्वय है।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**पठमं नाणं**, लेखक - आचार्यश्री शिव मुनि जी म०सा०, प्रका० - कोमल प्रकाशन C/o विनोद शर्मा, मकान नं० २०८७/७, गली नं० २०, शिवमंदिर के पास, प्रेमनगर, दिल्ली ११० ००८, प्राप्तिस्थान - श्री सरस्वती विद्या केन्द्र, जैन चैरिटीज, जैन हिल्स, मोहाड़ी रोड, जलगांव (महाराष्ट्र), संस्करण - अक्टूबर २००३, आकार - डिमाई, पृष्ठ - १२८, मूल्य - ५०/-

“पठमं नाणं” का अर्थ होता है पहले ज्ञान। ज्ञान से बढ़कर कुछ भी नहीं है। आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत इस पुस्तक में पठमं नाणं, कर्म सिद्धान्त : एक विवेचन, पुराना जो

१९० : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

परिवर्तनशील है, स्वयं को पहचानिए, अनुशीलन, जे आया से विनाया, आत्म मूल्यांकन, आतम गुण सब रतन सरीखे, तन महीं चेतन देव कहावे, संयम गोयम मा पमायए आदि लेखों का संकलन है। सभी लेख शिक्षाप्रद हैं। आचार्यश्री की प्रारम्भ में पठमं नाणं, अनुशीलन और संयम गोयम मा पमायए, नाम से तीन कृतियों का प्रकाशन हुआ था। उन्हीं तीन लघु कृतियों का संयुक्त संस्करण **पठमं नाणं** है। प्रस्तुत पुस्तक में जैनागमों के मूल तत्वों का ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा जैन दर्शन के कर्मवाद, अनेकान्तवाद आदि पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक सुधी पाठकों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है। पाठक इसे पढ़कर और अपने में आत्मसात कर निश्चित ही लाभान्वित होंगे।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**मा पमायए**, लेखक - आचार्यश्री शिवमुनि जी म०सा०, प्रका० - प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई, संस्करण-२००१, आकार-डिमाई, पृष्ठ-२००

**मा पमायए** नामक इस पुस्तक में आचार्य श्री शिवमुनि म०सा० द्वारा समय-समय पर दिए गए प्रवचनों का संकलन है। शीर्षक के अनुरूप ही पुस्तक के सभी लेख शिक्षाप्रद हैं। मुनि श्री ने प्रवचनों में उचित दृष्टांत के माध्यम से इसे काफी रोचक बना दिया है जो सहज ही हृदय में आत्मसात हो जाता है। इस पुस्तक में अकथ कहानी संत की; सुख का सार सूत्र; मुक्ति की युक्ति; सा विद्या या विमुक्तए; बीज में छिपा वृक्ष; बाल संस्कार के सूत्र, बाल विकास में कैसे सहयोगी बनें; आहार और निद्रा के सन्दर्भ में व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन; मा पमायए; जीवन के दो मार्ग; अपने भीतर महावीर को प्रकट करने की विधि शीर्षक से प्रवचनों का संकलन है। आशा है सुधी पाठक इसे पढ़कर लाभ उठाएंगे।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**अन्तर्यात्रा**, लेखक - आचार्यश्री शिवमुनि जी म०सा०, प्रका० - प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई, प्रथम संस्करण-२००१, आकार-डिमाई, पृष्ठ-२००

प्रस्तुत पुस्तक भी आचार्य शिवमुनि जी द्वारा दिए गए प्रवचनों का संकलन है। इसमें अभय-अहिंसा का प्राणतत्व; स्वरूप के साथ जीना ही धर्म है; अनशन उपवास कैसे करें? आकांक्षा: दुःख का द्वार; मुक्ति का मंत्र; ज्ञान दृष्टि और अज्ञान दृष्टि; पण्णा समिक्खए धम्मं; विनय-मोक्ष का द्वार आदि शीर्षक में प्रवचनों का संकलन है। सभी प्रवचन शिक्षाप्रद हैं। मुनिश्री ने प्रवचनों में उचित दृष्टान्तों के माध्यम से इसे काफी रोचक एवं उपयोगी बना दिया है। सभी लेख सहज ही मन में आत्मसात हो जाते हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**सद्गुरु महिमा**, लेखक - आचार्यश्री शिवमुनि जी म०सा०, प्रका० - प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई, संस्करण-२००३, आकार-डिमाई, पृष्ठ - ११२, मूल्य - ५०/-

“सद्गुरु महिमा” नामक प्रस्तुत पुस्तक आचार्यश्री शिवमुनि जी म०सा० के प्रवचनों का निबन्धात्मक शैली में प्रस्तुतीकरण है। इस पुस्तक में कुल ६ प्रवचनों का संकलन-सद्गुरु की पहचान; आराध्यक्रम : देव, गुरु, धर्म; अरिहंतो मह देवो; सद्गुरु की महिमा अनन्त; सद्गुरु का संग : उपासना का रंग; प्रेम का विशुद्धतम स्वरूप: आत्मप्रेम शीर्षक से हुआ है।उसमें देव, गुरु और धर्म की महिमा, गुरु की गुण-गौरव, सद्गुरु के लक्षण, जीवन में सद्गुरु की आवश्यकता आदि बिन्दुओं पर गहन रूप से विचार किया गया है। पुस्तक की भाषा शैली रोचक, सरल और प्रवाहमयी है जो सहज ही हृदय में बैठ जाती है। यह छोटी सी पुस्तक गागर में सागर कहावत को चरितार्थ करती है। आशा है पाठकगण इसका अध्ययन कर लाभान्वित होंगे। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

**भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार** (जैन दर्शन के विशेष सन्दर्भ में), लेखक - आचार्य श्री शिवमुनि जी० म०सा०, हिन्दी अनुवादक - डॉ० भागचन्द्र जैन “भाष्कर”, प्रका०- प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई, संस्करण - तृतीय, आकार - डिमाई, पृष्ठ- २६०

भारतीय धर्म दर्शन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। आचार्य शिवमुनि जी द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मोक्ष का विवेचन बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। लेखक ने वैदिक, जैन, बौद्ध एवं सिख धर्म को दृष्टि में रखकर अपने गहन अध्ययन, सम्यक् चिन्तन, मनन एवं तटस्थ समीक्षा से तुलनात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। पुस्तक कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में जैन परम्परा : एक सिंहावलोकन, द्वितीय में आत्मा का सिद्धान्त, तृतीय में कर्म और पुनर्जन्म, चौथे में मुक्ति का जैन सिद्धान्त, पांचवें में मुक्ति का वैदिक सिद्धान्त, छठे में बौद्ध निर्वाण सिद्धान्त, सातवें में मुक्ति का सिख सिद्धान्त और आठवें में उपसंहार है। पुस्तक में मुक्ति का उत्कृष्ट तुलनात्मक अध्ययन है। अनुवाद भी अर्थ को ध्यान में रखकर किया गया है। भाषा शैली सरल है। सामान्य पाठकों के साथ-साथ यह पुस्तक शोधार्थियों के लिए भी अत्यन्त ही उपयोगी है। यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय होने के साथ-साथ अपने जीवन में आत्मसात करने योग्य है। आशा है सुधी पाठक इस पुस्तक को एक बार अवश्य पढ़ेंगे और लाभान्वित होंगे।

- राघवेन्द्र पाण्डेय (शोध छात्र)

१९२ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

**अनेकान्त दर्पण**, सम्पा० - ब्र० संदीप 'सरल', प्रधान सम्पा०- डॉ० रतनचन्द्र जैन, प्रका० - अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान, बीना, सागर, मध्य प्रदेश - ४७०११३, अंक - ५, वर्ष २००३, आकार - डिमाई, पृष्ठ - १२८।

**अनेकान्त दर्पण** श्रमण संस्कृति की उत्कृष्ट पत्रिकाओं में से एक है। यह अंक शोध वार्षिकी है जिसमें उच्च कोटि के लेखों का संग्रह किया गया है। इन लेखों में चन्द्रावती की चौबीसी के कुछ ऐतिहासिक तथ्य; पाण्डुलिपियां और उनका परिरक्षण; जैन पत्रकारिता : स्वरूप, समस्याएँ, सम्भावनाएँ एवं सुझाव; अनेकान्त की वैज्ञानिकता; संस्कृत जैन प्रबन्ध काव्यों में प्रतिपादित शिक्षा पद्धति; श्रमण संस्कृति एवं उसकी प्रमुख विशेषताएँ; आकाश द्रव्य और उर्जा समीकरण आदि लेख अत्यन्त ही उच्च कोटि के बन पड़े हैं। यह अंक विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिए संग्रहणीय है।

- मनोजकुमार तिवारी (शोध छात्र)

**अनुसंधान** २४-२५, सम्पा० - आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि, प्रका० - कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि, अहमदाबाद, प्राप्ति स्थान - आ० विजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मंदिर १२, भगतबाग, जैन नगर, नया शारदा मंदिर रोड, अहमदाबाद, ३८०००७, आकार - डिमाई, पृष्ठ- १२२ एवं १०९, मूल्य - ५०/- प्रत्येक अंक।

'अनुसंधान' प्राकृत एवं गुजराती भाषा की एक उत्कृष्ट पत्रिका है जिसमें समय-समय पर श्रमण परम्परा से सम्बन्धित उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते हैं। उपरोक्त संस्करण में आदिस्तव; अठोतरसो नामे पार्श्वनाथ स्तोत्र; शंकर कवि प्रणीत विजयवल्लीरास; विविध कवि विरचित सज्जायश्लोकादिसंग्रह, श्री ब्रह्मविरचित उपदेश कुशल कुलक; षट्प्राभृतमां दन्त्य नकारना प्रयोग; षट्प्राभृतमा विभक्ति रहित शब्द रूप; श्री सिद्धसेनसूरिरचित 'सिद्धमातृका प्रकरण', मुनिश्वरसूरि कृत प्रमाण सार; भुवनहिताचार्यकृत चतुर्विंशतिजिनस्तवन, मुनि भूधररचित सरस्वतीवारमासो, दया कुशलकृत लाभोदयरास; मुनिचन्द्रसूरिगुरुगुणगहुंली, वाचक मुनिसौभाग्य गणिकृत स्तवन चौबीसी; विहंगावलोकन; पत्रचर्चा; महोपाध्याय सहजकीर्ति - एवं कई स्तुति एवं कविताओं का संग्रह है। लेख संस्कृत एवं गुजराती दोनों ही भाषाओं में हैं। सभी लेख स्तरीय एवं पठनीय हैं।

- मनोजकुमार तिवारी (शोध छात्र)

**विनयबोधिकण** भाग - १, सम्पा० - श्रीमती दीपा विजय संगोई, प्रका०- श्री विनयमुनि जी चातुर्मास समिति, संगोई हॉल, हेलधानी नाका, रायपुर ४९२००९, छत्तीसगढ़, द्वितीय संस्करण - नवम्बर २००३, आकार - डिमाई, पृष्ठ - १६६।

विनयबोधिकण भाग - १ श्री विनय मुनि जी द्वारा दिए गए प्रवचनों में से प्रश्नों का संग्रह है। जो भक्तगण चातुर्मास के पावन दिनों में मुनिश्री के सान्ध्य का लाभ नहीं ले पाए उनके लिए यह उपयोगी है। मुनि श्री ने अनेक प्रश्नों का बड़ा ही सहज एवं सरल शब्दों में समाधान किया है जो नित्य हमारे मन में उठते रहते हैं और उनका सही उत्तर नहीं मिल पाता। यदि भक्त जन इस पुस्तक को पढ़कर मनन करें तो वे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। यह पत्रिका घर-घर में रखने योग्य है।

- मनोजकुमार तिवारी (शोध छात्र)

**विजययशोदेवसूरि**, प्रका० - श्री सिद्धक्षेत्र जैन साहित्य मंदिर आ०क० पेढी के सामने, तलेटी रोड, जिला भावनगर, पालीताना ३६४२७०, संस्करण - प्रथम, आकार - डिमाई, पृष्ठ - २७२, मूल्य - २१/-

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य विजययशोदेवसूरि के जीवन-दर्शन पर आधारित है। इसमें उनके जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र का समावेश करने का प्रयास किया गया है। इसमें यशोदेवसूरि जी की जीवनी, उनके साहित्य रचनाओं का संकलन; मुनिश्री से सम्बन्धित अनेक काव्य रचनाएं एवं समय-समय पर लिए गए छाया चित्रों का संकलन है। यह मुनिश्री के गौरव गाथा का प्रथम भाग है। अभी दो भाग और प्रकाशित होना शेष है। आशा है इस प्रथम भाग से पाठक मुनिश्री के बारे में अनेक जानकारियों को प्राप्त कर लाभान्वित होंगे।

- मनोजकुमार तिवारी (शोध छात्र)

**जीवन दर्पण** (महापुरुषों की वाणी), संकलन - केवलचन्द जैन, प्रकाशक-संघवी लालचंद जीवराज एण्ड कम्पनी, डी०एल० लेन, चिकपेट, बैंगलोर - ५३; प्राप्ति स्थान - शा० लालचन्द मदनराज एण्ड कम्पनी, ७/२८, एम०वी० लेन, चिकपेट, बैंगलोर - ५३, आकार - डिमाई, पृष्ठ - २६३।

श्री केवलचन्द जैन द्वारा संकलित **जीवनदर्पण** (महापुरुषों की वाणी) गद्य एवं पद्य का अनुठा संग्रह है। सभी कहानियां शिक्षाप्रद हैं। पुस्तक किसी एक सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व न करते हुए सबके लिए उपयोगी है। दृष्टान्तों के माध्यम से कहानियां अत्यन्त रोचक हो गई हैं। सभी कहानियां एवं कविताएं शिक्षाप्रद एवं मनन करने योग्य हैं। यथास्थान शिक्षाप्रद सूक्तियाँ भी हैं। आशा है पाठकगण इसे पढ़कर अवश्य लाभान्वित होंगे।

- मनोजकुमार तिवारी (शोध छात्र)

१९४ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

## प्राप्तिसाभार

**श्रीअनुयोगद्वारसूत्र** (पूर्वार्ध) व्याख्याकार - श्रमण संघ के प्रथम आचार्य श्री आत्मारामजी म० के सुशिष्य श्री ज्ञान मुनि; प्रकाशक - श्री शालिग्राम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, कचहरी रोड, राजपुरा, पटियाला, पंजाब, आकार - रायल; प्रथम संस्करण - १९९० ई०; पृष्ठ ४८+८३६; मूल्य - २००/- रुपये।

**अनुयोगद्वारसूत्र** (उत्तरार्ध); व्याख्याकार - श्री ज्ञानमुनि; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - रायल, प्रथम संस्करण १९९० ई०; पृष्ठ १४+९९१; मूल्य २००/- रुपये।

**अन्तकृद्दशाङ्गसूत्रम्**, व्याख्याकार - आचार्य आत्मारामजी महाराज, संपादक-आचार्य शिवमुनि जी म०सा०; प्रकाशक - आत्म ज्ञान श्रमण शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना एवं भगवान् महावीर रिसर्व एण्ड मेडिटेशन सेंटर ट्रस्ट, नई दिल्ली; नवीन संस्करण - जुलाई २००३ ई०; आकार - रायल; पृष्ठ ३१+४९६; मूल्य-३००/- रुपये।

**श्री उपासकदशाङ्गसूत्रम्**, व्याख्याकार - आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपा० - आचार्य शिवमुनि जी म०सा०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; नवीन संस्करण जनवरी २००३ ई०; आकार - रायल; पृष्ठ - ३९९; पक्की बाइंडिंग; मूल्य ३००/- रुपये।

**श्री अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्रम्**, व्याख्याकार - आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपा० - आचार्य शिवमुनि जी म०सा०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; द्वितीय संस्करण-२००३ ई०; आकार - रायल; पृष्ठ २०+११२; मूल्य - १००/- रुपये।

**श्री उत्तराध्ययनसूत्रम्** (प्रथम भाग, १ से १३ अध्ययन); व्याख्याकार - आचार्य शिवमुनि जी म०सा० प्रकाशक - पूर्वोक्त; द्वितीय संस्करण - २००३ ई०; आकार - रायल; पृष्ठ ४७४; पक्की बाइंडिंग; मूल्य - ३००/- रुपये।

**श्री उत्तराध्ययनसूत्रम्** (द्वितीय भाग, १४ से २५ अध्ययन); व्याख्याकार आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपा० आचार्य शिवमुनि जी म०सा०; प्रकाशक पूर्वोक्त; द्वितीय संस्करण - २००३ ई०; आकार - रायल; पृष्ठ - ४८६; पक्की बाइंडिंग; मूल्य ३००/- रुपये।

**श्री उत्तराध्ययनसूत्रम्** (तृतीय भाग, २६ से ३६ अध्ययन); व्याख्याकार आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपादक - आचार्य शिवमुनि जी म०सा०; प्रकाशक-पूर्वोक्त, द्वितीय संस्करण २००३ ई०; आकार - रायल; पक्की बाइंडिंग; पृष्ठ ४९०; मूल्य ३००/- रुपये।



**श्री दशवैकालिकसूत्रम्** व्याख्याकार - आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपादक - आचार्य शिवमुनिजी म०सा०; प्रकाशक पूर्वोक्त; द्वितीय संस्करण २००३ ई०; आकार - रायल; पक्की बाइंडिंग; पृष्ठ ५४+४९१; मूल्य - ३००/- रुपये।

**श्री आचाराङ्गसूत्रम्** (प्रथम श्रुतस्कन्ध) व्याख्याकार - आचार्य आत्माराम जी महाराज; संपादक - आचार्य शिवमुनिजी म०सा०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; द्वितीय संस्करण २००३ ई०, आकार - रायल; पक्की बाइंडिंग; पृष्ठ ८०+९३१; मूल्य ६००/- रुपये।

**श्री साध्वाचारसमुच्चयप्रकरणम्** रचयिता - श्री नयवर्धनविजय गणि; प्रकाशक - श्री भारतवर्षीय जिनशासन सेवा समिति; प्राप्ति स्थान - श्री सतीश भाई वी० जरीवाला, ७ श्यामकुंज, ८५, बालकेश्वर रोड, मुम्बई ४०० ००१; आकार-पाकेट साइज, प्रथम संस्करण - वि०सं० २०५५; पृष्ठ ८+४४; मूल्य- २५/- रुपये।

**शामामृतम्** अनुवादक - मुनिश्री प्रशमरतिविजय जी; प्रकाशक - प्रवचन प्रकाशन, ४८८, रविवार पेठ, पूना ४११ ००२; आकार - डिमाई; पृष्ठ ४+२४; मूल्य - १०/- रुपये।

**श्री तीर्थकर पंचकल्याणक विधान** रचयिता - श्री राजमल जी पवैया; प्रकाशक श्री भरत पवैया, संयोजक - श्री तारादेवी पवैया, ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल, प्रथम संस्करण ००४ ई०, आकार - डिमाई, पृष्ठ ५६; मूल्य- १०/- रुपये।

**जगदुद्धारक भगवान् महावीर** लेखक - श्री राजमल जी पवैया; प्रकाशक-पूर्वोक्त; आकार- डिमाई; प्रथम संस्करण २००४ ई०, पृ० १६; मूल्य - पठन-पाठन।

**श्री मल्लिनाथ पंचकल्याणक विधान** रचनाकार श्री राजमल पवैया; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; प्रथम संस्करण २००३ ई०; पृष्ठ ६४; मूल्य- १०/- रुपये।

**श्री अरहनाथ पंचकल्याणक विधान** रचनाकार श्री राजमल पवैया; प्रकाशक-पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; प्रथम संस्करण २००३ ई०; पृष्ठ ६४; मूल्य- १० रुपये।

**नित्यपाठ अपूर्व अवसर** रचनाकार श्री राजमल पवैया; प्रकाशक - पूर्वोक्त; संस्करण २००४ ई०; आकार - पाकेट साइज; पृष्ठ ३२; मूल्य - पठन-पाठन।

**संगीतिका** (भजन संग्रह) स्व० गुलाबरानी जैन (धर्मपत्नी प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन) की पुण्यस्मृति में प्रकाशित १७ भजनों का संकलन; प्रका० - गुलाबरानी कर्म साइन्स म्यूजियम, दीक्षा ज्वेलर्स, सराफा, जबलपुर ४८२ ००२।

**उपदेशतरंगिणी** रचनाकार - रत्नमंदिर गणि; संपा० मुनि नयवर्धन विजयजी, प्रकाशक - श्री भारतवर्षीय जिनशासन सेवा समिति; प्राप्ति स्थान - संयम सुवास

१९६ : श्रमण, वर्ष ५५, अंक १-६/जनवरी-जून २००४

C/o सेठ जमनालाल जीवतलाल, जूनागंज बाजार, भाभर - ३८५ ३२०; पत्राकार;  
पृष्ठ २८०+१७; मूल्य - पठन-पाठना।

**श्रीपर्वकथासंग्रह** संपा०- मुनि नयवर्धन विजयजी; प्रकाशक - श्री भारतवर्षीय  
जिनशासन सेवा समिति C/o सतीशचन्द्र वेणीलाल जरीवाला, ७, श्यामकुंज,  
तीसरीमाला, ८७, बालकेश्वर रोड, मुम्बई ४०० ००६; पत्राकार; पृष्ठ ६+६०;  
संस्करण २०५५ वि०सं०; मूल्य - पठन-पाठना।

**वीतरागस्तोत्र**, रचनाकार - आचार्य हेमचन्द्र (प्रभानन्दकृत विवरण एवं  
सोमउदयगणि कृत चूर्ण सहित); संपा० गणि नयवर्धन विजय जी; प्रका० - पूर्वोक्त  
प्रकाशन वर्ष वि०सं० २०५७; पत्राकार; पृष्ठ २+१६६; मूल्य - सदुपयोग।

**त्रिंशष्टिशलाकापुरुषचरित**, रचनाकार - आचार्य हेमचन्द्र (भाग ४, पर्व ७),  
संपा०- पं० योगतिलक विजयगणि; प्रका० - संयम सुवास C/o सेठ जमनालाल  
जीवतलाल, जूनागंज बाजार, भांभर, जिला बनासकांठा, गुजरात, ३८५ ३२०;  
पत्राकार; प्रकाशन वर्ष - वि०सं० २०५८; पृष्ठ पृष्ठ ६+२२८; मूल्य - पठन-पाठना।

**कल्पसूत्र (स्त्रीमविजयकृत बालावबोध सहित)**; संपा० - श्री योगतिलक  
विजय गणि; प्रका० - पूर्वोक्त; पत्राकार; प्रकाशन वर्ष वि०सं० २०५८; पृष्ठ  
१२+६३३; मूल्य - पठन-पाठना।

**जपोनाम सूरिराम** रचयिता - मुनि हितवर्धनविजय जी म०सा०; भाषा -  
संस्कृत-गुजराती; प्रकाशक - कुसुम अमृत ट्रस्ट, शांतिनगर, अलकापुरी, वापी  
(वेस्ट) ३९६१९१; प्रकाशन वर्ष आश्विन सुदि २, वि०सं० २०५९; आकार -  
डिमाई; पृष्ठ ९+१२७; पक्की बाइंडिंग; मूल्य - ६०/- रुपये।

**सीमंधर स्वामीनी भव यात्रा**, रचयिता - मुनि हितवर्धन विजय जी म०सा०;  
भाषा - गुजराती; प्रकाशन वर्ष आश्विन सुदि ११ वि०सं० २०५९; आकार - डिमाई,  
पृष्ठ - ४०; प्राप्तिस्थान - कुसुम अमृत ट्रस्ट, शांतिनगर, अलकापुर, बायी (वेस्ट)  
३९६१९१; मूल्य - पठन-पाठना।



***Statement About the Ownership & Other Particulars  
of the Journal***

**ŚRAMAᅇA**

1. Place of Publication : Pārśwanātha Vidyāpīᅇha,  
I.T.I. Road, Karaundi,  
Varanasi-5
2. Periodicity of Publication : Quarterly.
3. Printer's Name, Nationality  
and Address : Dr. Sagarmal Jain, Indian,  
Printed at Vardhman Mudranalaya,  
Bhelupur, Varanasi-10,
4. Publisher's Name,  
Nationality and Address : Dr. Sagarmal Jain, Indian, Secretary,  
Pārśwanātha Vidyāpīᅇha, I.T.I. Road,  
Karaundi, Varanasi-5
5. Editor's Name,  
Nationality and Address : Dr. Sagarmal Jain [Chief Editor]  
Dr. Shivprasad [Editor] Indian,  
Pārśwanātha Vidyāpīᅇha, I.T.I. Road,  
Karaundi, Varanasi-5
6. Name and Address of Individuals : Dr. Sagarmal Jain, Secretary,  
who own the Journal and Partners Pārśwanātha Vidyāpīᅇha,  
or share-holders holding more Registered office 20/6, Mathura  
than one percent of the total Road, Faridabad.  
capital. (Registered under Act XXI as 1860)

I, Dr. Sagarmal Jain hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated : 1.4.2004

Signature of the Publishers

S/d Dr. Sagarmal Jain



श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं  
**सुरसुंदरीचरिअं**  
(प्रथम परिच्छेद)

मुनिश्री विश्रुतयशाविजयकृत  
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी  
अनुवाद सहित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी  
२००४



શ્રીમદ્ધનેશ્વરમુનીશ્વરવિરચિતં

# સુરસુંદરીચરિતં

ગાથા :-

સુહ-સામન્ન-પદ્મના-સમય-સમારઘ્ન-લોચ-કમ્પસ્સ ।  
અમરવદ્-વચન-ધરિઓ પરિકુડિલો કુંતલ-કલાવો ॥૧॥  
કન્નાસન્ને સોહદ્ જસસ અવત્થાણ-પત્થણત્થંવ ।  
ચિત્તભંતર-રુદ્ધ-પ્પવેસ-કંદપ્પ-દૂડવ્વ ॥૨॥  
અથવા

સોહદ્ જસસ સુસંગય-ઉભયંસ-લુલંત-કુંતલ-કલાવા ।  
મુત્તી સુવન્ન-વન્ના સકજ્જલગ્ગવ્વ દીવ-સિહા ॥૩॥  
જસસ પળામા યાવદ્ પલયં પડોવિ વિગ્ધ-સંઘાઓ ।  
તસસ રિસહસ્સ પદ્મં નમામિ પય-પંકયં પયઓ ॥૪॥

-ચત્તસુધિ: કલાપકમ્

સંસ્કૃત છાયા :-

શુભ-શ્રામણ્ય-પ્રતિહા-સમય-સમારઘ્ન-લોચકર્મણ: ।  
અમરપતિ-વચનઘૃત: પરિકુટિલ: કુંતલકલાપ: ॥૧॥  
કર્ણાસન્ને શોભતે યસ્યાવસ્થાન-પ્રાર્થનાર્થમિવ ।  
ચિત્તાભ્યંતર-રુદ્ધ-પ્રવેશ-કન્દર્પદૂત ઇવ ॥૨॥  
અથવા

શોભતે યસ્ય સુસંગતોભયાંસ-લુલત્કુંતલકલાપા ।  
મુક્તા સુવર્ણ-વર્ણા સકજ્જલાગ્રા ઇવ દીપશિખા ॥૩॥  
યસ્ય પ્રણામપ્રાન્નોતિ, પ્રલયં પ્રચુરોઽપિ વિઘ્નસંઘાત: ।  
તસ્ય શ્રદ્ધભસ્ય પ્રથમં નમામિ પદપંકજં પ્રયત: ॥૪॥

ગુજરાતી અર્થ :- (શ્રી શ્રદ્ધભદેવના બાલની શોભા અને ચરણ-કમલને નમસ્કાર ।)

શુભશ્રામણ્યને સ્વીકારવાની પ્રતિહા વચ્ચે શરૂકરેલા લોચકર્મવાલા શ્રી શ્રદ્ધભદેવ ભગવાન્ (કે જેમના બાલ) ઇન્દ્રના વચનથી ધારણ કરાવેલા, પોતાને સ્થિર થવા માટેની પ્રાર્થના માટે આવેલા અને ચિત્તની અંદર રોકાયેલા પ્રવેશવાલા (અને પ્રભુ શ્રદ્ધભદેવે ઇન્દ્રની વિનંતીથી ૪ મુષ્ટી જ લોચ કર્યો હતો પાંચમી રહેવા દીધી) જાણે કામદેવના દૂત ન હોય તેવા વાકલીયા વાલનો સમૂહ કાનની પાસે શોભે છે. (અથવા)

જે શ્રદ્ધભદેવ ભગવાનના સારી રીતે રહેલા બંને સ્વભા ઉપર લટકતા વાલનો સમૂહ છૂટી, પીલા રંગની અને ટોચ ઉપર કાલા ધૂમાડાવાળી દીપ શિખાની જેમ શોભે છે।

છાયા વિઘ્નના સમૂહો પણ જેમને પ્રણામ કરવાથી નાશ પામે છે। તેવા શ્રી શ્રદ્ધભદેવ પ્રભુનાં ચરણ-કમલને પ્રયત્ન પૂર્વક હું સર્વ પ્રથમ નમસ્કાર કરું છું..

हिन्दी अनुवाद :- शुभ श्रामण्य को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा के समय में प्रारम्भ किया है लोच कर्म वैसे श्री ऋषभदेव भगवान की (जिनके बाल) इन्द्र के वचन से धारण किये हुए, अपने को स्थिर होने के लिए प्रार्थना करने आये हुए और चित्त के अंदर जिनका प्रवेश रोका गया है और ऐसा लगता है कि जैसे वह कामदेव का दूत हो वैसे उनके घुंघराले बाल का समूह उनके कानों के पास शोभा दे रहा है। (भगवान् ऋषभदेव ने इन्द्र की विनती से चतुर्मुष्टि लोच किया था, पाँचवीं मुष्टि वैसे ही रहने दी थी।) (अथवा)

जिन ऋषभदेव भगवान् के दोनों कंधों पर अच्छी तरह से लटकता हुआ बालों का समूह, खुले-पीले रंग के और शिखर के ऊपर काले धुंए वाली दीपशिखा की तरह शोभा देता है एवं प्रचुर विधियों का समूह भी जिनको प्रणाम करने से नष्ट होता है वैसे ऋषभदेव प्रभु के चरण-कमलों को मैं प्रयत्नपूर्वक सर्वप्रथम नमस्कार करता हूँ।

गाहा :-

अजितादि तीर्थकरोने वंदना

अजियाइणो जिणिंदे वंदे जम्मम्मि जेसिममरिंदा ।

रागाइणो वि सत्तू पंचत्तं पाविया समयं ॥५॥

छाया :-

अजितादीन् जिनेन्द्रान् वन्दे जन्मनि येषाममरेन्द्राः ।

रागादयोऽपि शत्रवः पञ्चत्वं प्राप्ताः समकम् ॥५॥

अर्थ :- जेमना जन्म समये (अमरिंदा=नहिं मरनारा) रागादि शत्रुओं पण एकी साथे नाशो पाग्या तथा अमरेन्द्रोपांचरूपपणाने पाग्या ते अजितनाथ आदि जिनेश्वरोंने हुं बंदन करूँ छु।

अत्रे पंचत्तं = पांचरूपपणु अनेनाश-बे अर्थ थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- जिनके जन्मसमय पर कभी नहीं मरनेवाले वैसे रागादि सारे शत्रु एक साथ में नष्ट हुए तथा अमरेन्द्रने पांच रूप बनाये, वे अजितनाथ आदि जिनेश्वरों को मैं वंदन करता हूँ। (यहाँ अमरींदा - नहीं मरनेवाले) और (पंचत्तं=पांच रूप और नाश दो अर्थ ग्रहण किये हैं) यहाँ श्लेष अलंकार है।

गाहा :-

वीरपरमात्माने बंदना...

जम्मण-समयाणंतर-सुमेरु-सिहराभिसेय-समयम्मि ।

सक्किंदण-कय-कुवियप्य-नासणे कय-पयत्तस्स ॥६॥

रागाइ वइरि-सेणव्व जस्स दुददुं अणन्न-सामत्थं ।

थरहरिया अच्चत्थं ससिलोच्चय-सायरा वसुहा ॥७॥

निम्मल-कम-नह-नियरो पडिबिंबिय-पणय-तिहुअणो जस्स ।

उव्वहइ जाय-गव्वो केवलनाणस्स समसीसिं ॥८॥

जस्स य पणाम-मेत्ता निम्मल-कम-णक्ख-पडिय-पडिबिम्बा ।

एक्कारस-गुणमुवलब्भ अप्पयं हरिसिया तियसा ॥९॥

तं वंदे जिण-यंदं देविंद-नरिंद-विंद-वंदिययं ।

सिद्धत्थ-नरिंद-सुअं चरिमं चरिमं गइं पत्तं ॥१०॥

-पंचभिः कुलकम्



छाया :-

जन्मसमयानन्तर-सुमेरुशिखराभिषेकसमये ।  
सङ्क्रन्दन-कृतकुविकल्प-नाशने कृतप्रयत्नस्य ॥६॥  
रागादिवैरि-सेनेव यस्य दृष्ट्वाऽनन्यसामर्थ्यम् ।  
'कम्पितात्यर्थं सशिलोच्चसागरवसुधा ॥७॥  
निर्मल-कम-नख-निकरः, प्रतिबिम्बित-प्रणत-त्रिभुवनो यस्य ।  
उद्धति जात-गर्वः केवलज्ञानस्य स्पर्द्धाम् ॥८॥  
यस्य च प्रणाममात्रात् निर्मलकमनखपतितप्रतिबिम्बाः ।  
एकादशगुणमुपलभ्यात्मकं तर्षिताः त्रिदशाः ॥९॥  
तं वन्दे जिनचन्द्रं देवेन्द्रनरेन्द्रवृन्दवन्दितकम् ।  
सिद्धार्थनरेन्द्रसुतं चरमं चरमां गतिं प्राप्तम् ॥१०॥

अर्थ :- जे महावीरस्वामीना जन्म समये मेरुशिखर उपर अभिषेक समये इन्द्र द्वारा करायेला कुविकल्पना नाश करवामा प्रयत्नवाला (प्रभु) रागादि वैरी सेनानी (बेहाली करी) जेम तेम तेमना रागादि ने काठवाना अनन्य सामर्थ्यने जोड़ने पर्वत-सागर सहित पृथ्वी अत्यंत धूजवा लागी।

नमेला त्रणभुवन (ना लोको) प्रतिबिम्बित थयेला छे जेमां देवा (प्रभु) चरणना नखनो समूह (पोताने) थयेला गर्ववालो केवलज्ञाननी स्पर्द्धा करे छे।

जेमना प्रणाम मात्राथी निर्मल चरणनां नखमां पडी रहेला (पोताना) प्रतिबिम्बथी अग्यार गणा रूपने प्राप्त करीने देवो खुश थाय छे।

देवेन्द्र नरेन्द्रना समुदायथी वंदित, जिनोमां चन्द्र, चरमगतिने पामेला. सिद्धार्थनरेन्द्रना पुत्र चरम महावीरस्वामीने हुं वन्दन करू छु।

हिन्दी अनुवाद :- जिन महावीर स्वामी के जन्म समय पर मेरु शिखर के ऊपर अभिषेक के समय इन्द्र के द्वारा मन में किये गये कुविकल्प के नाश करने वाले प्रभु ने जिस तरह से रागादि शत्रु सेना की बेहाली की, उसी तरह रागादि को निकालने का प्रभु का अनन्य सामर्थ्य देखकर पर्वत-सागर के साथ पृथ्वी अत्यंत कांपने लगी।

झुके हुए तीन भुवन के लोग जिनमें प्रतिबिम्बित हुए हैं वैसे प्रभु चरण के नाखून का समूह खुद क्रो हुए घमंड से केवलज्ञान के साथ स्पर्द्धा कर रहा है।

जिनको प्रणाम करने मात्र से उनके निर्मल चरण के नाखून में पड़ रहे (प्रतिबिम्बित) अपने प्रतिबिंब से ग्यारह गुणा रूप को प्राप्त करके देव खुश हुए।

देवेन्द्र-नरेन्द्र के समुदाय से वंदित, जिनों में चन्द्र समान, चरमगति याने मुक्ति को पाए हुए सिद्धार्थ नरेन्द्र के पुत्र चरम तीर्थपति महावीरस्वामी को मैं वंदन करता हूँ।

१. थरहरिया-देश्य

२. समसीसीं=दे. स्पर्द्धा

(ज्यां - ज्यां काउसमां शब्दो मूक्या छे ते विशेष थी समज्ञावा - स्पष्टता माटे छे)

गाहा :-

दुज्जय-अणंग-मायंग-भंग-सारंग-पुंगव-सरिच्छे ।  
सासय-सिव-सुह-सहिए सिद्धे सिरसा नमंसामि ॥११॥

छाया :-

दुर्जयानङ्ग-मातङ्ग-भङ्ग-सारङ्ग-पुङ्गव-सदृक्षान् ।  
शाश्वतशिवसुखसहितान् सिद्धान् शिरसा नमस्यामि ॥११॥

अर्थ :-

सिद्ध भगवंतने नमन

दुःखेथी जीती शकाय एवा कामदेव रूपी हाथीनो नाशकरवा माटे श्रेष्ठ सिंह समान, शाश्वत शिवसुखेथी युक्त एवा सिद्ध भगवंतने हुं मस्तक वडे नमस्कार करू छु।

हिन्दी अनुवाद :- अतिकष्ट से जीत सके वैसे कामदेव रूपी हाथी का नाश करने में सिंह के समान, शाश्वत शिवसुख से युक्त सिद्ध भगवंतो को मैं मस्तक द्वारा नमस्कार करता हूँ।

गाहा :-

आचार्य भगवंतने वन्दना

दुद्धंस-धंत-विद्धंस-धीर-सिद्धंत-देसए धीरे ।  
पंचविहायार-ए सिरसा वंदामि आयरिए ॥१२॥

छाया :-

दुध्वंस-ध्यात-विध्वंस-धीर-सिद्धान्त-देशकान् धीरान् ।  
पंचविधाचाररतान् शिरसा वन्देऽऽचार्यान् ॥१२॥

अर्थ :-

दुःखे करीने ध्वंस करी शकाय तेवा अज्ञानरूपी अंधकारने नाशकरवामां समर्थ, सिद्धान्तना उपदेशक, धीर, पंचविध आचारमां रक्त, आचार्यभगवंतने हुं मस्तक बडे नमस्कार करूं छु।

हिन्दी अनुवाद :- दुःख को नष्ट कर सकें, वैसे अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ, सिद्धान्त के उपदेशक, धीर, पंचविध आचार में रक्त आचार्य भगवंतों को मैं मस्तक से नमस्कार करता हूँ।

गाहा :-

उपाध्याय भगवन्तने वन्दना

विसय-सुह-निष्पिवासे संसारच्छेय-करण-तल्लिच्छे ।  
बंदामि उवज्जाए सुत्त-त्थ-विसारए सययं ॥१३॥

छाया :-

विषयसुख-निष्पिपासान् संसारछेदकरणतल्लिप्सान् ।  
वन्द उपाध्यायान् सूत्रार्थविचारदान् सततम् ॥१३॥

अर्थ :- विषयसुखनी पिपासाथी रहित, संसारनो उच्छेद करवानी इच्छावाला, सूत्र अने अर्थमां विचारद उपाध्याय भगवंतने हुं निरंतर वंदन करूं छु।

हिन्दी अनुवाद :- विषयसुख की पिपासा से रहित, संसार का छेद करने की इच्छावाले, सूत्र और अर्थ में विशारद उपाध्याय भगवन्तों को मैं निरंतर वन्दना करता हूँ।

गाहा :-

साधु भगवंतने वन्दना

पंच-महव्वय-दुव्वह-पव्वय-उव्वहण-पचचले सिरसा ।

घर-वास-पास-मुक्के साहू सव्वे नमसामि ॥१४॥

छाया :-

पंचमहाव्रतदुर्वहपर्वतोद्वहन-प्रत्यलान्' शिरसा ।

गृहवासपाशमुक्कान् साधून् सर्वान् नमस्यामि ॥१४॥

अर्थ :- दुःखेथी वहनकरी शकाय तेवा पांच महाव्रतो रूपी पर्वतने वहन करवामां समर्थ तथा गृहवासना पासथी मुक्क सर्व साधुभगवंतो ने हुं नमस्कार करूं छु।

हिन्दी अनुवाद :- अति कष्ट से वहन करने योग्य पर्वत तुल्य पांच महाव्रतों को वहन करने में समर्थ तथा गृहवास के पास से मुक्त सर्व साधु भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।

गाहा :-

सरस्वती देवी स्तुति

जीए कम-कमलं पाविऊण पाविंति पाणिणो परमं ।

नाणं अन्नाणा वि हु सा जयइ सरस्सई देवी ॥१५॥

छाया :-

यस्याः कमकमलं प्राप्य प्राप्नुवन्ति प्राणिनः परमम् ।

ज्ञानमहानिन्द्रोऽपि खलु सा जयति सरस्वती देवी ॥१५॥

अर्थ :- जेना चरण कमलने प्राप्त करीने अज्ञानी जीवो पण परम ज्ञान ने प्राप्त करे छे ते सरस्वती देवी जय पामे छे।

हिन्दी अनुवाद :- जिनके चरण-कमलको प्राप्त करके अज्ञानी जीव भी परम ज्ञान को प्राप्त करते हैं वह सरस्वती देवी जय प्राप्त करती हैं।

गाहा :-

गुरुभगवन्तने वन्दना अने ग्रन्थ नामोल्लेख

जाण पसाएण पुण मएवि जइ-बुद्धिणा कहा-करणे ।

लीलाए पयट्टिज्जइ, विसेसओ ते गुरू वंदे ॥१६॥

छाया :-

येषां प्रसादेन पुनर्नयापि जडबुद्ध्या कथाकरणे ।

लीलाया प्रवृत्त्यते विशेषतस्तान् गुरून् वन्दे ॥१६॥

अर्थ :- जेमना प्रसादथी जइ बुद्धि एवा मारा बड़े पण कथा करवानां कार्यमां लीलाथी प्रयत्न कराय छे ते गुरुभगवंतोने विशेषथी हुं वंदन करूं छुं।

हिन्दी अनुवाद :- जिनकी कृपा से जइ बुद्धि वाले मुझ जैसे भी कथा करने के कार्य में लीला (क्रीडा) से प्रयत्न होता है-वैसे गुरु भगवन्तों को विशेष रूप से मैं वन्दना करता हूँ।

१. समर्थान्

गाहा :-

इय पुज्ज-पणइ-करण-प्पणासियासेस-विग्घ-संघाओ ।  
वोच्छं संवेगकरिं कहं तु सुरसुंदरिं नाम ॥१७॥

छाया :-

इति पूज्यप्रणतिकरणप्रणाशिताशेषविघ्नसंघातः ।  
वक्ष्ये संवेगकरिं कथां तु सुरसुन्दरीं नाम ॥१७॥

अर्थ :- आ प्रमाणे पूज्योने प्रणाम करवा द्वारा नाथा पामेला विघ्नना समुदाय वालो (हुं) संवेगने करनारी एवी सुरसुन्दरी नामनी कथा ने कहीश-  
हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार पूज्यों को प्रणाम करके नष्ट हुए विघ्न के समुदायवाला मैं संवेग करनेवाली सुरसुन्दरी नाम की कथा कहूंगा।

गाहा :-

अन्नं, च, तस्स कीरइ पढमं चिय पत्थणा खल-जणस्स ।  
बीहेइ कवि-जणो जस्स मूसओ इव बिरालस्स ॥

छाया :-

अन्यच्च तस्य क्रियते प्रथममेव प्रार्थनाखलजनस्य ।  
बिभेति कविजनो यस्मात् मूषक इव बिडालात् ॥१८॥

अर्थ :- अने वली बिलाडाथी जेम उंदर डरे छे तेम कविजनो दुर्जनथी डरे छे माटे पहेला ज दुर्जन ने प्रार्थना कराय छे।  
हिन्दी अनुवाद :- और फिर बिल्ली से जैसे चूहा डरता है वैसे कविजन दुर्जन से डरते हैं इसीलिए पहले दुर्जन की ही प्रार्थना होती है।

गाहा :-

अहवा सहावउच्चिय दोस-ग्गहणम्मि वावड-मणस्स ।  
अब्भत्थणा-सएहि वि न खलस्स खलत्तणं गलइ ॥१९॥

छाया :-

अथवा स्वभावत एव दोषग्रहणे व्यापृतमनसः ।  
अभ्यर्थना शतैरपि न खलस्य खलत्वं गलति ॥१९॥

अर्थ :- अथवा स्वभावथी ज जेमनुं मन दोष ग्रहण करवामां ज लागेलु छे।  
तेमने सैकडो बार प्रार्थना करवा छतां पण ए दुर्जनोनुं दुर्जनपणु गळवानुं नथी।  
(छूटवानुं नथी)

हिन्दी अनुवाद :- अथवा स्वभाव से ही जिनका मन दोष ग्रहण करने में है उनको हजारों बार प्रार्थना करने पर भी उनकी दुर्जनता दूर नहीं होती है।

गाहा :-

कुडिलत्तणं न उज्झइ परिच्छिद्-गवेसओ य दोजीहो ।  
पत्थिज्जंतो वि कवीहिं दुज्जणो सप्प-सारिच्छो ॥२०॥

१. परिच्छिद्रः = सर्पपक्षे छिद्रं = बिलं, दुर्जनपक्षे = दूषणम्

छाया :-

कुटिलत्वं नोज्झति परच्छिद्रगवेषकश्च द्विजिह्वः ।

प्रार्थ्यमानोऽपि कविभिः दुर्जनः सर्पसदृक्षः ॥२०॥

अर्थ :- बीजाना बिलने शोधतो सर्प कुटिलपणाने छोडतो नथी। तेम बीजाना दोषने शोधनार सर्प जेवा दुर्जनो (पण) कविओ बडे प्रार्थना कराये छते पण पोतानु कुटिलपणु छोडता नथी।

हिन्दी अनुवाद :- औरों के बिल को ढूँढता हुआ सर्प खुद के कुटिलत्व को छोड़ता नहीं है ठीक वैसे ही दूसरों के दोष को देखनेवाला सर्प जैसा दुर्जन भी कविओं की प्रार्थना होने पर भी अपना कुटिलत्व नहीं छोड़ता है।

गाहा :-

अब्धत्थिओ वि वंको कलुसिय-हियओ सुवृत्त-परिहीणो ।

चंदोव्व दुज्जणो इह दोसासंगे पयासेइ ॥२१॥

छाया :-

अभ्यर्थितोऽपि वक्रः कलुषितहृदयः सुवृत्त-परिहीनः ।

चन्द्र इव दुर्जन इह दोषासङ्गान् प्रकाशयति ॥२१॥

अर्थ :- कलङ्कित गोलाकारथी रहित, चन्द्र रात्रिमा प्रकाशो छे। तेम वक्र, कलुषित हृदयवालो, सदाचारथी रहित दोषोना संड्गाने पामीने प्रार्थना कराये छते पण दुर्जन अहिं प्रकाशो छे।

हिन्दी अनुवाद :- कलङ्कित, गोलाकार से रहित चंद्र रात्रि में प्रकाशमान् होता है। वैसे वक्र, कलुषितहृदयवाला, सदाचार से रहित दुर्जन दोषों का सङ्ग पाकर प्रार्थना करने पर भी यहां प्रकाशित होता है। (दोष शब्द का अर्थ चन्द्र के पक्ष में रात्रि और दुर्जन के पक्ष में दोषों की दुर्गुणों की संगति पाकर दुर्जन प्रकाशित होता है)। यहाँ श्लेष अलंकार है।

गाहा :-

ललिते व निददुरे वा कव्वे दोसो खलेहिं घेतव्वो ।

उट्टु-मुहाओ अहवा नीहरइ न जीरयं कहवि ॥२२॥

छाया :-

ललिते वा निष्पुरे वा काव्ये दोषः खलौर्गृहीतव्यः ।

उष्ट्रमुखादथवा निस्सरति न जीरकं कथमपि ॥२२॥

अर्थ :- मनोहर अथवा निष्पूर काव्यमां दुर्जनो बडे दोष ज ग्रहण कराय छे। अथवा ऊंटनां मुखमांथी क्यारु पण जीरु नीकलतु नथी।

हिन्दी अनुवाद :- मनोहर काव्य हो या निष्ठुर काव्य, दुर्जनों द्वारा दोष ही ग्रहण किया जाता है। अथवा ऊंट के मुख में से कभी जीरा निकलता है ?

१. सुवृत्त = चन्द्रपक्षे शोभनकुण्डलाकारः दुर्जनपक्षे = सदाचारः

२. दोसासंगे = चन्द्रपक्षे रात्रेः स्वाङ्गे, दुर्जनपक्षे दोषाणां दूषणानामासङ्गे।

३. निस्सरति

गाहा :-

दुज्जण-सहाए पडियं निम्मल-कव्वं पि लहइ न पइइं ।  
जल-बिंदुव्व सुतत्ते आयस-भाणम्मि पक्खित्तो ॥२३॥

छाया :-

दुर्जनसभायां पतितं निर्मलकाव्यमपि लभते न प्रतिष्ठाम् ।  
जलबिन्दुरिव सुतत्ते अयोभाजने प्रक्षिप्तः ॥२३॥

अर्थ :- अत्यंत तपी गयेला लोखंडना भाजनमां नंखायेला पाणीना बिंदुनी जेम दुर्जननी सभामां रहेलुं निर्मल काव्य पण प्रतिष्ठाने पामतु नथी।  
हिन्दी अनुवाद :- अत्यंत गरम किये गये लोहे के बर्तन में डाले हुए पानी के बुन्द की तरह दुर्जन की सभा में रहा हुआ निर्मल काव्य भी प्रतिष्ठा को नहीं पाता।

गाहा :-

आसज्ज दुज्जणं कवि-जणस्स अब्भत्थणा तओ विहला ।  
न हु सक्कर-रस-सित्तोवि चयइ कडुयत्तणं निंबो ॥२४॥

छाया :-

आसाध दुर्जनं कविजनस्याभ्यर्थना ततो विफला ।  
न खलु शार्करारससिक्तोजपि त्यजति कटुकत्वं निम्बः ॥२४॥

अर्थ :- साकरना रसथी सींचायेलो लीमडो वयारे पण कडवाशाने छोडतो नथी तेम दुर्जनने प्राप्त करीने कविजननी प्रार्थना निष्फल बने छे।  
हिन्दी अनुवाद :- शक्कर के रस से सिञ्चित नीम कभी भी कटुत्व नहीं छोड़ता है वैसे दुर्जन से कविजन की प्रार्थना निष्फल बनती है।

गाहा :-

अहवा कहा-पबंधो कीरइ किं दुज्जणाण संकाए ?  
जूया-भएण परिहण-विमोयणं हंदि ! न हु जुत्तं ॥२५॥

छाया :-

अथवा कथाप्रबंधः क्रियते किं दुर्जनानां शंकया ?  
यूकाभयेन 'परिधानविमोचनं हन्त ! न हि युक्तम् ॥२५॥

अर्थ :- अथवा आ कथानो प्रबंध कराय छे। एमां दुर्जनोनी शंका वडे शुं ? 'जू' ना भयथी वस्त्रनो त्याग करवो योग्य नथी।  
हिन्दी अनुवाद :- तथापि इस कथा का प्रबंध किया जाता है—उसमें दर्जनों की शंका से क्या? 'जू' के भय से वस्त्र का त्याग करना ठीक नहीं है।

गाहा :-

दुज्जण-असंमयं पि हु कुणइ कवी कव्वमेत्थ किमजुत्तं ?  
उलुयाणमभासंतोवि दिणयरो किं न उग्गमइ ? ॥२६॥

छाया :-

दुर्जनासंमतमपि तु करोति कविः काव्यमत्र किमयुक्तम् ।  
उलूकानभासयन्नपि दिनकरः किं नोद्गच्छति ? ॥२६॥

अर्थ :- दुर्जन संमत न होय तो पण कवि आ काव्य करे छे। एमां शुं अयुक्त छे? घुवडने प्रकाशित न करवा मात्रथी शुं सूर्य उगतो नथी !

हिन्दी अनुवाद :- दुर्जनों के सहमत न होने पर भी कवि यह काव्य प्रारम्भ करता है उसमें क्या अयुक्त है ? उल्लू को प्रकाशित न होने मात्र से क्या सूर्य उदित नहीं होता ? (याने सूर्य उदित होता है)

गाहा :-

सज्जन स्वरूप

अपत्थिओवि सुयणो कईण कव्वे गुणे पयासेइ ।

धवलेइ जयं सयलं सभावओ चेव निसि-नाहो ॥२७॥

छाया :-

अप्रार्थितोऽपि सज्जनः कवीनां काव्ये गुणान् प्रकाशयति ।

धवलत्यति जगत् सकलं स्वभावत एव निश्चान्नाथः ॥२७॥

अर्थ :- प्रार्थना वगर पण सज्जन, कविओनां काव्यना गुणोने प्रकाशे छे। जेम स्वभावथी ज चन्द्र आखा जगतने धवलित करे छे। (उज्ज्वल करे छे)

हिन्दी अनुवाद :- प्रार्थना बिना भी सज्जन कविओं के काव्य के गुणों को देखता है, (प्रकाशित करता है) जैसे स्वभाव से ही चन्द्रमा संपूर्ण जगत् को उज्ज्वल करता है।

गाहा :-

निंदाकारि-जणस्स वि दोस-ग्गाही न सज्जणो कहवि ।

कुणइ सुयंधं वासिं तच्छिज्जंतो वि मलयरूहो ॥२८॥

छाया :-

निन्दाकारिजनस्यापि दोषग्राही न सज्जनः कथमपि ।

करोति सुगन्धं वासिं तच्छिद्यमानोऽपि मलयरूहः ॥२८॥

अर्थ :- चंदनना झाडने कापता कुहाडाने पण चंदन तो सुगंधित ज बनावे छे। तेम निंदा करनारा लोकोना पण दोषोने सज्जन ग्रहण करतो नथी। अर्थात् जोतो नथी।

हिन्दी अनुवाद :- चन्दन के वृक्ष का छेद करती कुल्हाड़ी को भी चंदन सुगंधित ही करता है। वैसे ही सज्जन पुरुष निंदा करनेवाले लोगों के भी दोष को ग्रहण नहीं करता है या देखता भी नहीं है।

गाहा :- अन्नं च

हवइ हु विरूवयंपि हु कव्वं सुयणाण संगमे लट्टं ।

सिप्पि-पुडम्मि पविट्टं जलंपि मुत्ताहलं होइ ॥२९॥

छाया :- अन्यच्च

भवति ननु विरूपकमपि तु काव्यं सज्जनानां संगमे मनोहरम् ।

द्युत्तिपुटे प्रविष्टं जलमपि मुक्ताफलं भवति ।

अर्थ :- जेम छीपलामां प्रवेश पामेलुं पाणी पण मोती बनी जाय छे। तेम विरूप एवं पण काव्य सज्जनोनां संगमथी श्रेष्ठ बने छे।

हिन्दी अनुवाद :- जैसे सीप में रहा पानी भी मोती बन जाता है, वैसे विरूप (असदृश) काव्य भी सज्जनों के संग से श्रेष्ठ बनता है।

१. लट्टं = दे, मनोहरम्

गाहा :-

अब्भत्थणारिहा जं सुयणा, तो ते उ पत्थिमो इण्हं ।  
एगग्ग-मणा होउं साहिज्जंतिं निसामेह ॥३०॥

छाया :-

अग्र्यर्थनार्हा यद् सुजनाः ततस्तान् तु प्रार्थयाम इदानीम् ।  
एकाग्रमनसो भूत्वा कथ्यमानाम् निशाम्यत ॥३०॥

अर्थ :- प्रार्थनाने योग्य जे सज्जनो छे तेमने तो अमे प्रार्थना करीए छीए ।  
हमणा तो जे कहेवाय छे ते एकाग्र मनवाला थइने तमे सांभलो ।

हिन्दी अनुवाद :- प्रार्थना के योग्य जो सज्जन हैं, उनसे तो हम प्रार्थना करते ही हैं, किन्तु अभी यहाँ जो कहा जाता है वह एकाग्र मन से तुम सुनो ।

गाहा :-

धर्म मां उद्यम करवानो उपदेश

घोरे अणोरयारे संसारे जोणि-लक्ख पउरम्मि ।  
अइदुलहं लद्धणं मणुयत्तं भविय-लोएण ॥३१॥

छाया :-

घोरे 'सनाधनन्ते संसारे योनि-लक्ष-प्रचुरे ।  
अतिदुर्लभं लब्ध्वा मनुजत्वं भव्यलोकेन ॥३१॥

गाहा :-

देविंद-चंद्र-नागिंद-विंद-मणुइंद-वंदिय-जिणेहिं ।  
वज्जरिए उज्जमिउं जुत्तं धम्मम्मि सुद्धम्मि ॥३२॥

छाया :-

देवेन्द्र-चंद्र-नागेन्द्र-वृन्द-मनुजेन्द्रवन्दित-जिनेः ।  
कथिते उद्यन्तुं युक्तं धर्मं शुद्धे ॥३२॥

अर्थ :- चोराणी लाख योनिथी युक्त, घोर, अनादि अनंत आ संसारमां अत्यंत दुर्लभ मनुष्य जन्मने प्राप्त करीने भव्य लोको बड़े देवेन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्रना समुदाय तथा चक्रवर्तिथी वंदित एवा जिनेश्वर भगवंतो बड़े कहेवायेला शुद्ध धर्मनां उद्यम करवो योग्य छे ।

हिन्दी अनुवाद :- चोरासी लाख योनि से प्रचुर, भयंकर, अनादि अनंत इस संसार में अत्यंत दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके देवेन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र के समुदाय तथा चक्रवर्ती से वन्दित ऐसे जिनेश्वर भगवंत द्वारा कथित शुद्ध धर्म का भव्य लोक को पालन करना चाहिए ।

गाहा :-

राग-द्वेषनु स्वरूप

सो अंतरारि-विजए राग-द्वेसा य अंतरा सत्तू ।  
तव्विजए च्चिय सोक्खं तेहिं जियाणं पुणो दुक्खं ॥३३॥

छाया :-

सोऽन्तरारिविजये रागद्वेषी चान्तरी शत्रू ।  
तद्विजये हि सौख्यं, ताभ्यां जितानां पुनर्दुःखम् ॥३३॥

अर्थ :- ते शुद्ध धर्म आंतर शत्रुओना विजयमां छे । अने राग-द्वेषज आंतरशत्रु छे । ते राग-द्वेषना विजयमां ज जीवोने सुख छे । वली ते राग-द्वेष बड़े जीतायेला जीवोने दुःख छे ।

१. अणोरपारे-दे-अनादि-अनन्ते



हिन्दी अनुवाद :- वह शुद्ध धर्म आंतर शत्रुओं के विजय में है और राग-द्वेष ही आंतर शत्रु हैं।  
राग-द्वेष के विजय में जीवों को सुख है और राग-द्वेष से आधीन जीवों को दुःख है।

गाहा :- एवं च ठिए

राग-द्वेषानुगया जीवा पावन्ति विविह-दुक्खाइं ।  
तम्हा तच्चिजए च्चिय विबुहेहिं होइ जइयव्वं ॥३४॥

छाया :- एवं च स्थिते

रागद्वेषानुगता जीवाः प्राप्नुवन्ति विविधदुःखानि ।  
तस्मात्तद्विजये नूनं विबुधैः भवति यतितव्यम् ॥३४॥

अर्थ :- अने आ प्रमाणे होते छते।

राग-द्वेषने अनुसरता जीवो विविध दुःखोने पामे छौ तेथी तेनाउपर  
विजय मेलववा माटे ज पंडितो बड़े प्रयत्न करावो जोइए।

हिन्दी अनुवाद :- और इस प्रकार होने पर भी-

राग-द्वेष का अनुसरण करने वाले जीव विविध दुःखों को प्राप्त करते हैं, अतः उन पर  
विजय के लिए ही पण्डितों को प्रयत्न करना चाहिए।

गाहा :-

ग्रन्थ रचनामां मुख्य उद्देश्य  
एयत्थ-साहण-परा सोलस-परिच्छेय-संगया ललिया ।  
पाइय गाहाहिं कहा कीरइ सुरसुंदरी-नामा ॥३५॥

छाया :-

एतदर्थ-साधन-परा षोडशपरिच्छेदसंगता ललिता ।  
प्राकृतगाथाभिः कथा क्रियते सुरसुन्दरीनाम्नी ॥३५॥

अर्थ :- राग-द्वेषने जीतवामां तत्पर सोल परिच्छेदथी युक्त मनोहर प्राकृत  
गाथाओ बड़े आ सुरसुंदरी नामनी कथा रचाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- राग-द्वेष को जीतने के लिए समर्थ सोलह-परिच्छेद से युक्त मनोहर प्राकृत  
गाथाओं द्वारा यह सुरसुन्दरी नाम की कथा रची जाती है।

गाहा :-

अबुह-जण-बोहणं तह दुक्कह-लोयाण चित्त-रंजणयं ।  
जुगवं णो सक्किज्जइ कवीहिं उभयंपि काऊण ॥३६॥

छाया :-

अबुधजनबोधनं तथाऽरुचिलोकानां चित्त-रञ्जनम् ।  
युगपद् न शक्यते कविभिरुभयमपि कर्तुम् ॥३६॥

अर्थ :- अबुध लोकोने बोध करवो अने अरुचिवालालोकोनां चित्तने रंजित  
करवुं आम बे वस्तु एक साथे कविओ द्वारा करवा माटे शक्य नथी।

हिन्दी अनुवाद :- अबुध लोगों को बोध कराना और अरुचिकर लोगों के चित्त को रंजित करना  
ये दोनों चीज एक साथ में करने के लिए कवि भी सक्षम नहीं है।

१. दोस-दे

२. दुक्कह दे, अरुचिलोकानां

गाहा :- जओ:-

सालंकारेण घणक्खरेण रंजिज्जए जणो विबुहो ।  
पयडत्थ-ललिय-कव्वं अबुहाणं बोहणं कुणइ ॥३७॥

छाया :- यतः।

काव्यनी विविधता

सालंकारेण घनाक्षरेण रज्यते जणो विबुधः ।  
प्रकटार्थललितकाव्यमबुधानां बोधनं करोति ॥३७॥

अर्थ :- कारण के।

अलंकारवाला, (कठिन) घनाक्षर (ध्वन्यर्थ) काव्य वड़े विद्वान् लोक खुश थाय छे। ज्यारे प्रकट अर्थवाला मनोहर काव्य सामान्य लोकोने बोध आपे छे। (खुश करे छे)।

हिन्दी अनुवाद :- अलंकार-युक्त कठिन (ध्वन्यर्थ) काव्य से विद्वान् लोग खुश होते हैं, जबकि प्रकट अर्थवाले मनोहर काव्य से सामान्य लोग भी बोध पाते हैं। (खुश होते हैं)।

गाहा :-

दोण्ह वि एक्कवए च्चिय सक्किज्जइ रंजणं न काऊणं ।  
एक्कं गेणहंताणं अवस्स किर नासए बीयं ॥३८॥

छाया :-

द्वयोरपि एकपदे एव शक्यते रञ्जनं न कर्तुम् ।  
एकं गृहणत्तामवश्यं किल नश्यति द्वितीयम् ॥३८॥

अर्थ :- आ बझे वस्तुओ एक ज काव्यनी अंदर एकी साथे आनंद आपवा समर्थ नथी। एकनुं ग्रहण करतां अवश्य बीजुं नाश पाये छे। (अर्थात् पंडितोने खुश करवा जतां सामान्य लोको नाखुश थाय अने सामान्य लोकोने आनन्द आपवा जतां पंडितो नाराज थाय)।

हिन्दी अनुवाद :- ये दोनों बातें एक ही काव्य के अंदर एक साथ में आनंद अर्पण करने में समर्थ नहीं हैं, एक के ग्रहण में दूसरे का अवश्य विनाश होता है। (अर्थात् पंडितों को खुश करने से सामान्य लोग नाखुश होते हैं और सामान्य लोग को आनन्द देने से पण्डित नाराज होते हैं)।

गाहा :-

निय-गुरु-कम-प्यसाया कावि हु सत्ती उ जइवि मह अत्थि ।  
उवमा-सिलेस-रूवग-वण्णग-बहुलम्मि कव्वम्मि ॥३९॥  
तहवि हु तयं न कीरइ असमत्थं पत्थुअम्मि जं अत्थे ।  
तो अबुह-बोहणत्थं पयडत्था कीरए एसा ॥४०॥

छाया :-

निज-गुरु-कम-प्रसादात् कापि खलु शक्तिस्तु यद्यपि ममास्ति।  
उपमा-श्लेष-रूपक-वर्णक-बहुले काव्ये ॥३९॥  
तथापि खलु तर्कं न क्रियते असमस्तं प्रस्तुते यदर्थं ।  
तस्मादबुधबोधनार्थम् प्रकटार्था क्रियते एषा ॥४०॥

अर्थ :- पीताना गुरुना चरण प्रसादथी जे कोइ पण शक्ति मारमां छे। ते शक्ति द्वारा उपमा, श्लेष, रूपक तथा वर्णकथी युक्त काव्य बनावी शक्या छे। तो पण तेवा प्रकारनुं असमस्त अर्थात् ओछा शब्दो अने वधारे अर्थवालुं काव्य प्रस्तुतमां मारा बडे रचातु नथी परंतु अज्ञानी लोकोना बोध माटे प्रकट अर्थयुक्त एवुं आ काव्य कराय छे।

हिन्दी अनुवाद :- स्वयं के गुरु के चरण प्रसाद से जो कोई भी शक्ति मेरे में है - उस शक्ति द्वारा उपमा, श्लेष, रूपक तथा वर्णक से युक्त काव्य बना सकता हूँ। फिर भी इस प्रकार का असमस्त अर्थात् अल्प शब्द और अधिक अर्थवाला काव्य मेरे द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है किन्तु अज्ञानी लोगों के बोध के लिए स्पष्ट अर्थवाला काव्य रचित होता है।

गाथा :- किञ्च । कथा प्रेरणा  
सीसिणि-मयहरियाए गुरु-भगिणीए अलंघ-वयणाए ।  
सिरि-कल्लाणमईए पवत्तिणीए उ वयणेण ॥४१॥  
पारुद्धा जं एसा कवित्त-गव्वेण नो मए, तेण ।  
कीरइ 'उत्तानात्था पाइय-गाहाहिं ललिय-पया ॥४२॥

छाया :-

शिष्या महत्तराया गुरुभगिन्या अलंघ्यवचनायाः ।  
श्रीकल्याणमत्याः प्रवर्तिन्याः तु वचनेन ॥४१॥  
प्रारब्धा यदेषा कवित्व गर्वेण न मया तेन ।  
क्रियते उत्तानार्था प्राकृतगाथाभिर्ललितपदा ॥४२॥

-युग्मम्

अर्थ :- वली

अलंघ्य वचनवाला महत्तरा शिष्या मोटा बेन श्री कल्याणमति प्रवर्तिनीना वचन बडे स्पष्ट अर्थयुक्त, मनोहर पदवालु, आ काव्य प्राकृत गाथाओ बडे मारा बडे प्रारंभ कराय छे। परंतु कविपणाना गर्वथी नहि....

हिन्दी अनुवाद :- अलंघ्य वचनवाले महत्तरा शिष्या बड़ी बहन श्री कल्याणमति प्रवर्तिनी के वचन से प्रेरित स्पष्ट अर्थयुक्त, मनोहर पदयुक्त यह काव्य प्राकृत गाथाओं से मेरे द्वारा प्रारंभ किया जाता है, किन्तु कवित्व के गर्व से नहीं।

गाथा :- परिच्छेद गाथानी संख्या  
हुं पज्जतं बहुणा पत्थुय-विग्घावहेण विहलेण ।  
विहव-कुल-बालिया-कय-कडक्ख-विक्खेव-सरिसेणं ॥४३॥  
निसुणह एगग-मणा होउमियाणिं कहं कहिज्जंतं ।  
अइडाइज्ज-सएहिं गाहाणं कय-परिच्छेयं ॥४४॥ -जुम्मं

छाया :-

हन्त पर्याप्तं बहुना प्रस्तुताविघ्नपथा विफलैः ।  
विभवकुलबालिका कृत-कटाक्षविक्षेप सदृशैः ॥४३॥

१. स्पष्टार्थाः

निष्पृणुत एकाग्रमनसो भूत्वा इदानीं कथां कथ्यमानाम् ।

अर्धतृतीयशतैर्गाथानां

कृत-परिच्छेदम् ॥४४॥

अर्थ :- विभव अर्थात् समृद्ध कुलनी बालिका बड़े करायेला कटाक्षना विक्षेप समान, निष्फल एवा घणा विघ्नना भय बड़े सयु। हवे अढीसो गाथा बड़े करायेलो आ प्रथम परिच्छेद छे। जेमां कहेवाती कथाने हमणां एकाग्र मनवाळा थइने, तमे सांभळो।

हिन्दी अनुवाद :- विभव अर्थात् समृद्ध कुल की बालिका द्वारा हुए कटाक्ष के विक्षेपतुल्य, निष्फल ऐसे बहुत विघ्नों के भय से क्या ? अब अढाई सौ (२५०) गाथाओं का यह प्रथम परिच्छेद है - अब गुम्फित कथा को एकाग्र मन से आप सुनो।

गाथा :-

जंबूद्वीप वर्णन

अत्थेत्थ सुवित्थिन्नो उड्ढाहो-लोग-मज्झयारम्मि ।

नामेण तिरिय-लोगो विबुहाणुगओ सुमेरुव्व ॥४५॥

छाया :-

अस्त्यत्र सुविस्तीर्ण ऊर्ध्वाधोलोकमध्ये ।

नाम्ना तिर्यग्लोको विबुधानुगतः सुमेरुरिव ॥४५॥

अर्थ :- देवो बड़े सेवित मेरु पर्वतनी जेम पंडितो बड़े सेवायेल मोटा विस्तारवालो ऊर्ध्व-अधोलोकनी मध्यमां तिर्च्छालोक नामनो लोक छे।

हिन्दी अनुवाद :- देवों से सेवित मेरु पर्वत की तरह पण्डितों से सेवित बृहत् विस्तारवाला ऊर्ध्व-अधोलोक के मध्य में तिर्च्छालोक नाम का लोक है।

गाथा :-

दीवो उ अत्थि तत्थवि वित्थरओ जोयणाण लक्खं तु ।

जलहि-वलयावगूढो जंबुद्वीवो त्ति विक्खाओ ॥४६॥

छाया :-

द्वीपस्त्वस्ति तत्रापि विस्तारतो योजनानां लक्षं तु ।

जलाधिवलयावगूढो जंबूद्वीप इति विख्यातः ॥४६॥

अर्थ :- आ तिर्च्छालोकमां समुद्रना वलयोथी घेरायेलो, लाख योजन प्रमाण विस्तारवालो, प्रख्यात जंबूद्वीप नामनो द्वीप छे।

हिन्दी अनुवाद :- इस तिर्च्छालोक में समुद्र के वलयों से आवृत, लाख योजन प्रमाण विस्तृत और प्रख्यात जंबूद्वीप नाम का द्वीप है।

गाथा :-

भरतक्षेत्र वर्णन

तस्स थ दाहिण-भागे भरहं नामेण अत्थि वर-खेत्तं ।

वेयड्ढ नग-वरेण दुहा-विहत्तं सुवित्थिन्नं ॥४७॥

छाया :-

तस्य च दक्षिणभागे भरतं नाम्नास्ति वरक्षेत्रम् ।

वैताढ्यनगवरेण द्विधा विभक्तं सुविस्तीर्णम् ॥४७॥

१. मज्झयारम्मि-दे

२. विबुधाः = पण्डिताः देवाश्च

अर्थ :- ते जंबुद्वीपना दक्षिण भागमां वैताढ्य नामना श्रेष्ठ पर्वत बडे बे प्रकारे विभाग पामेलुं, सारा विस्तारवालुं भरत नामे श्रेष्ठ क्षेत्र छे।

हिन्दी अनुवाद :- उस जम्बुद्वीप के दक्षिण भाग में वैताढ्य नाम के श्रेष्ठ पर्वत से दो प्रकार से विभाजित सुन्दर विस्तारवाला भरत नाम का श्रेष्ठ क्षेत्र है।

गाथा :-

कुरुदेश वर्णन

अह दाहिणड्ड-भरहे गंगा-सिंधूण मज्झयारम्पि ।  
 कप्प-दुमोव्व दुमाणं बहु-देसाणं पहाणयरो ॥४८॥  
 धन्न-समिद्धिल-पामर-रासय-संसह-पूरिय-दियंतो ।  
 अवि-करह-मसिह-रासह-नाणाविह-गोहणाइन्नो ॥४९॥  
 पइदियह-वहंताणेय-सारणी-विसर-रेहिरुज्जाणो ।  
 पुर-नगर-गाम-पउरो बहु-रिद्धि-समिद्ध-सयल-जणो ॥५०॥  
 निच्चं पमुइय-लोओ नाणाविह-उच्छवेहिं अविरहिओ ।  
 भय-डमर-रहिय-गामो कुरुत्ति नामेण वर-देसो ॥५१॥

छाया :-

अथ दक्षिणार्धभरते गंगासिंधोर्मध्ये ।  
 कल्पद्रुम इव द्रुमाणां बहुदेशानां प्रधानतरः ॥४८॥  
 धान्य-समृद्धिवत्-पामर-रासक-संशब्दपूरितादिगन्तः ।  
 अवि-करभ-महिष-रासभ-नानाविधगोधनाकीर्णः ॥४९॥  
 प्रतिदिवसवहदनेकसारणी-विसर-शोभाशीलोद्यानः ।  
 पुर-नगर-ग्रामप्रचुरो बहु-ऋद्धि-समृद्धिसकलजनः ॥५०॥  
 नित्यं प्रमुदितलोको नानाविधोत्सवैरविरहितः ।  
 भय-डमर-रहितग्रामः “कुरु” इति नाम्ना वरदेशः ॥५१॥

-चतसृभिः कलापकम्

अर्थ :- हवे दक्षिणार्ध भरतमां गंगा-सिंधुनी मध्यमां वृक्षोमां कल्पवृक्षनी जेम अनेक देशोमां प्रधान...धान्यथी समृद्ध, खेडूत अने रासना शब्दोथी पूराथेला दिशाओना अंत छे जेमा...वली बकरा, ऊंट, भैंस, गधेड़ा तथा विविध प्रकारनां गोधनथी व्याप्त...दररोज वहेती अनेक नदीओ तथा नहेरोथी शोभित उद्यानवालो...पुर नगर-ग्रामथी प्रचूर तथा अनेक प्रकारनी ऋद्धिथी समृद्ध, समस्त लोकथी युक्त...हमेशा आनंदित लोकयुक्त, निरंतर विविध प्रकारना उत्सवोथी व्याप्त, भय-उपद्रवथी रहित गामो जेमां छे तेवो नामवडे कुरु नामनी श्रेष्ठ देश छे।

हिन्दी अनुवाद :- अब दक्षिणार्ध भरत में गंगा-सिंधु के मध्य में, वृक्षों में कल्पवृक्ष की तरह अनेक देशों में श्रेष्ठ, धान्य से समृद्ध, कृषिबल और रास के शब्दों से दिशायें जिसमें व्याप्त हैं..... और बकरे, ऊंट, भैंस, गधेड़े तथा विविध प्रकार के गोधन से व्याप्त..... हर रोज बहती अनेक नदियाँ तथा नहरों से शोभित उद्यान-सहित..... पुर-नगर-ग्राम से प्रचुर तथा अनेक प्रकार की ऋद्धि से समृद्ध, जनसंकुल युक्त तथा प्रतिदिन आनन्दित लोकयुक्त, सदैव विविध प्रकार के उत्सवों से व्याप्त, भय-उपद्रव से रहित समस्त गांवों में श्रेष्ठ कुरु नाम का देश है।

गाहा :- अविय ।

अणवरय-वहंताणेय-वणिय-सत्थोह<sup>१</sup>-वसिम-सयल-पहो ।

जत्थ न नज्जइ पहि पहिं अडवि-वसि-ठाणय-विसेसो ॥५२॥

छाया :- अपि च

<sup>१</sup>अणवरतवहदनेकवणिकसार्थवाहवसतिमत्-सकलपथः ।

यत्र न ज्ञायते पथि पथ्यटवि-<sup>२</sup>वसति-स्थानकविशेषः ॥५२॥

अर्थ :- अने वली

जता आवता अनेक वेपारी सार्थवाहनां समूहथी वासित संपूर्ण मार्गवालो-ज्यां दरेक मार्गमां जंगल अने वसतिनां स्थाननो भेद नथी जणातो (तेवो देशा हतो)

हिन्दी अनुवाद :- आते-जाते अनेक व्यापारी सार्थवाह के समूह से युक्त सम्पूर्ण मार्ग जहाँ हैं और जहाँ मार्ग में जंगल और वसति के स्थान का भेद नहीं है (वैसा वह देश था)।

गाहा :-

लोको विशाल हृदयवाला

अन्नं च तम्मि देसे गुणाण भवणम्मि एयमच्छरियं ।

सोअ-रहिओवि जं सुणइ जणवओ लोय-भणियाइं ॥५३॥

छाया :-

अन्यच्च तस्मिन् देशे गुणानां भवन एतदाश्चर्यम् ।

(श्रोत्र) शोकरहितोऽपि यत् शृणोति जनपदो लोकभणितानि ॥५३॥

अर्थ :- अने वली बीजु ते देशमां गुणोनां (स्थानमां) भवनमां आ आश्चर्यं हतु। के बहेरोपण (कानरहित) एवो देशा अर्थात् देशानां लोको, लोकनुं बोलेलु सांभलता हता।

बहेरो केम सांभले ? अही विरोधाभास अलंकार छे।

सोअ रहिओ शोकरहित एवो अर्थ करीने कर्यो छे।

केमके दुःखियारो होय ते लोकोनी वातो सांभले, पण आ गाममा तो शोकरहित अर्थात् दुःखरहित पण ते मानव लोकोनी वातोने सांभलतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- और फिर इस देश में गुणों के स्थान में एक आश्चर्य था कि बहरा (कान रहित) भी देश के लोगों का कहा हुआ सुनते थे। बधिर कैसे सुनता? यहाँ विरोधाभास अलंकार है। सोअ रहिओ=शोकरहित ऐसा अर्थ करना।

क्योंकि दुःखी लोग लोगों की बात सुनते हैं, किन्तु इस गाँव में तो सुखी मानव भी लोगों की बात सुनता था।

गाहा :- अविय ।

जत्थ य गाम-महल्ला कर-रहिया धम्म-वज्जिया मुणियो ।

देसस्स तस्स संवणणम्मि को उज्जमं कुणइ ? ॥५४॥

१. सत्थोह=सार्थवाह सम्प्रसारणा नियमथी वाह नो उह थयो छे। अने सत्थ उह नी सन्धि थवाथी सत्थोह थयो छे। ८।१।८८ सूत्र नहिं लागवाथी संस्कृतवत् कर्यो छे।

२. वसिम-दे

छाया :- अपि च

यत्र च 'ग्रामनिवहः कटरहिता धर्मवर्जिता मुनयः ।

देशस्य तस्य संवर्णने क उद्यमं करोति ? ॥५४॥

अर्थ :- अने वली

ज्यां गामना मुखीओ अने गामना समूहो (कट) हाथ वगरना हता...अने मुनिओ धर्मथी रहित हता। आवा ते देशनां वर्णनमां कोण उद्यम करे ? अर्थात् ते देशानुं वर्णन करवा कोण समर्थ बने ?

अहीं विरोधाभास अलंकार छे। तेनो परिहार आ प्रमाणे।

कटरहिया =महेसूल (टेक्स) वगेरेना - धम्मवज्जिया=धनुष्यथी रहित अर्थात् मुनिभगवंतो धनुष्यथी रहित हता।

हिन्दी अनुवाद :- जहाँ ग्राम के प्रधान और ग्राम का समूह कर रहित था...और मुनि धर्म से रहित थे। ऐसे उस देश का वर्णन करने के लिए कौन उद्यमित बनेगा ? अर्थात् उस देश का वर्णन करने में कौन समर्थ होगा ?

यहाँ विरोधाभास अलंकार है, उनका परिहार इस प्रकार है :-

कर रहिया = महसूल (टैक्स) बिना के थे।

धम्मवज्जिया = धनुष से रहित अर्थात् मुनिभगवंत धनुष्य से रहित थे।

गाहा :-

तत्थवि य अत्थि वित्थिन्न-जलहि-वलयाणुकारि-परिहाए ।

पर-पुरिसालंधाए परिकिखतं भमिर-मयराए ॥५५॥

छाया :-

तत्रापि चास्ति विस्तीर्ण जलधिवलयानुकारिपरिखया ।

परपुरुषालङ्घ्यया परिक्षिप्तं भ्रमणशीलमकरया ॥५५॥

अर्थ :- ते कुरुक्षेत्रमां पण चारेबाजुथी समुद्रना वलय समान आकारवाली, दुश्मन राज्यना पुरुषो बड़े अलंघ्य एवी भ्रमण करतां मगरोवाली खाइ हती।

हिन्दी अनुवाद :- उस कुरुक्षेत्र में भी चारों ओर से समुद्र के वलय जैसी दुश्मन राज्य के पुरुषों के लिए अलंघ्य वैसी घूमते हुए मगरमच्छ युक्त खाई थी।

गाहा :-

हस्तिनापुर नगरनुं वर्णन

पडिवक्ख-भयुप्पायण-विसाल-सालेण परिगयं रम्मं ।

रमणीय-मगर-तोरण-गोउर-दारेहिं परिकिन्नं ॥५६॥

अइनील-बहल-उववण-विरायमाणावसाण-भागेहिं ।

मत्तालंबं-गवक्खय-जुएहिं वर-चित्त-जुत्तेहिं ॥५७॥

नाणा-भूमि-जुएहिं पासाएहिं तुसार-धवलेहिं ।

तन्नयर-वासि-जण-जस-थूहेहिक्ख निच्चमइरम्मं ॥५८॥

१. महल्लो : वृद्धो निवहश्च

तह अवरावर-देसागण तन्नयर-वासिणा चव ।  
 वणिय-कला-निउणेण पइदियहं वणिय-लोएण ॥५९॥  
 किज्जंत-वणिज्जेहिं विरायमाणं अणेग-हट्टेहिं ।  
 परिपूरिएहिं अंतो बहु-मुल्ल-कियाणग-सएहिं ॥६०॥  
 उत्तुंग-मगर-तोरण-पवणुद्धुय-धवल-धय-वड्ढेहिं ।  
 सुंदर-देव-उलेहिं उवसोहिय-सुंदर-पएसं ॥६१॥  
 तह पंडु-पउम-संडोह-मंडियाणेय-गुरुतर-सरेहिं ।  
 सोवाण-पंति-सुगमावयार-वावी-सहस्सेहिं ॥६२॥  
 वर-तिय-चउक्क-चच्चर आरामुज्जाण दीहियाईहिं ।  
 देवाणमवि कुणंतं पए पए चित्त-संहरणं ॥६३॥  
 सयलन्न-पुर-पहाणं नयरं सिरि-हत्थिणाउरं नाम ।  
 नयर-गुणेहुववेयं संकासं अमर-नयरस्स ॥६४॥

छाया :-

प्रतिपक्ष-भयोत्पादन-विशालशालेन परिगतं रम्यम् ।  
 रमणीय-मकर-तोरण-गोपुर द्वारैः परिकीर्णम् ॥५६॥  
 अतिनील-बहल-उपवन्विराजमानावसानभागीः ।  
 मत्तालम्बगवाक्षकयुतैः वरचित्रयुक्तैः ॥५७॥  
 नानाभूमि-युतैः प्रासादैः तुषारधवलैः ।  
 तन्नगरवासिजनयशः शिखरैरिव नित्यमतिरम्यम् ॥५८॥  
 तथाऽपरापरदेशागतेन तन्नगरवासिना चैव ।  
 वणिककलानिपुणेन, प्रतिदिवसं वणिग्लोकेन ॥५९॥  
 क्रियमाणवाणिज्यैः विराजमानमनेकहट्टैः ।  
 परिपूरितैरन्तो बहुमूल्य-क्याणक शतैः ॥६०॥  
 उत्तुंगमकरतोरण-पवनीद्धुत-धवलध्वजपटाढयैः ।  
 सुन्दरदेवकुलैरुपशोभितसुन्दरप्रदेशम् ॥६१॥  
 तथा पाण्डुपद्मखण्डीघमण्डितानेक-गुरुतरसरोभिः ।  
 सोपानपङ्क्ति-सुगमावतार-वापीसहस्रैः ॥६२॥  
 वर-त्रिक-चतुष्क-चत्वरारामोद्यान दीर्घिकाभिः ।  
 देवानामपि कुर्वत्पदे पदे चित्तसंहरणम् ॥६३॥  
 सकलान्यपुर-प्रधानं नगरं श्रीहस्तिनापुरं नाम ।  
 नगरगुणैरूपेतं सकाशममरनगरस्य ॥६४॥

-नवमिंकुलकम्

अर्थ :- ते कुरूक्षेत्रमां दुश्मनोने भय उत्पन्न करावे तेवा विशाल किल्ला बडे युक्त, मनोहर, सुंदर, मगर (आकार) ना तोरणो तथा गोपुर (नगर) ना द्वारो वडे व्याप्त...अत्यन्त लीलाछम उपवन्थी शोभता अंतिम भागवाळुं प्रांगण अने गवाक्षोथी युक्त...श्रेष्ठ चित्रोथी मनोहर...विविध भूमिथी युक्त तथा बरफ जेवा



श्वेत प्रासादोवाळुं नगरवासी लोकोना यश रूप प्रासाद शिखरनी जेम हमेशा अत्यंत मनोहर.....विविध देशोथी आवेला वेपारीओनी साथे, ते नगरवासी, वणिक्कलामां निपुण एवा वणिक् लोको वडे निरंतर कराता व्यापार वडे जाहोजलाल (शोभती) अनेक दुकानोवाळुं, घणा मूल्यवाला सेकडो करियाणाथी पूराइ गयेला अंत भागवाळुं.....ऊंचा मगरना तोरणवाळी, पवनथी उडी रहेली श्वेत ध्वज पताकाओवाला मंदिरोथी शोभतो सुंदर प्रदेश जेमां छे तेवुं.....

तथा विकसित पद्मखंडना समूहथी शोभित अनेक विशाल सरोवरवाळुं, सोपान श्रेणि वडे सहैलाथी नीचे उतरी शाकाय एवी हजारो वावडीवाळुं.....

श्रेष्ठ त्रिक-चतुष्क मोटा बगीचा, उद्यान तथा नदी आदि वडे स्थाने स्थाने देवोना पण चित्तने हरनारुं (आकर्षण करनारुं).....कलाकुशल, अन्य नगरोथी श्रेष्ठ. नगरना गुणोथी युक्त, अने देवोनी नगरी अमरावती जेवुं हस्तिनापुर नामनुं नगर हतुं !

हिन्दी अनुवाद :- उस कुरुक्षेत्र में दुश्मनों को भय उत्पन्न हो ऐसे विशाल किलेवाला, मनोहर, सुंदर, मगर के आकार वाले तोरण तथा गोपुर (नगर) के द्वारों से युक्त....अत्यंत हरियाले उपवनों से शोभित, प्रांगण और गवाक्षों से युक्त.....श्रेष्ठ चित्रों से मनोहर, विविध भूमि से अलंकृत तथा बर्फ जैसे श्वेत प्रासाद सहित नगरवासी लोगों के यश तुल्य प्रासाद शिखर की तरह प्रतिदिन अत्यंत मनोहर.....विविध देशों से आये हुए व्यापारियों के साथ में (वे नगरवासी) वणिक्कला में कुशल ऐसे वणिक्लोगों के साथ व्यापार करने से समृद्ध अनेक दुकानवालों, अति मूल्यवान् किराणा से भरे हुए भूगर्भवाला, ऊँचे मगर के तोरणवाली, पवन से हिलती श्वेत ध्वज पताकाओं से युक्त मंदिरों से सुशोभित सुंदर प्रदेश जहाँ है.....

तथा विकसित पद्मखण्ड के समूह से मनोहर, अनेक विशाल सरोवरवाला, सोपान श्रेणी से सरलता से नीचे उतर सके ऐसी हजार वापीवाला.....देवों के चित्त को भी हरानेवाला, कला कुशल, अन्य नगर से श्रेष्ठ, नगर के गुणों से युक्त और देवों की नगरी अमरावती सदृश हस्तिनापुर नाम का नगर था।

गाहा :- हस्तिनापुर नगरवासीनुं वर्णन

जत्थ य निवसइ लोओ पियंवओ धम्म-करण-तल्लिच्छो ।

दक्खिन्न-चाय-भोगेहि संगओ तह कला-कुसलो ॥६५॥

छाया :-

यत्र च निवसति लोकः प्रियंवदः धर्मकरण-तल्लिप्सः ।

दाक्षिण्य-त्याग-भोगीः सङ्गतस्तथा कला-कुशलः ॥६५॥

अर्थ :- ते हस्तिनापुर नगरमां प्रिय बोलनार, धर्म करवानी इच्छावाला, दाक्षिण्य, त्याग अने भोगवाला तथा कलाओमां कुशल लोको रहेता हता.....

हिन्दी अनुवाद :- उस हस्तिनापुर नगर में मधुरभाषी, धर्म करने के इच्छुक, दाक्षिण्य, त्याग और भोगरसिक तथा कलाओं में कुशल लोग रहते थे।

गाहा :-

हस्तिनापुर नगरनो राजमार्ग

जत्थ य पुरम्मि निच्चं इओ तओ बहु-पओयण-परेण ।

भमिर-जण-समुदएणं दुस्संचाराओ रत्थाओ ॥६६॥

छाया :-

यत्र च पुरे नित्यमितस्ततो बहुप्रयोजनपरेण ।

भ्रमणशील-जन्-समुदायेन दुःसंचारात् रथ्याः ॥६६॥

अर्थ :- ते नगरमां हमेशां घणा प्रयोजन वसात् एक बाजुथी बीजीबाजु भमता एवा लोकोनां समुदाय वडे राजमार्ग एकदम सांकडो थइ गयो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- उस नगर में सदैव बहुत प्रयोजनों के कारण एक ओर से दूसरी ओर भ्रमणशील लोगों के समुदाय से राजमार्ग अतीव संकुचित हो गया था।

गाहा :-

नगरनी पताकानु वर्णन

जत्थ य कोडि-पडाया-पच्छाइय-सयल-गयण-मग्गम्मि ।

लोओ गिम्ह दिणेसुवि रवि-कर-तावं न याणेइ ॥६७॥

छाया :-

यत्र च कोटिः पताका-प्रच्छादित-सकलगगनमार्गो ।

लोको ग्रीष्मदिनेष्वपि रविकर-तापं न जानाति ॥६७॥

अर्थ :- (जे कोडपति होथ तेना महेल पर पताका होय) अने ज्यां कोटि पताकाथी ठंकाई गयेला आखा गगनना मार्गो होते छेते गरमीनादिवसोमां पण लोको सूर्यना किरणोना तापने जाणता न हता। अर्थात् ते नगर कोटयाधीपतिना गगनचुंबी महेलोथी व्याप्त हतो।

हिन्दी अनुवाद :- (कोट्याधिपति के महलों पर पताका लहराती है) और जहाँ कोट्याधिपति की करोड़ों पताकाओं से व्याप्त सम्पूर्ण गगन-मार्ग होने से ग्रीष्मकाल में भी लोग सूर्य के किरणों के ताप को जानते नहीं थे। (अर्थात् वह नगर कोट्याधिपति के गगनचुंबी महलों से अपने नगर की सुषमा बढ़ाता था।)

गाहा :-

नगरनी समृद्धि

जत्थ य पुरम्मि पुरिसा घर-भित्ति-निहित्त-मणि-मऊहेहिं ।

निच्चं हयंधयारे-गयंपि राइं न याणांति ॥६८॥

छाया :-

यत्र च पुरे पुरुषा गृह-भित्ति-निहितमणिमयूखैः ।

नित्यं हतान्धकारे गतामपि रात्रिं न जानन्ति ॥६८॥

अर्थ :- जे नगरमां (पुरुष) घरनी दिवालोमां जडेला मणिओनी किरणाओ वडे हमेशा अंधकार नाश थये छते पसार थयेली रात्रिने पण जाणता नथी। (अर्थात् हाल तीजोरीमां पण रत्नो सलामत नथी त्यां ते वखते दीवालमां आवा कीमति रत्नो जडाता हता)। (राम-राज्य हउ)

हिन्दी अनुवाद :- उस नगर के मनुष्य गृह की दीवारों में जड़ित मणियों की किरणों से सदैव अंधकार नाश होने से रात्रि को भी जानते नहीं थे। (अर्थात् अभी तिजोरी में भी रत्न सुरक्षित नहीं हैं, तब उस समय लोग दीवाल में भी निर्भयता से ऐसे कीमती रत्न अंकित करते थे। (राम-राज्य था)

गाहा :- नगरनी रमणीयता

रम्पत्तणओ जस्स य पलोयणत्थं व आगया देवा ।  
कोउगवक्खित्त-मणा अणमिस-नयणत्तणं पत्ता ॥६९॥

छाया :-

रम्यक्त्वतो यस्य च प्रलोकनार्थमिवागता देवाः ।

कौतुक-व्याक्षिप्तमनसोऽनिमेषनयनत्वं प्राप्ताः ॥६९॥

अर्थ :- ते नगर एवु मनोहर हत्तु के, नगरनी मनोहरता जोवा माटे ज जाणे देवो आव्या न होय तेम कौतुकथी खँचायेला मनवाला ते देवो अनिमेष नयनपणाने पाम्या। (अहीं अतिशयोक्ति अलंकार छे)।

हिन्दी अनुवाद :- वह नगर इतना मनोहर था कि नगर की मनोहरता को देखने के लिए ही आकृष्ट चित्तवाले देवलोक के देव भी अनिमेष नयनत्व को प्राप्त हुए (पाये)।

गाहा :- नगरनी शोभारूप धजा वर्णन

धवल-हर-सिहर-विरइय-पवण-पहल्लंत-वेजयंतीओ ।  
सन्नंति व रविणो सारहिस्स अइउच्च-गमणट्टा ॥७०॥

छाया :-

नगरनी विशिष्टानुं वर्णन

धवलगृह-शिखर-विरचितपवन-घूर्ण्यमानवैजयन्त्यः ।

संभ्रान्तीव रवेः सारथैरत्युच्च-गमनार्थाः ॥७०॥

अर्थ :- सफेद घरनां शिखरो उपर रहेली पवनथी उडती धजाओ जाणे सूर्यना सारथिने उपर आववा माटे इशारो न करती होय एवु लागे छे।

(अर्थात् घरनां शिखरो सूर्य-चन्द्रने आंबी गया होय तेवा विशाल हता)।

हिन्दी अनुवाद :- श्वेत घर के शिखरों पर पवन से हिलती ध्वजाएँ भी मानो सूर्य के सारथी को ऊपर आने के लिए इशारा करती हों ऐसा लगता है। (अर्थात् गृह के शिखरें सूर्य-चन्द्र को छू गए हों इतने विशाल थे)।

गाहा :-

जत्थ य पुरम्पि दीसइ पाय-पहारो उ रंग-भूमीसु ।  
दंडो उ धय-वडाणं सीस-च्छेओ जुयारीण' ॥७१॥

छाया :-

यत्र च पुरे दृश्यते पाद-प्रहारस्तु रङ्गभूमिषु ।

दण्डस्तु ध्वज-पटानां शीर्षच्छेदो 'जुयारीणाम् ॥७१॥

अर्थ :- जे नगरमां पाद प्रहार (पग वड़े मार) मात्र नाट्य गृहमां देखातो हतो। दंड तो मात्र मंदिरना ध्वज पट्टोमां ज देखाता हता। अने मस्तकनो छेद मात्र जुवारनो थतो हतो । (अर्थात् नगरना लोको पटला बधा शांत हता के कोई मारामारी-गुनाखोरी करता न हता के जेथी तेमने दंड के वध करवो पड़े)।

१. जुयारी: - धान्यविशेष - ज्वार इति भाषायाम् ।

हिन्दी अनुवाद :- जिस नगर में पाद प्रहार मात्र नाट्य गृह में दिखाई देता था। दण्ड तो मात्र मंदिर के ध्वज पट्ट में ही दिखता था और मस्तक का उच्छेद मात्र जुवारी का ही होता था। (अर्थात् नगर के लोग इतने शान्त थे कि कोई भी जन मारामारी-लूटपाट कुछ भी करते नहीं थे जिससे उनको दण्ड देना पड़े या उनका वध करना पड़े।

गाहा :-

कुसुमाण सिरसि बंधो साग-च्छेत्तेसु जीव-कत्तणया ।  
तह पंडिय-परिसासु पत्ताणं हंदि! भिंदणया ॥७२॥

छाया :-

कुसुमानां शिरसि बन्धः शाकक्षेत्रेषु जीवकर्तनता ।  
तथा पण्डितपरिषत्सु प्राप्तानां हन्त ! भेदनता ॥७२॥

अर्थ :- फूलोन्को बंधन मात्र मस्तकमां ज हतो, जीवोने कापवानुं मात्र शाकनां खेतरमां थतु हतु, तथा पंडितोनी पर्षदामां ज कागळोनुं भेदन थतु हतु। (अर्थात् नागरीकोने कोइ पण बंधनमां नाखवा पडता न हता। अने कोईने सूली ऊपर चडाववा पडता नहि, तथा तलवारथी कोइनो भेद पण थतो न हतो)

हिन्दी अनुवाद :- फूलों का बंधन मात्र मस्तक में ही था, जीवों को काटने का मात्र सब्जी के खेत में ही था तथा पण्डितों की पर्षदा में ही कागज का भेद था।

(अर्थात् नागरिकों को किसी भी प्रकार का बंधन, शूली-रोपण और उन पर तलवार का भेद नहीं होता था।)

गाहा :-

अह एक्को च्चिय दोसो गुणाण भवणम्मि तम्मि नयरम्मि ।  
निदोस-साहुणो जं सयावि दीसंति गुत्ति-ठिया ॥७३॥

छाया :-

अथ एक एव दोषो गुणानां भवने तस्मिन्नगरे ।  
निर्दोषसाधवो यत् सदापि दृश्यन्ते गुप्ति-स्थिताः ॥७३॥

अर्थ :- गुणोना भवनरूप ते नगरमां एक ज दोष हतो जे निर्दोष एवा साधुओ पण हम्मेशा जेलमां देखातां हता। (अहीं निर्दोषसाधुओ अने जेलमां रहेवु ते विरोध सूचक छे। गुप्ति=मन-वचन-कायाणी गुप्तिथी गुप्त रहेवु। अर्थात् आ नगरमां बधा साधु भगवंतो गुप्तिना पालनमां लागेला हता।)

विरोधात्कार छे ।

हिन्दी अनुवाद :- गुणों के भवन तुल्य नगर में एक ही दोष था कि यहां निर्दोष साधु-महात्मा भी सदैव जेल (गुप्ति) में दृष्टिगोचर होते थे। (यहाँ निर्दोषसाधुपुरुष और जेल में रहना वह विरोध सूचक है। गुप्ति=मन-वचन-काया की गुप्ति से गुप्त रहना अर्थात् इस नगर में सभी साधुभगवंत गुप्ति के पालन में लीन थे)। विरोधाभास अलंकार है।

गाहा :-

पांच श्लोक बड़े राजानुं वर्णन  
अह तस्मि पुरम्मि पहू पभूय करि तुरय रयण भंडारो ।  
जह भणिय नीइ-पालण-आणंदिय-सयल-जण चित्तो ॥७४॥

छाया :-

अथ तस्मिन् पुरे प्रभुः प्रभूतकरि-तुरग-रत्न-मंडारः ।

यथा मणित नीतिपालनानन्दित-सकलजनचित्तः ॥७४॥

अर्थ :- हवे ते नगरमा नीतिना पालन वड़े आनन्दित कर्या छे सकल लोकोना मनने एवो पुष्कल हाथी, घोडा, अने रत्नोनां मंडारवालो राजा हतो। जे प्रमाणे नीतिशास्त्रमां कहयु छे ते प्रमाणे।

हिन्दी अनुवाद :- उस नगर के राजा ने नीति का पालन करके समस्त प्रजाजनों के मन को आनंद प्रदान किया है, वैसा विपुल हाथी-घोड़े और रत्नों के भण्डारवाला वह राजा था।

गाहा :-

निय-बुद्धि-समुदणं वसीकयासेस-सत्तु-संताणो ।

संपूरियत्थि-समुदय-मण-पत्थिय-अत्थ-वित्थारो ॥७५॥

छाया :-

निजबुद्धिसमुदायेन वशीकृताशेष-शत्रुसन्तानः ।

संपूरितार्थिसमुदायमनः प्रार्थितार्थ-विस्तारः ॥७५॥

अर्थ :- पोतानी बुद्धिना समुदाय वड़े वशा करी छे समस्त शत्रु परम्पराने तथा याचक समूहना मनने इच्छित वस्तुओना विस्तार वड़े भरी दीघो छे। एवो ते राजा हतो। (अर्थात् शत्रुओने बुद्धि अने बलथी जीततो हतो अने खूब धनेश्वरी हतो।

हिन्दी अनुवाद :- स्वयं की बुद्धि बल से समस्त शत्रु परम्परा को अपने अधीन बनाया है तथा याचक समूह को मनोवाञ्छित के अर्पण से भर दिया है, वैसा वह राजा था।

(अर्थात् शत्रुओं को बुद्धि और कला से जीतता था और स्वयं अत्यंत धनवन्त था।)

गाहा :-

दठ-कठिण-भुजा-ऽपरिमिय-परक्कम-कंत-सयल-पडिवक्खो ।

पडिवक्ख-भामिणी-वयण-नलिण-संकोयण-मयंको ॥७६॥

छाया :-

दृढ-कठिन-भुजापरिमित-परिक्रमावलान्त-सकलप्रतिपक्षः ।

प्रतिपक्ष-भामिणीवदननलिन-संकोचनमृगाङ्कः ॥७६॥

अर्थ :- दृढ अने कठीन भुजा वड़े, अपरिमित पराक्रम वड़े दबावी दीघा छे सकल दुश्मनोने तथा दुश्मनोनी स्त्रीओनां मुखरूपी कमलने संकुचित करवामां चन्द्र जेवो (अर्थात् राजा बहु पराक्रमी शूरवीर हतो)।

हिन्दी अनुवाद :- दृढ और कठीन भुजा द्वारा अपरिमित पराक्रम से समस्त शत्रुसेना को अपने वश में किया है तथा दुश्मन की स्त्रियों के मुख रूपी कमल को संकुचित करने में चन्द्र जैसा राजा था (अर्थात् बहु पराक्रमी और शूरवीर था)।

गाहा :-

सूरोव्व पिहु-पयावो सीहो इव अकय-पर-बलासंको ।

उयहिव्व सुगंभीरो चंदो इव जण-मणाणंदो ॥७७॥

छाया :-

सूर इव पृथुप्रतापः सिंह इवाकृत-परबलाशङ्कः ।

उदधिरिव सुगंभीरश्चन्द्र इव जन्मन-आनन्दः ॥७७॥

अर्थ :- सूर्य जेवा मोटाप्रतापवालो, सिंहनी जेम बीजाना बलानी शंका नहि करतो समुद्र जेवो गंभीर तथा चन्द्रनी जेम लोकोना मनने आनंद आपनारो। (अर्थात् राजा बलवान् गंभीर अने आनंदी स्वभाववालो हतो)।

हिन्दी अनुवाद :- सूर्य जैसे विशाल प्रतापवाला, सिंह की तरह अन्य के बल से भय नहीं करनेवाला, समुद्र सदृश गंभीर तथा चन्द्रमा के तुल्य लोगों के चित्त को आनन्दित करनेवाला राजा था (अर्थात् बलवान्, गंभीर और आनंदी स्वभाव वाला था)।

गाहा :-

रूपेण कामदेवो बुद्धीए सुर-गुरुस्स सारिच्छो ।

निवसइ पमोय-पत्तो राया सिरि-अमरकेउत्ति ॥७८॥

छाया :-

रूपेण कामदेवो बुद्ध्या सुरगुरोः सदृक्षः ।

निवसति प्रमोदप्राप्तो राजा श्रीअमरकेतुरिति ॥७८॥

-पंचमिः कुलकम्

अर्थ :- रूपवड़े कामदेव, बुद्धिवड़े बृहस्पतिसमान, आनन्दित श्री अमरकेतु-नामनी राजा हतो ! (राजा बुद्धि अने रूप बंनेमां समतोल हतो अर्थात् एक राजा तरीके भीम अने कान्त जे बे गुणोनी अपेक्षा होय छे। ते राजामां होवाथी राजा सर्व गुण संपन्न हतो)।

हिन्दी अनुवाद :- रूप से कामदेव सदृश, बुद्धि से बृहस्पति समान आनन्दित श्री अमरकेतु नाम का राजा था। (राजा बुद्धि और रूप दोनों में समतोल था अर्थात् नृपत्व के गुण-भीम-कान्त दोनों गुणों से वसित था। अतः राजा सर्व-गुण सम्पन्न था।)

गाहा :-

राजा द्वारा राज्य पालन

तस्स य ति-वग्ग-सारं रज्ज-सिरिं सम्ममणुहवंतस्स ।

वच्चंति वासराइं इंदस्स व देव-लोगमि ॥७९॥

छाया :-

तस्य च त्रिवर्ग-सारां राज्यभियं सम्यगनुभवतः ।

व्रजन्ति वासराणि इन्द्रस्येव देवलोके ॥७९॥

अर्थ :- त्रण वर्ग (धर्म-अर्थ-काम) ना सारभूत राज्यनी लक्ष्मीने सारी रीते अनुभवता राजानां दिवसो देवलोकमां रहेला इन्द्रनी जेम पूर्ण थता हता।

हिन्दी अनुवाद :- तीन वर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के अर्क तुल्य राज्य की लक्ष्मी को अच्छी तरह से उपभोग करते हुए राजा के दिन देवलोक के इन्द्र की तरह पूर्ण होते थे।

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि अत्थाण-गयस्स राइणो तस्स ।

विणय-पणउत्तमंगो पडिहारो बंधुलो भणई ॥८०॥

छाया :-

अथान्यदा कदाचिदप्यास्थानगतस्य राज्ञः तस्य ।

विनय प्रणतोत्तमाङ्गः प्रतिहारः बंधूलो भणति ॥८०॥

अर्थ :- हवे क्यारेक कोईक वखल सभामां बिराजेलीं ते राजाने, विनयथी नमी गयेला मस्तकवालो बंधूल नामनो चोकीदार आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- एक बार सभा में विराजित राजा को विनयान्वित हुए मस्तकवाला बंधूल नाम का द्वारपाल इस प्रकार कहता है।

गाहा :-

चित्रकार आगमन वृत्तान्त

देव ! कुसगगपुराओ चित्तयरो चित्त-कम्म-पत्तद्वो ।

नामेण चित्तसेणो समागतो चिड्डइ दुवारे ॥८१॥

छाया :-

देव ! कुशाग्रपुरात् चित्रकारश्चित्रकर्म-प्राप्तार्थः ।

नाम्ना चित्रसेनः समागतस्तिष्ठति द्वारे ॥८१॥

अर्थ :- हे देव ! कुशाग्रपुर नगरथी आवेलो चित्रकर्ममां चतुर चित्रकार नाम बडे चित्रसेन द्वार उपर उभो छे।

हिन्दी अनुवाद :- "हे देव ! कुशाग्रपुर नगर से आया हुआ चित्रकर्म में चतुर चित्रसेन नाम का चित्रकार द्वार पर खड़ा है।

गाहा :-

सो देव-पाय-दंसण-सुह-कंखी इच्छए इह पवेसं ।

एवं च ठिए अहं देवाएसो पमाणंति ॥८२॥

छाया :-

स देव-पाददर्शनिशुभकांक्षी इच्छत्यत्र प्रवेशाम् ।

एवं च स्थिते मम देवादेशः प्रमाणमिति ॥८२॥

अर्थ :- हे देव ! आपना चरणनां दर्शनने सुखपूर्वक इच्छतो ते चित्रकार अहीं प्रवेशाने इच्छे छे ! आम होते छते मारे आपनो आदेश प्रमाण छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे देव ! सुखपूर्वक आपके चरणारविन्द के दर्शन का अभिलाषी चित्रकार यहाँ प्रवेश का इच्छुक है। इस प्रकार मुझे आपका आदेश प्रमाण है।

गाहा :-

तत्तो रण्णा भणियं लहुं पवेसेहि, ताहे सो विहिणा ।

अत्थाणम्मि पविट्ठो कय-विणओ राइणो पुरओ ॥८३॥

छाया :-

ततो राज्ञा भणितं लघु प्रवेशाय तदा स विधिना ।

आस्थाने प्रविष्टः कृतविनयो राज्ञः पुरतः ॥८३॥

गाहा :-

चित्रकारनुं आगमन

उवविट्ठो भूमीए रत्ता भणिओ कुओऽसि तं भद् ! ? ।

केण व कज्जेण इहं समागओ मह समीवम्मि ? ॥८४॥

१. पत्तसद्वो = बहुशिक्षितः

छाया :-

उपविष्टी भूमी राज्ञा भणितः कुतोऽसि त्वं भद्र ? ।

केन वा कार्येण इह समागतो मम समीपम् ॥८४॥

अर्थ :- त्यारबाद राजाए कहयु “तेने जल्दी प्रवेश कराव” त्यार बाद विधिपूर्वक राजसभामां प्रवेशोलो, करेला विनयवाळो राजानी आगळ पृथ्वी उपर बेठो राजा वडे तेने पूछायुं हे भद्र ! तुं क्यांथी आव्यो छे ! अथवा क्या कार्य वडे अहीं मारी पासे आवेलो छे ?

हिन्दी अनुवाद :- फिर राजा ने कहा “उनको जल्दी प्रवेश कराइए” पश्चात् विधियुक्त राजसभा में प्रविष्ट चित्रकार विनयान्वित होकर राजा के आगे पृथ्वी पर बैठा। राजा ने उससे पूछा- हे भद्र ! तू कहाँ से आया है ? अथवा किस कार्य से यहाँ मेरे पास आया है ?

गाहा :-

तो भणइ चित्तसेणो कुसग्नयराउ आगओ देव ! ।

चित्तगरो साइसयं जाणामि य चित्त-कम्महं ॥८५॥

छाया :-

ततो भणति चित्रसेनः कुशाग्रनगरादागतो देव ! ।

चित्रकारः सातिशायं जानामि च चित्रकर्म अहम् ॥८५॥

अर्थ :- त्यार पछी चित्रकार चित्रसेने कहयु - हे देव ! हुं कुशाग्रनगरथी आव्यो छुं अने सुंदर चित्रकळाने जाणु छुं।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में चित्रकार चित्रसेन ने कहा - हे देव ! मैं कुशाग्रनगर से आया हूँ और सुंदर चित्रकला को जानता हूँ।

गाहा :-

चित्त-प्पिओ य देवो सुम्मइ वत्तासुं तेण अहमेत्थ ।

चित्त-कलं पयडेउं समागओ देव-पासम्मि ॥८६॥

छाया :-

चित्रप्रियश्च देवः श्रूयते वार्तासु तेनाऽहमत्र ।

चित्रकलां प्रकटयितुं समागतो देवपार्श्वम् ॥८६॥

अर्थ :- आपश्री चित्र प्रिय छो एवुं वातोमां संभलाय छे। तेथी हुं अहींयां चित्रकळाने प्रगट करवा माटे देव एवा आपनी पासे आव्यो छुं।

हिन्दी अनुवाद :- “आप श्री चित्र प्रिय हो ऐसी लोक-मान्यता है। अतः मैं चित्रकला को प्रगट करने हेतु यहाँ, हे देव ! आपके पास आया हूँ।”

गाहा :-

ततो रत्रा भणियं केरिसयं चित्त-कोसलं तुज्झ ? ।

दंसेहि ताव मज्झं आलिहियं किंचि वर-रूवं ॥८७॥



छाया :-

ततो राज्ञा भणितं कीदृशकं चित्रकीशलं तव ?

दर्शय तावद् महामालिखितं किंचिद् वररूपम् ॥८७॥

अर्थ :- राजाए कहयु, तारी चित्रकला केवा प्रकारनी छे ? ते कोई श्रेष्ठरूपवाळुं चित्र बनाव्यु होय तो ते मने बताव।

हिन्दी अनुवाद :- राजा ने कहा - "तेरी चित्रकला किस प्रकार की है ? यदि कोई श्रेष्ठ रूपवाला चित्र हो तो मुझे दिखलाओ।"

गाहा :-

चित्रकार वड़े चित्र दर्शन

अह तेण कक्ख-देसम्मि गोविया चित्त-पट्टिया सहसा ।

पयडीकां रण्णो समप्पिया हिट्ट-वयणेण ॥८८॥

छाया :-

अथ तेन कक्षदेशे गोपिता चित्रपट्टिका सहसा ।

प्रकटीकृत्य राज्ञे समर्पिता हृष्ट-वदनेन ॥८८॥

अर्थ :- त्यारे तेणे पोतानी बगलमां छूपावी राखेली चित्र-पट्टीका तरत ज बहार कादीने प्रसन्न मुखे राजाने समर्पित करी।

हिन्दी अनुवाद :- तब उन्होंने बगल में छुपाई हुई चित्र-पट्टिका तुरंत ही निकालकर प्रसन्न मुख से राजा को समर्पित की।

गाहा :-

चित्रनी विशेषता

पसरंत-पयड-पुलओ राया पुलोएइ तत्थ आलिहियं ।

नाणा-वन्नय-कलियं पमाण-रेहाहिं सुविसुद्धं ॥८९॥

अहिणव-जोव्वण-वर-रूव-जुत्तमच्चंत-मणहरागारं ।

अहिणव-सिह्णारंभं कण्णाए रूवयं पवरं ॥९०॥ -युग्मम्

छाया :-

प्रसरत्-प्रकटपुलको-राजा प्रलोकयति तत्रालिखितम् ।

नानावर्णक कलितं प्रमाण-रेखाभिः सुविशुद्धम् ॥८९॥

अभिनाव-यौवन-वररूप-युक्तमत्यन्तमनोहराकारम् ।

अभिनाव-स्तनारंभं कन्यायाः रूपकं प्रवरम् ॥९०॥

अर्थ :- जुदा-जुदा रंगथी युक्त, प्रमाण रेखाओथी सुविशुद्ध, नवा यौवनथी तथा श्रेष्ठ रूपवाड़े युक्त, अत्यंत मनोहर आकारवाळु नवा स्तनना आरंभवाळु कन्यानुं श्रेष्ठ रूप फेलायेला प्रकट (रोमांच) कंचुकवाळो राजा ते चित्रमां आलेखेलु जुवे छे।

हिन्दी अनुवाद :- रंग-बिरंगे रंगों से युक्त, प्रमाण युक्त रेखाओं से सुविशुद्ध, नूतन यौवन तथा श्रेष्ठ रूपवान्, अत्यंत मनोहर देहाकारवाली नूतन स्तनारंभयुक्त कन्या का श्रेष्ठ रूप, जो चित्रपट्टिका में चित्रित किया हुआ था, उस चित्र को रोमाञ्चित राजा देखता है।

गाहा :-

तं ददुं नर-नाहो चिंतइ एसो हु चित्त-कम्मम्मि ।

अइकुसलो जं लिहियं अउव्व-रूवं इमं रूवं ॥९१॥

१. सिह्ण-दे

छाया :-

तद् दृष्ट्वा नरनाथश्चिंतयति एष खलु चित्रकर्मणि ।

अतिकुशलो यत् लिखितमपूर्व-रूपमिमं रूपम् ॥११॥

अर्थ :- ते जोड़ने राजा विचारे छे के जरूर कोइ चित्रकलामां अत्यंत कुशल चित्रकारे आ अपूर्व रूपने आमा आलेख्यु छे।

हिन्दी अनुवाद :- चित्र को देखकर राजा सोचने लगा - कि अवश्य यह आदमी चित्रकला में अत्यंत कुशल चित्रकार है जिससे उसने ऐसा अपूर्व चित्र बनाया है।

गाहा :-

ति-लोककम्मिवि मन्ने एरिस-रूवा न इत्थिया अत्थि ।

चित्त-कला-निउणत्ता अदिट्ठ-रूवा इमा लिहिया ॥१२॥

छाया :-

त्रिलोकेऽपि मन्ये ईदृशरूपा न स्त्री अस्ति ।

चित्रकला-निपुणत्वाद् अदृष्टरूपा इमा लिखिता ॥१२॥

अर्थ :- हुं एम मानुं छुं के त्रणे लोकमां आवी स्वरूपवती स्त्री नहि होय। चित्रकलानी निपुणता वडे क्यारेय नहीं जोयेलु रूप आमा आलेखायु छे।

हिन्दी अनुवाद :- मैं मानता हूँ कि तीनों लोक में इतनी रूपवती स्त्री नहीं होगी, किन्तु चित्रकला की निपुणता से कभी भी नहीं देखा हुआ रूप इसमें आलेखित है।

गाहा :-

जइ पुण कत्थवि होज्जा एरिस-रूवेण इत्थिया कत्ता ।

तीए वि संगमो जइ ता रज्जं होज्ज सकयत्थं ॥१३॥

छाया :-

यदि पुनः कुत्रापि भवेत् ईदृश-रूपेण स्त्री कन्या ।

तस्या अपि संगमो यदि तद् राज्यं भवेत् सकृत्तार्थम् ॥१३॥

अर्थ :- वली जो आवा स्वरूपवाली स्त्री (कन्या) क्यांय पण होय अने तेनी साथे जो समागम थाय तो आ राज्यनुं सार्थकपणुं थाय।

हिन्दी अनुवाद :- और यदि ऐसे स्वरूपवाली स्त्री (कन्या) कहीं भी हो और उनके साथ मेरा समागम हो तो यह मेरे राज्य का सार्थकत्व होता।

गाहा :-

एवं चिंतैतस्स य वम्मह-सर-गोयरम्मि पडियस्स ।

वीसरिओ से अप्पा चित्तेऽवक्खित्त-चित्तस्स ॥१४॥

छाया :-

एवं चिन्तयतश्च मन्मथ-शरगोचरं पतितस्य ।

विरमृतस्तस्य आत्मा चित्रेऽवक्षिप्त-चित्तस्य ॥१४॥

अर्थ :- आ प्रमाणे चिंतन करता ते राजा कामदेवना बाणनां विषयमां पडेलो अने चित्रमां खेंचायेला चित्तवालो पोतानी जातने भूली गयो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार चिंतन करता वह राजा कामदेव के बाणों में विषयासक्त बना और चित्र में आकृष्ट चित्तवाला स्वयं को भूल गया।

गाहा :- चित्रदर्शनथी राजानी मूर्च्छा  
तत्तो खणंतराओ संमीलिय-लोयणो अमरकेऊ ।  
सीहासणाउ पडिओ मुच्छाए परवसो सहसा ॥१५॥

छाया :-

ततः क्षणान्तरात् सम्मीलित-लोचनोऽमरकेतुः ।  
सिंहासनात् पतितो मूर्च्छया परवशाः सहसा ॥१५॥

अर्थ :- त्वारपछी क्षणवारमां मींचायेली आंखवालो अमरकेतु राजा सिंहासनथी नीचे पडयो अने तरत ज मूर्च्छित थयो।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् अल्प क्षणों में बंद आँखवाला अमरकेतु राजा सिंहासन से नीचे गिरा और तुरंत ही मूर्च्छित हुआ।

गाहा :- मूर्च्छा दूरीकरण उपाय  
हा ! हा ! हृत्ति भणंता अत्थाण-गया समुट्टिया लोया ।  
वीयंति वीयणोहिं सीयल-सलिलेण सिंचंति ॥१६॥

छाया :-

हा ! हा ! हा ! इति भणन्त आस्थानगताः समुत्थिता लोकाः ।  
वीजयन्ति व्यजनैः शीतल सलिलेन सिञ्चन्ति ॥१६॥

अर्थ :- हा ! हा ! हा ! प्रमाणे बोलतां सभामां रहेलां लोको उभा थया अने ठंडा पाणी वडे सिंचवा लाग्या तथा पंखा वडे हवा नाखवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :- “हा ! हा ! हा !” इस प्रकार बोलते, सभा में विराजित लोग खड़े हुए और डंडे पानी का छिड़काव करते हुए पंखे से हवा करने लगे।

गाहा :- वयणे खिवंति खिप्यं कप्पूरं तह मलेंति अंगाइं ।  
तं दट्टुं चित्तसेणो पहसिय-वयणो दढं जाओ ॥१७॥

छाया :-

वदने क्षिपन्ति क्षिप्रं कर्पूरं तथा मर्दयन्ति अङ्गानि ।  
तद् दृष्ट्वा चित्रसेनः प्रहसित-वदनो दृढं जातः ॥१७॥

अर्थ :- जोढामां जल्दी कपूर नाखवा लाग्या तथा अंगोनु मर्दन करवा लाग्या ते जोइने चित्रकार चित्रसेन हर्षित मुखवालो स्तब्ध थयो।

हिन्दी अनुवाद :- शीघ्र ही मुख में कपूर डालने लगे तथा अंगों का मर्दन करने लगे यह सब देखकर चित्रकार चित्रसेन हर्षित मुखवाला स्तब्ध हुआ।

गाहा :- रे ! रे ! कोवि हु पावो अहिमर-रूवेण आगओ एसो ।  
कम्मणगारी जेणिह विमोहिओ अम्ह सामिति ॥१८॥

छाया :-

रे ! रे ! कोऽपि हि 'पापोऽभिगरं - रूपेणागत एषः ।

कार्मणकारी येनेह विमोहितोऽस्माकं स्वामीति ॥१८॥

अर्थ :- रे ! रे ! कोई पापी मरणना भयभीत रहित अथवा पैसाना लोभभी अहीयां आ आवेळो छे। के जेथी कामगद्वारा आमारु स्वामी मूर्च्छित कराया छे।

हिन्दी अनुवाद :- रे ! रे ! कोई पापी मरणान्त भय से निर्भय अथवा पैसे के लोभ से यहाँ आया लगता है कि जिसके कार्मण से मन्त्रित अपने स्वामी मूर्च्छित हुए हैं।

गाहा :- चित्रकार प्रति लोकोनो आवेश

तालेह हणह बंधह एवं भणतेहिं अंगरक्खेहिं ।

गहिओ सो हम्मंतो एवं भणितं समाढत्तो ॥१९॥

छाया :-

ताडयत, हत, बन्धत, एवं भणद्भिरङ्गरक्षकैः ।

गृहीतः स हन्यमान एवं भणितुं सगारब्धः ॥१९॥

अर्थ :- "एने मारो पीटो, बांधो" आम बोलतां अंग-रक्षको द्वारा ते ग्रहण करायो अने मरातो ते आ प्रमाणे कहेवा लाग्यो !

हिन्दी अनुवाद :- इसको मारो, पीटो, बांधो, इस प्रकार अंग-रक्षकों के कटुवचन और मार सहन करता हुआ वह इस प्रकार कहने लगा।

गाहा :-

भो ! भो ! भद्र ! नाहं दुट्टो ता मा मुहा कयत्थेह ।

तत्तो य तेहिं भणियं कहं न दुट्टो तुमं पाव' ॥१००॥

छाया :-

भो ! भो ! भद्र ! नाहं दुष्टस्तरुमात् मा मुधा कदर्थयत ।

ततश्च तैर्भणितं कथं न दुष्टस्त्वं पाप ! ? ॥१००॥

अर्थ :- हे ! हे ! भद्र पुरुषो हुं दुष्ट नथी तेथी मारी फोगट कदर्थना न करो। त्पारे रक्षकोए कह्यु- "हे पापी तुं दुष्ट केवी रीते नथी ?"

हिन्दी अनुवाद :- "हे ! हे ! भद्र पुरुषलोग ! मैं कोई दुष्ट आदमी नहीं हूँ अतः आप मुझे ऐसी पीड़ा मत दो", तब रक्षकों ने कहा - "हे पापी तू कैसे दुष्ट नहीं है ?"

गाहा :-

कम्मण-कयं हि चित्तं पर्यसियं कीस राइणो तुमए ? ।

तह मुच्छियम्मि देवे वियसिय-वयणो य किं जाओ ? ॥१०१॥

छाया :-

कार्मणकृतं हि चित्रं प्रदर्शितं कस्मात् राजास्त्वया ? ।

तथा मूर्च्छिते देवे विकसित-वदनस्य किं जातः ॥१०१॥

१. अभिगरः = धनादि लोभतो मरणभयरहितं साहस कर्मकारी.

अर्थ :- खरेखर कामण करेलुं कोइ चित्र तारा वड़े राजाने बतावायु छे। नहि तो राजा मूर्च्छित धये छते तुं केम विकसित मुखवालो धयो।

हिन्दी अनुवाद :- कार्मण किया हुआ यह चित्र तेरे द्वारा राजा को दिखाया गया है, नहीं तो राजा के मूर्च्छित होने पर भी तू विकसित मुखवाला क्यों है ?

गाहा :- चित्रकारने आगमनना कारणनी पृच्छा

ता कहसु केण रण्णो वहणत्थं पेसिओ तुमं पावः !? ।

तो भणइ चित्तसेणो अक्खिस्सं तुम्ह सब्वंपि ॥१०२॥

छाया :-

तत् कथय केन राज्ञो वधनार्थं प्रेषितस्त्वं पाप? ।

ततो भणति चित्रसेन आख्याख्यामि तुभ्यं सर्वमपि ॥१०२॥

अर्थ :- तो पछी हे पापी ! तुं अमने कहे के कया राजा वड़े तुं अमारु राजानो वध करवा माटे मोकलायेलो छे ? त्यारे चित्रसेने कहयु, “हुं तमने सर्व वात कहुं छुं।

हिन्दी अनुवाद :- “तो फिर हे पापी तू हमको बता कि कौन से राजा द्वारा हमारे स्वामी के वध के लिए तू भेजा गया है?” तब चित्रसेन ने कहा - “मैं तुमसे सब बात कहता हूँ।”

गाहा :-

रत्नो अब्भुदयत्थं समागओ न उण दुट्ठ-बुद्धीए ।

एमाइ भणंतोवि हु बद्धो सो राय-पुरिसेहिं ॥१०३॥

छाया :-

राज्ञोऽभ्युदयार्थं समागतो न पुनो दुष्टबुद्धया ।

एवमादिः भणन्नपि नूनं बद्धः स राजपुरुषैः ॥१०३॥

अर्थ :- राजाना अभ्युदय माटे हुं आव्यो छुं पण नहीं के दुष्टबुद्धिथी, आम कहेवा छतां पण राजपुरुषो द्वारा तेने बांधवामां आव्यो !

हिन्दी अनुवाद :- राजा के अभ्युदय के लिए मैं यहां आया हूँ, दुष्ट बुद्धि से नहीं”, इस तरह कहने पर भी राजपुरुषों ने उसे बांध लिया।

गाहा :-

राजानी स्वस्थता

एत्थंतरम्मि राया गय-मुच्छो सत्थ-चेयणो जाओ ।

अह नरवइणा भणियं मुंचह भो ! चित्तगरमेयं ॥१०४॥

छाया :-

अत्रान्तरे राज्ञा गत-मूर्च्छः स्वस्थचेतनो जातः ।

अथ नरपतिना भणितं मुच्यत भो ! चित्रकारमेतम् ॥१०४॥

अर्थ :- एटलीवारमां चाली गएली मूर्च्छावाला, स्वस्थ चेतनवाला राजा थया, त्यारपछी राजाए कहयु, “हे सेवको ! आ चित्रकारने बंधनथी मुक्त करो।”

हिन्दी अनुवाद :- इतने ही क्षण में दूर हुई मूर्च्छावाला, स्वस्थ चैतन्यवान् राजा हुआ, तत्पश्चात् राजा ने कहा, “हे सेवकलोग ! इस चित्रकार को बन्धन मुक्त करो।”

गाहा :-

उच्छ्रोडिय-बंधो सो रत्ना भणिओ य भद्र ! उवविससु ।  
आइक्खसु मह सच्चं केण तुमं पेसिओ एत्थ ॥१०५॥

छाया :-

उच्छ्रोडित - बन्धः स राज्ञा भणितश्च भद्र ! उपविष्टा ।  
आचक्ष मह्यं सत्यं केन त्वं प्रेषितोऽत्र ॥१०५॥

अर्थ :- बंधन रहित थयेलो ते चित्रकार राजा वड़े कहेवायो, “हे भद्र ! तूं बेस अने मने सांचु कहे अहीं तूं कोना वड़े मोकलायो छे ?”

हिन्दी अनुवाद :- बन्धन से रहित हुए चित्रकार से राजा ने कहा, “हे भद्र ! तू बैठ और मुझे सत्य बता कि यहाँ तू किसके द्वारा भेजा गया है ?”

गाहा :-

तो भणइ चित्तसेणो निसुणसु नर-नाह ! एत्थ परमत्थं ।  
चित्तगर-वेस-धारी समागओ जेण अहमेत्थ ॥१०६॥

छाया :-

ततो भणति चित्रसेनो निशृणु नरनाथ ! अत्र परमार्थम् ।  
चित्रकार-वेश-धारी समागतो येनाऽहमत्र ॥१०६॥

अर्थ :- त्पारे चित्रसेने कहयु, “हे नरनाथ ! तमे परमार्थने सांभळो चित्रकारने वेश ने धारण करनार हुं अहींया आव्यो छु।

हिन्दी अनुवाद :- तब चित्रसेन ने कहा, “हे नरनाथ ! आप परमार्थ को सुनिये, चित्रकार के वेश में मैं यहाँ आया हूँ।”

गाहा :-

चित्रकार द्वारा आगमनना कारणनुं निवेदन  
अत्थेत्थ कुसग्गपुरं सुप्रसिद्धं चेव देव-पायाणं ।  
नयर-गुणेहुववेयं धण-धन्न-समिद्ध-जण-कलियं ॥१०७॥

छाया :-

अस्त्यत्र कुशाग्रपुरं सुप्रसिद्धमेव देव-पादानाम् ।  
नगर-गुणैरूपेतं धन-धान्य-समृद्ध-जनकलितम् ॥१०७॥

अर्थ :- नगरना गुणोथी युक्त, धन-धान्यथी समृद्ध तथा लोकोथी युक्त सुप्रसिद्ध अहीं कुशाग्रपुर नामनुं एक नगर छे।

हिन्दी अनुवाद :- नगर के गुणों से युक्त, धन-धान्य से समृद्ध तथा जनसमुदाय से व्याप्त सुप्रसिद्ध कुशाग्रपुर नाम का एक नगर यहाँ है।

गाहा :-

धनवाहन राजा तथा तेनो परिवार  
पणइ-जन पूरियासो राया धणवाहणोत्ति तत्थासि ।  
पाणप्पिया से देवी वसन्तसेणत्ति नामेण ॥१०८॥

छाया :-

प्रणइजन-पूरिताशो राजा धनवाहन इति तत्रासीत् ।

प्राणप्रिया तस्य देवी वसन्तसेनेति नाम्ना ॥१०८॥

अर्थ :- नमन करेला लोकोनी आस्थाने पूरनार धनवाहन नामनो राजा त्यां राज्य करे छे। अने नाम वडे वसंतसेना प्राणप्रिया तेनी राणी छे।

हिन्दी अनुवाद :- नमस्कार किए हुए लोगों की आशा को पूर्ण करने वाला धनवाहन नाम का राजा वहाँ राज्य करता है और प्राणप्रिया वसंतसेना उनकी रानी है।

गाहा :-

ताण य पुत्तो नरवाहणोत्ति नामेण उक्कड-पयावो ।

कमलावइत्ति-नामा धूया अच्चंत-रूववई ॥१०९॥

छाया :-

तयोश्च पुत्रो नरवाहन इति नाम्नोत्कटप्रतापः ।

कमलावतीति नाम्नी दुहित्यंत-रूपवती ॥१०९॥

अर्थ :- उत्कट प्रतापवालो नरवाहन नामनो तेमने पुत्र छे अने अत्यंत रूपवती कमलावती नामनी पुत्री छे।

हिन्दी अनुवाद :- उत्कट प्रतापवाला नरवाहन नाम का उनका पुत्र है और अत्यंत रूपवती कमलावती नाम की पुत्री है ।

गाहा :-

धनवाहन राजा द्वारा पुत्रने भलामण

अह अन्नया य राया दाउं नरवाहणस्स निय-रज्जं ।

कमलावई य भगिणी अणुरूव-वरस्स दायव्वा ॥११०॥

छाया :-

अथान्यदा च राजा दत्त्वा नरवाहनाय निज-राज्यम् ।

कमलावती च भगिन्यनुरूप-वराय दातव्या ॥११०॥

अर्थ :- हवे एक वखत राजाए नरवाहनने पोतानुं राज्य आपीने कहयु, “ताटी बहेन कमलावती योग्य वरने आपवी !”

हिन्दी अनुवाद :- अब एक बार राजा ने नरवाहन को अपना राज्य देकर कहा - “अपनी बहन कमलावती योग्य वर को देना।”

गाहा :-

धनवाहन राजा द्वारा दीक्षा अंगीकार

इय भणिरुण पुत्तं सुगुरु-समीवम्मि जाय-संवेगो ।

संसारुच्छेयकरं सामन्नं उवगओ विहिणा ॥१११॥ - युग्मम्

छाया :-

इति भणित्वा पुत्रं सुगुरु समीपे जात-संवेगः ।

संसारोच्छेदकरं श्रामण्यमुपगतो विधिना ॥१११॥

अर्थ :- आ प्रमाणे पुत्रने कहीने उत्पन्न थयेला वैराग्यवाला राजाए सदगुरुनी पासे संसार नो उच्छेद (नाश) करनार श्रमणपणाने विधि वडे स्वीकार्यु।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार पुत्र को कहकर उत्पन्न हुए वैराग्यवाले राजा ने सद्गुरु के पास संसार का उच्छेद करनेवाली प्रव्रज्या को विधि से स्वीकृत किया।

गाहा :-

नरवाहणोवि राया रज्जं पालेइ पणय-पडिवक्खं ।  
चिड्डइ कन्नंतेउर-मज्झे कमलावई वि सुहं ॥११२॥

छाया :-

नरवाहनोऽपि राजा राज्यं पालयति प्रणत-प्रतिपक्षम् ।  
तिष्ठति कन्यान्तः पुर मध्ये कमलावत्यपि सुखम् ॥११२॥

अर्थ :- नम्या छे शत्रु राजाओ जेने एवो ते नरवाहन राजा पण राज्यनुं पालन करतो हतो अने कुमारी कमलावती पण अंतः पुरमां सुखपूर्वक रहेती हती।

हिन्दी अनुवाद :- नम्र हुए हैं शत्रु-राजा जिनके ऐसा वह नरवाहन राजा भी राज्य का पालन करता था और कुमारी कमलावती भी अंतःपुर में सुखपूर्वक रहती थी।

गाहा :-

राजानो मित्र वणिक् तथा तेनो परिवार  
एत्तो य तम्मि नयरे निवसइ वणिओ उ सागरो नाम ।  
रन्नो बाल-वयंसो जिण-वयणे गाढमणुरत्तो ॥११३॥

छाया :-

इतश्च तस्मिन्नेव नगरे निवसति वणिक् तु सागरो नाम ।  
राज्ञो बालवयस्यो जिण-वचने गाढमनुरक्तः ॥११३॥

अर्थ :- आ बाजु ते ज नगरमां जिण-वचनमां अत्यंत अनुरागवालो राजानो बालमित्र सागर नामनो वाणियो रहेतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- उसी नगर में जिण-वचन में अत्यंत अनुरागवाला राजा का बालमित्र सागर नाम का वणिक रहता था।

गाहा :-

सिरिमइ-नामा भज्जा अइप्पिया तस्स सील-संपन्ना ।  
सिरिदत्तो से पुत्तो सिरिकंता तहय दुहियत्ति ॥११४॥

छाया :-

श्रीमती नाम्नी भार्या अतिप्रिया तस्य शील-संपन्ना ।  
श्रीदत्तस्तस्य पुत्रः श्रीकान्ता तथा च दुहेतेति ॥११४॥

अर्थ :- शील संपन्न श्रीमती नामनी पत्नी तेने अत्यंत प्रिय हती अने श्रीदत्त नामनो पुत्र तथा श्रीकांता नामनी तेनी पुत्री हती।

हिन्दी अनुवाद :- उसे शील संपन्न श्रीमती नाम की अत्यंत प्रिय पत्नी और श्रीदत्त नाम का पुत्र तथा श्रीकांता नाम की पुत्री थी।

गाहा :-

राजपुत्री कमलावती अने वणिक् पुत्री श्रीकांतानी मैत्री  
सिरिकंता अणुदियहं वच्चई कमलावईए पासम्मि ।  
जाया य गरुय-पीई अन्नोन्नं ताण दोण्हंपि ॥११५॥



छाया :-

श्रीकान्ता अनुदिवसं व्रजति कमलावत्याः पार्श्वम् ।

जाता च गुरुक-प्रीतिरन्योन्यं तयो द्वयोरपि ॥११५॥

अर्थ :- श्रीकान्ता कमलावती पास रोज जाती हति, अने ते बझेनी पण परस्पर गाढ प्रीति थी।

हिन्दी अनुवाद :- श्रीकान्ता कमलावती के पास रोज जाती थी और उन दोनों की भी परस्पर गाढ प्रीति हुई।

गाहा :-

कमलावती नी कला निपुणता

इत्थी-जण-जोगाओ गहियाओ कलाओ बाल-भावेवि ।

सगल-कला-निउणस्स उ पासम्मि सुमित्तसेणस्स ॥११६॥

छाया :-

स्त्री-जन-योग्या गृहीताः कला बालभावेऽपि ।

सकला-कला-निपुणस्य तु पार्श्वं सुमित्रसेनस्य ॥११६॥

अर्थ :- स्त्री जनने योग्य बधी कलाओ तेणीए बालपणामां ज सर्वकला निपुण एवा सुमित्रसेननी पासैथी ग्रहण करी हती।

हिन्दी अनुवाद :- स्त्रियों के योग्य सब कलाएं उसने बचपन में ही सर्व कला निपुण ऐसे सुमित्रसेन के पास से ग्रहण कर ली थी।

गाहा :-

राय-दुहियाए समयं चित्ताईयाहि विविह-कीलाहिं ।

सिरिकंता कीलेता विगाल-समयम्मि एइ गिहं ॥११७॥

छाया :-

राज-दुहित्रा समकं चित्रादिकाभिर्विविध-क्रीडाभिः ।

श्रीकान्ता क्रीडित्वा विकाल-समये एति गृहम् ॥११७॥

अर्थ :- राजपुत्री साथे विविध जातानी चित्र-विचित्र क्रीडाओ करीने श्रीकांता विकालसमयमां घरे आवती हती।

हिन्दी अनुवाद :- राजपुत्री के साथ में विविध प्रकार की चित्र-विचित्र क्रीडा करके श्रीकांता विकाल समय में घर आती थी।

गाहा :-

सिरिकंताए समयं सिणेह-साराए राय-धूयाए ।

वोलीणो बहु-कालो नाणाविह-कीडण-रयाए ॥११८॥

छाया :-

श्रीकान्ताया समकं स्नेह-साराया राजदुहितुः ।

अतिकान्तो बहुकालो नानाविध-क्रीडनरतायाः ॥११८॥

अर्थ :- श्रीकान्तानी साथे विविध क्रीडामां रत स्नेह सभर राजपुत्रिनो घणो काल (समय) पसार थइ गयो।

हिन्दी अनुवाद :- श्रीकान्ता के साथ विविध क्रीडा में रत स्नेहयुक्त राजपुत्री का बहुत समय बीत गया।

गाहा :-

कमलावतीना यौवननो प्रारंभ

कमसो वड्ढंतीओ तियसाण वि पत्थणिज्ज-रूवाओ ।

पत्ताओ पढम-जोव्वणमणंग-सिंगार-आवासं ॥११९॥

अह अन्नया य राया मइसागर-सागरेहिं संजुत्तो ।

अत्थाण-मंडवम्मी आसीणो अच्छई जाव ॥१२०॥

निय-सहि-यण-संजुत्ता ताव य कमलावई तहिं आया ।

भूसण-पसाहिअंगी गेंदुय-कीलाए कीलंती ॥१२१॥

छाया :-

कमशो वर्धमाने त्रिदशानामपि प्रार्थनीय-रूपे ।

प्राप्ते प्रथम-यौवनमनंग-शृंगारावासम् ॥११९॥

अथान्यदा च राजा मतिसागर-समाराभ्यां संयुक्तः ।

आस्थान-मण्डपे आसीन आस्ते यावत् ॥१२०॥

निज-सखि-जनसंयुक्ता तावच्च कमलावती तन्प्रायाता ।

भूषण-प्रसाधिताङ्गी कन्दुक-क्रीडया क्रीडन्ती ॥१२१॥

- श्रीमि विशेषकम्

अर्थ :- क्रमशः वधती, देवोने पण प्रार्थनीय रूपवाली (कमलावती) कामदेवना शृंगारना आवास रूप प्रथम यौवनने प्राप्त थये छते हवे कोइ वखत राजा, मन्त्री मतिसागर अने सागर श्रोठनी साथे सभामां बेडेलो हतो त्यारे आभूषणथी सुशोभित देहवाली, दडानी क्रीडा वडे रमती कमलावती पोताना सखी समुदाय साथे त्यां आवी।

हिन्दी अनुवाद :- क्रमशः बढ़ती देवों को भी प्रार्थनीय रूपवती (कमलावती) कामदेव के शृंगार के आवास समान प्रथम यौवन को प्राप्त हुई। एकदा राजा, मन्त्री - मतिसागर और सागर सेठ के साथ सभा में बैठे थे। तब आभूषण से सुशोभित देहवाली, गेंद की क्रीडा से खेलती कमलावती अपने सखी समुदाय के साथ वहाँ आयी।

गाहा :-

युवती कमलावतीने जोइने पिताना वचननी याद

अह सा भगिणी रत्ता पीईए निवेसिया निउच्छंगे ।

तत्तो दुदुठं तीए रूवं तह जोव्वणमुदगं ॥१२२॥

भणिओ रत्ता मंती मइसागर ! तइय पव्वयंतेण ।

ताएण अहं भणिओ भगिणी ठाणम्मि दायव्वा ॥१२३॥

छाया :-

अथ सा भगिनी राद्या प्रीत्या निवेशिता निजोत्सङ्गे ।

ततो दृष्ट्वा तस्या रूपं तथा यौवनमुदग्रम् ॥१२२॥

भणितो राद्या मन्त्री मतिसागर ! तदा प्रब्रजता ।

तातेनाऽहं भणितो भगिनी स्थाने दातव्या ॥१२३॥

- युवगम्

अर्थ :- हवे राजाए पोतानी बहेनने प्रीतीथी पोताना खोळामां बेसाडी तथा तेना सुंदरयीवन अने रूपने जोइने राजा वडे मन्त्री कहेवायो, “हे मतिसागर! दीक्षा लेती वखते पिताजी वडे मने कहेवायु छे के, बहेनने योग्य स्थानमां आपवी।”

हिन्दी अनुवाद :- अब राजा ने अपनी बहन को प्रीति से अपनी गोद में बैठाया तथा उसके सुंदर यौवन और रूप को देखकर उसने मन्त्री से कहा, “हे मतिसागर ! दीक्षा ग्रहण करते समय पिताजी ने मुझसे कहा था कि बहन को योग्य स्थान में देना।”

गाहा :- कमलावतीना वर माटे विचारणा

इण्हं वरस्स उचिया जाया एसत्ति, ता महं कहसु ।

को अणुरूवो पुरिसो इमिए सुकुल-प्पसूओ य? ॥१२४॥

मइसागरेण भणियं देवो च्चिय एत्थ जाणए उचियं ।

ततो रत्ता भणियं एवं मे फुरई चित्तम्मि ॥१२५॥

छाया :-

इदानीं वरायोचिता जाता एषेति तस्मात् मह्यं कथय ।

कोऽनुरूपः पुरुषोऽस्याः सुकुल-प्रसूतश्च ॥१२४॥

मतिसागरेण भणितं देव एवात्र जानात्युचिताम् ।

ततो राज्ञा भणितमेवं मे स्फुरति चित्ते ॥१२५॥

- युग्मात्

अर्थ :- हमणां आ वरने उचित थइ छे तो तमे मने कहो ? साराकुलमां उत्पन्न थयेलो क्यो पुरुष आने योग्य छे ? त्यारे मतिसागर मंत्रीए कहयु, “आ विषयमां तो आप ज उचित जाणो छो।” त्यारे राजाए आ प्रमाणे कहयुं, “मने चित्तमां आ प्रमाणे स्फुरणा थाय छे।”

हिन्दी अनुवाद :- अभी यह विवाह योग्य हुई है तुम मुझे बताओ ? श्रेष्ठकुल वाला कौन सा पुरुष इसके योग्य है ? तब मतिसागर मन्त्री ने कहा - “इस विषय में तो आप ही उचित जानते हो” तब राजा ने इस प्रकार कहा - “मेरा मन इस प्रकार स्फुरित होता है।”

गाहा :- स्वयंवर विचारणा

कीरइ सयंवरो इह हक्कारिज्जंतु सव्व-रायाणो ।

जो चेव हियय-इट्ठो तं चेव वरेई जेणेसा ॥१२६॥

छाया :-

क्रियते स्वयंवर इहाह्वयन्तां सर्व-राजानः ।

य एव हृदय-इष्ट-स्तं चैव वृणोति येनैषा ॥१२६॥

अर्थ :- स्वयंवर करवलो जोइए अने बधा राजाओने अहीं बोलाववा जोइए। जेथी जे हृदयने इष्ट होय तेने आ कमलावती वरे।

हिन्दी अनुवाद :- स्वयंवर करके सभी राजाओं को यहाँ बुलाना चाहिए जिससे इन्हें जो हृदयप्रिय होगा उन्हें यह स्वीकारेंगी (वरेंगी)।

गाहा :-

स्वयंवर अंगे मन्त्रीनी सलाह  
मइसागरेण भणियं जं देवो आणवेइ तं किच्चं ।  
नवरि सयंवर-करणं संपइ उचियं न काउं जे ॥१२७॥

छाया :-

गतिस्सागरेण भणितं यद् देव आज्ञापयति तत् कृत्यम् ।  
केवलं स्वयंवर-करणं सम्प्रत्युचितं न कर्तुम् ॥१२७॥

अर्थ :- गतिस्सागर मंत्रीए कहयुं के आप जे आज्ञा करो छे ते ज करतुं जोइए परंतु हमणां वर्तमान कालगां स्वयंवर करवो उचित नथी।

हिन्दी अनुवाद :- मतिसागर मंत्री ने कहा कि आप जो आज्ञा करते हो वही करना चाहिए किन्तु अभी वर्तमानकाल में स्वयंवर करना उचित नहीं है।

गाहा :-

सव्वेवि निवा जइया आयत्ता होति एग-नरवइणो ।  
तदणुत्राएण तया सयंवरो होइ कायव्वो ॥१२८॥

छाया :-

सर्वेऽपि नृपा यदा आयत्ता भवन्ति एक-नरपतेः ।  
तदनुज्ञातेन तदा स्वयंवरो भवति कर्तव्यः ॥१२८॥

अर्थ :- जो बधा राजाओ एक राजाने आधीन होय तो तेनी अनुज्ञाथी स्वयंवर करवानो होय छे।

हिन्दी अनुवाद :- यदि सभी राजा एक राजा के आधीन रहें तो उनकी अनुज्ञा से स्वयंवर का आयोजन होता है।

गाहा :-

एगस्स जओ वरणे सेसाणं सो निवारगो होइ ।  
संपइ पुण रायाणो नरिद ! सव्वेवि अहमिंदा ॥१२९॥

छाया :-

एकरुय यतो वरणे शोषाणां स निवारको भवति ।  
सम्प्रति पुना राजानो नरेन्द्र ! सर्वेऽपि अहमिन्द्राः ॥१२९॥

अर्थ :- कारण के ज्यारे राजकुमारी एक्की साथे लगन करे त्यारे ते बीजा बधाराजाओने शांत राखी शके परंतु हे ! राजन् हमणा तो बधा राजाओ अहमिन्द्रो छे।

हिन्दी अनुवाद :- क्योंकि जब राजकुमारी एक के साथ विवाह करेंगी तब दूसरे सारे राजाओं को शांत कर सकते, किन्तु हे राजन् ! अभी तो सभी राजा अहमिन्द्र हैं।

गाहा :-

ता ताणमेग-वरणे सेसा सव्वेवि सत्तुणो होति ।  
न य सक्का संगामे जिणिउं सव्वेवि एगेण ॥१३०॥

छाया :-

तरुमात्तेशामेक-वरणे शोषाः सर्वेऽपि शात्रवो भवन्ति ।

न च शक्याः संव्यामे जेतुं सर्वेऽप्येकेन ॥१३०॥

अर्थ :- तेथी तेओमांथी एकने वरवामां बीजा राजाओ शात्रु बनी जाय त्यारे एकला हाथे बधाने युद्धमां जीतवुं शक्य न बने।

हिन्दी अनुवाद :- अतः उन सबमें से एक के साथ विवाह करने में दूसरे राजा शत्रु बनकर आएँ तब अकेले सभी को युद्ध में जीतना शक्य नहीं है।

गाहा :-

ता अलमिमिणा नर-वर ! विग्रह मूलेणणत्थ-बहुलेण ।

कमलावई-सयंवर-करणेण एत्थ पत्थावे ॥१३१॥

छाया :-

तरुमादलमनेन नरवर ! विग्रह मूलोणानर्थ-बहुलेण ।

कमलावती स्वयंवर करणेनात्र प्रस्तावे ॥१३१॥

अर्थ :- तेथी हे नरश्रेष्ठ ! झगडानुं मूलू अने अनर्थ बहुल एवा आ प्रसंगे कमलावतीना स्वयंवर करवा वडे सय्यु !

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे नरश्रेष्ठ ! विग्रह का मूल और अनर्थबहुल ऐसे इस अवसर पर कमलावती का स्वयंवर करना उचित नहीं है।

गाहा :-

तत्तो रणणा भणियं कस्सेसा तरिहि भद्र ! दायव्वा ।

को व इमीए इट्ठो मणस्स इह कह णु नायव्वं ? ॥१३२॥

छाया :-

ततो राज्ञा भणितं करुमा-एषा तर्हि भद्र ! दातव्या ।

को वा अस्य इष्टो मनस इति कथं नु दातव्यम् ॥१३२॥

अर्थ :- त्यारे राजाए कहयुं, “हे भद्र ! तो पछी आ कोने आपवी अने राणीना मनमां कोण इष्ट छे ? ते आपणे केवी रीते जाणवुं ?”

हिन्दी अनुवाद :- तब राजा ने कहा, “हे भद्र ! तो फिर यह किस को देना और इनके मन को कौन इष्ट है ? वह हम कैसे जानेंगे ?

गाहा :-

जस्स व तस्स व रत्तो दायव्वा न य मए नियय-भगिणी ।

दिन्ना होइ सुदिन्ना जस्स, इमा तस्स दायव्वा ॥१३३॥

छाया :-

यस्मै वा तरुमै वा राज्ञे दातव्या न च मया निजकभगिणी ।

दत्ता भवति सुदत्ता यस्मा एषा तरुमै दातव्या ॥१३३॥

अर्थ :- मारा वडे पोतानी बेन जे ते राजाने न आपी शाकाय, जेने अपाय ते सारी रीते अपायेली कहेवाय तेने आपवी जोइए।

हिन्दी अनुवाद :- मुझसे अपनी बहन ऐसे-वैसे राजा को नहीं दी जा सकती, जिनको भी दी जाय उन्हें अच्छी तरह दी गयी कहा जाना चाहिए।

गाहा :-

एवं च जाव जंपइ राया मइसागरेण सह तत्थ ।  
ताव य दुवारपालो पणाम-पच्चुट्ठिओ भणइ ॥१३४॥

छाया :-

एवं च यावज्जल्पति राजा मतिसागरेण सह तत्र ।  
तावच्च द्वारपालः प्रणाम-प्रत्युत्थितो भणति ॥१३४॥

अर्थ :- आ प्रमाणे राजा मतिसागर मन्त्रीनी साथे बात करे छे एटलीवारामां द्वारपाल प्रणाम पूर्वक उभेलो कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार राजा-मतिसागर मन्त्री के साथ बात करता है, उतनी ही देर में द्वारपाल प्रणाम पूर्वक खड़े खड़े कहता है।

गाहा :-

नैमित्तकनुं आगमन  
अट्टंग-निमित्त-विऊ भूय-भविस्सत्थ-पयडण-पडिडु ।  
सुमई-नामो इहइं समागओ देव ! नेमित्ती ॥१३५॥

छाया :-

अष्टांग-निमित्त-विदुर्भूत-भविष्यदर्थ-प्रकटन-पटिष्ठः ।  
सुमति-नाम इह समागतो देव ! नैमित्तः ॥१३५॥

अर्थ :- हे देव ! अष्टांग निमित्तने जाणनाट भूत, भविष्यना अर्थ प्रकट करवामां चतुर, सुमति नामनो निमित्तियो आव्यो छे।

हिन्दी अनुवाद :- “हे देव ! अष्टांग निमित्त का ज्ञाता भूत, भविष्य के अर्थ कहने में चतुर, सुमति नाम का नैमित्तिक आया है।

गाहा :-

सो देव-दंसणत्थं दुवार-देसम्मि चिट्ठइ इयाणिं ।  
इय सोउं नर-वइणा भणियं तुरियं पवेसेहिं ॥१३६॥

छाया :-

स देव-दर्शनार्थं द्वार-देशो तिष्ठतीदानीम् ।  
इति श्रुत्वा नरपतिना भणितं त्वरितं प्रवेशाय ॥१३६॥

अर्थ :- ते आप पूज्यना दर्शन माटे बारणा पासे हमणां उभो छे। आ वात सांभलीने राजा वडे कहेवायु, “तेने जल्दी अंदर मोकल।”

हिन्दी अनुवाद :- वह आप के दर्शन के लिए द्वार पर अभी खड़ा है, इस बात सुनकर राजा ने कहा, “उनको जल्दी अंदर भेजो।”

गाहा :-

तयणंतरं च सुमई निम्मल-सिय-वसण-सोहिय-सरीरो ।  
गोरोयण-कय-तिलओ समागओ राइणो पुरओ ॥१३७॥

छाया :-

तदनन्तरं च सुमतिर्निर्मल-सित-वसन-शोभितशरीरः ।

गोरोचनकृत तिलकः समागतो राज्ञः पुरतः ॥१३७॥

अर्थ :- तयारबाद तरत ज निर्मल-श्वेत-वस्त्राधी सुशोभित शरीरवालो, गोरोचनना करेला तिलकवालो सुमति नैमित्तिक राजानी पास आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् तुरंत ही निर्मल-श्वेत-वस्त्र से सुशोभित देहवाला, गोरोचन के तिलकवाला सुमति नैमित्तिक राजा के पास आया।

गाहा :-

आसी-पयाण-पुवं दाउं दुव्वकखए नरिदस्स ।

रत्ना कओवयारो उचियासणगम्मि उवविट्ठो ॥१३८॥

छाया :-

आशीः प्रदानपूर्व दत्त्वा दूर्वाक्षतान् नरेन्द्राय ।

राज्ञा कृतोपचार उचितासनक उपविष्टः ॥१३८॥

अर्थ :- आशीर्वाद आपवा पूर्वक मांगलीक वस्तुओ आपीने राजा वडे करेला उपचार (विनय) वालो सुमति उचित आसन पर बैठो !

हिन्दी अनुवाद :- आशीर्वाद प्रदानपूर्वक मांगलिक ( भेंट ) राजा को प्रदान कर उसके द्वारा दिये गये उचित आसन पर सुमति बैठा।

गाहा :-

राजा तथा नैमित्तिकनो वार्तालाप

रत्ना पचचय-हेउं अतीय-वत्थुम्मि पुच्छिओ एसो ।

पचचक्खं पिव सव्वं साहेइ सो अवितहं जाव ॥१३९॥

छाया :-

राज्ञा प्रत्यय हेतुरतीत-वस्तुनि पृष्ट एषः ।

प्रत्यक्षमिव सर्वं कथयति सोऽवितथं यावत् ॥१३९॥

अर्थ :- राजा वडे विश्वास माटे भूतकालीन विषयमां ते पूछायो। अने तेणे प्रत्यक्षनी जेम बधी वस्तुओ सत्य कही बतावी।

हिन्दी अनुवाद :- राजा द्वारा विश्वास हेतु भूतकालीन विषय पूछा गया, तब उसने प्रत्यक्ष की तरह सभी चीजें सत्य कह सुनायी।

गाहा :-

ताहे पहसिय-वयणो राया नरवाहणो इमं भणति ।

भो सुमइ ! मज्झ भगिणी एसा कमलावई कण्णा ॥१४०॥

एईए को भत्ता होही मण-वल्लहुत्ति वज्जरसु ।

सुमई निरूविऊणं निमित्तमेवं समुल्लवइ ॥१४१॥

छाया :-

तदा प्रहसित-वदनो राजा नरवाहन इदं भणति ।

भो सुमति ! मम भगिन्येषा कमलावती कन्या ॥१४०॥

एतस्याः को भर्ता भविष्यति मनो-वल्लभ इति कथय ।

सुमतिः निरूप्य निमित्तमेवं सागुल्लपति ॥१४१॥

- सुगम्

अर्थ :- त्वारे प्रसन्न मुद्रावाला नरवाहन राजा आ प्रमाणे कहे छे, "हे सुमति आ मारी बहेन कमलावती कन्या छे। तेणीनो मन वल्लभ भरथार कोण थशे ते तुं मने कहे" सुमति ए निमित्त बराबर जोइने आ प्रमाणे कहयुं।

हिन्दी अनुवाद :- तब प्रसन्न मुद्रावाले नरवाहन राजा ने इस प्रकार कहा - "यह मेरी बहन कमलावती कन्या है, इनका मन-वल्लभ पति कौन होगा वह तुम मुझे कहो, सुमति ने निमित्त को अच्छी तरह से देखकर कहा -

गाहा :-

नर-वर ! चित्ते लिहियं एईए रूवयं पुलोएत्ता ।

मुच्छिज्जिस्सइ जो इह होही भत्ता इमीए सो ॥१४२॥

छाया :-

नर-वर ! चित्रे लिखितं एतस्या रूपकं प्रलोक्य ।

मूर्च्छिष्यति य इह भविष्यति भर्ता अस्याः सः ॥१४२॥

अर्थ :- "हे नरश्रेष्ठ ! चित्रमां दोरेलुं एणीनुं रूप जोइने जे मूर्च्छित थशे ते कमलावती नो भरथार थशे !

हिन्दी अनुवाद :- 'हे नरश्रेष्ठ ! चित्र में इनका रूप देखकर जो मूर्च्छित होगा, वही इनका पति होगा।

गाहा :-

सयलोरोह-पहाणा तस्स य होही इमा महादेवी ।

एत्थत्थे य नरेसर ! मा काहिसि अन्नहाभावं ॥१४३॥

छाया :-

सकलावरोध-प्रधाना तस्य च भविष्यतीयं महादेवी ।

अत्रार्थे च नरेश्वर ! मा कार्षीरन्यथाभावम् ॥१४३॥

अर्थ :- ते राजानां सम्पूर्ण अंतपूरमां मुख्य-रूपे पट्टराणी थशे, आ विषयमां हे! नरेश्वर तमे कोई पण शंका करशो नही।"

हिन्दी अनुवाद :- वह राजा के अंतपुर में प्रधान-पटरानी होगी, इस विषय में हे नरेश्वर ! आप तनिक भी चिन्ता न करें।"

गाहा :-

सागर श्रेष्ठी द्वारा पोताना भावि जमाईनी चिंता

एत्थंतरम्मि सागर-सेट्टी संलवइ सुमइ-नेमित्तिं ।

सिरिकंताए भत्ता को होही मज्झ धूयाए ? ॥१४४॥

छाया :-

अत्रान्तरे सागर-श्रेष्ठी संलपति सुमति-निमित्तम् ।

श्रीकान्ताया भर्ता को भविष्यति मम दुहितुः ॥१४४॥



अर्थ :- एटलीवारमां सागर शेठे ते सुमति निमित्तियाने पुछ्यु के मारी पुत्री श्रीकांतानो पति कोण थरो ?

हिन्दी अनुवाद :- इतनी ही देर में सागर शेठ ने उस सुमति नैमित्तिक को पूछा कि “मेरी पुत्री श्रीकान्ता का कौन पति होगा ?”

गाहा :- नैमित्तिकनो उत्तर

वज्जरई तओ सुमई कसिण-भुयंगेण डसियमेयं जो ।

उज्जीविस्सइ सो च्चिय भत्ता धूयाए ते होही ॥१४५॥

छाया :-

कथयति ततः सुमतिः कृष्ण-भुजङ्गेन दष्टामेतां यः ।

उज्जीविष्यति स एव भर्ता दृढितुस्तव भविष्यति ॥१४५॥

अर्थ :- त्पार पछी सुमतिए कह्यु, “काळा सर्प वडे डंशायेली श्रीकांताने जे जीवाडशे ते तारी पुत्रीनो भरथार थरो।”

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् सुमति ने कहा, “कृष्ण सर्प से दंशित श्रीकांता को जो जीवन प्रदान करेगा वह तेरी पुत्री का स्वामी बनेगा।”

गाहा :- नैमित्तिकनी विदाय

एवं च पुच्छिऊणं उचियं काऊण तस्स उवयारं ।

पट्टविओ नर-वइणा जहागयं पडिगओ सुमई ॥१४६॥

छाया :-

एवं च पृष्ट्वा उचितं कृत्वा तस्योपचारम् ।

प्रस्थापितो नरपतिना यथागतं प्रतिगतः सुमतिः ॥१४६॥

अर्थ :- आ प्रमाणे पूछीने तेनो उचित विनय करीने राजा द्वारा विदाय अपायेलो ते सुमति जेवी रीते आवेल्ले हतो तेवी रीते पाछो गयो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार राजा द्वारा उचित सम्मान प्राप्त कर वह सुमति जिस प्रकार आया था, उसी प्रकार लौट गया।

गाहा :-

ततो य भणइ मंती सोहणमहुणा नरिंद ! संजायं ।

ता इण्हं तब्भणिए कायव्वो उज्जमो होइ ॥१४७॥

छाया :-

ततश्च भणति मन्त्री शोभनमधुना नरेन्द्र ! संजातम् ।

तस्मादिदानीं तद् भणिते कर्तव्य उद्यमो भवति ॥१४७॥

अर्थ :- अने त्पार पछी मन्त्रीए कह्युं, “हे राजन् ! हमणां बधुं सुन्दर थयु छे। तेथी निमित्तियाए कह्या प्रमाणे हवे आपणे उद्यम करवो जोइए।”

हिन्दी अनुवाद :- और बाद में मन्त्री ने कहा - “हे राजन् ! फिलहाल सब अच्छा ही है, अतः नैमित्तिक के कथन में उद्यम करना चाहिए।

गाहा :-

चित्रकारनी शोध

भणियं रत्ना को इह साइसयं लिहइ चित्त-कम्मंति ।  
मइसागरेण भणियं सुपसिद्धो ताव इह नयरे ॥१४८॥  
एक्को च्चिय कमलावइ-उज्जाय-सुमित्तसेण-नामस्स ।  
तणओ उ चित्तसेणो अइकुसलो चित्त-कम्ममि ॥१४९॥

-युग्मम्

छाया :-

भणितं राज्ञा क इह सातिशायं लिखति चित्र-कर्मति ।  
मतिस्सागरेण भणितं सुप्रसिद्धस्तावदिह नगरे ॥१४८॥  
एकैव कमलावत्युपाध्याय-सुमित्रसेन-नाम्नः ।  
तनयस्तु चित्रसेनोऽतिकुशलश्चित्र-कर्मणि ॥१४९॥

अर्थ :- राजाए कहयु-“अतिशाय कुशल चित्र कोण बनावे छे ?” त्यारे मतिसागर मन्त्रीए कह्यु के, “आ नगरमां सुप्रसिद्ध एक ज कमलावतीना उपाध्याय सुमित्रसेननो पुत्र चित्रसेन चित्रकलामां अत्यंत कुशल छे।”

हिन्दी अनुवाद :- राजा ने पूछा, “अत्यंत सुन्दर चित्र कौन बनाता है ?” तब मतिसागर मन्त्री ने कहा कि, “इस नगर में कमलावती के शिक्षक सुमित्रसेन का पुत्र चित्रसेन ही एक अत्यंत कुशल है।”

गाहा :-

चित्रसेने आमंत्रण

रत्ना भणियं सिग्घं वाहरह तयंति तक्खणेण अहं ।  
वाहरिओ संपत्तो भणिओ रत्ना सबहु-माणं ॥१५०॥

छाया :-

राज्ञा भणितं शीघ्रं व्याहरत तक्कमिति तत्क्षणेणाहम् ।  
व्याहृतः संप्राप्तो भणितो राज्ञा सबहुमानम् ॥१५०॥

अर्थ :- राजाए कहयुं, “जल्दीथी तेने बोलावो,” अने ते ज क्षणे बोलायेलो हुं त्यां पंहोच्यो त्यारे राजाए बहुमान पूर्वक मने कहयुं।

हिन्दी अनुवाद :- राजा ने कहा - “शीघ्र ही उसे बुला लाओ और उसी क्षण आह्वाहित मैं वहाँ गया तब राजा ने बहुमान पूर्वक मुझे कहा।”

गाहा :-

रामावडे चित्रकारने आज्ञा

कमलावईए रूवं सिग्घं आलिहसु चित्त-फलहीए ।  
जं आणवेसि, भणितं सोहण-वन्नेहि तं लिहियं ॥१५१॥

छाया :-

कमलावत्या रूपं शीघ्रमालिख चित्र-फलकायाम् ।  
यदाज्ञापयसि भणित्या शोभन-वर्णस्तदलिखितम् ॥१५१॥

अर्थ :- “कमलावतीनुं रूप चित्रपट उपर तरत बनावो,” में कहयु, “जेवी आपनी आज्ञा।” आम कहीने बहु सारा रंगो वडे में तेणीनुं चित्र बनाव्यु।

हिन्दी अनुवाद :- “कमलावती का रूप चित्रपट पर तुरंत बनाओ” मैंने कहा - “जैसी आपकी आज्ञा” ऐसा कहकर बहुत अच्छे रंगों से उनका चित्र बनाया।

गाथा :-

देवखालियं च रत्नो साइसयं पेक्खिऊण सो तुट्ठो ।

भणिओ य अहं रत्ना एत्थत्थे तं सि उचिउत्ति ॥१५२॥

छाया :-

दर्शितं च राज्ञः सातिशयं प्रेक्ष्य सन्तुष्टः ।

भणितश्चाहं राज्ञाऽन्वार्थं त्वमस्मि उचित इति ॥१५२॥

अर्थ :- अने ते चित्र राजाने बताव्यु अने राजा मारी सुन्दर चित्रकळाने जोईने प्रसन्न थया अने राजाए मने कहयुं-“आ योग्यवर शोधवाना विषयमां तुं ज योग्य छे।”

हिन्दी अनुवाद :- और राजा ने उस चित्र को तीक्ष्णता से देखा और मेरी मनोहर चित्रकला को देखकर प्रसन्न होकर मुझे कहा - “इस योग्य पति की खोज के लिए तुम्हीं योग्य हो।”

गाथा :-

चित्तगर-वेसधारी एयं घेत्तूण सव्व-राईणं ।

दंसेसु, जस्स मुच्छा जायइ एयं पुलोएउं ॥१५३॥

सो मह साहेअव्वो सिग्घं आगम्म, जेण तस्सेव ।

महया उवयारेण दिज्जइ कमलावई एसा ॥१५४॥

- जुग्गम्

छाया :-

चित्रकार-वेशधारी (सन्) एतद् गृहीत्वा सर्वराजभ्यः ।

दर्शय, यस्य मूर्च्छा जायते एतद् प्रलीक्य ॥१५३॥

स मह्यं कथितव्यः शीघ्रमागत्य येन तरुमैसव ।

महतोपचारेण दीयते कमलावत्येषा ॥१५४॥

अर्थ :- चित्रकारनो वेष धारण करीने आ चित्र लइने तुं बधा राजाओने बताव, जे राजाने आ चित्र जोइने मूर्च्छा आवे त्यारे ते जोइने जल्दीथी तारे आवीने मने ते वात कहेवी जेथी मोटा उत्सवपूर्वक आ कमलावती लेने अपाया।”

हिन्दी अनुवाद :- चित्रकार के वेष में तू इस चित्र को लेकर सभी राजाओं को दिखाना, यदि कोई राजा इस चित्र को देखकर मूर्च्छित हो जाय तब मुझे शीघ्र ही समाचार देना, जिससे महोत्सव सहित कमलावती उसे अर्पित की जाय।”

गाथा :-

राजानी आज्ञाथी चित्रकारनुं प्रस्थान

एवं रण्णा भणिओ तत्तो पणमित्तु तस्स पय-कमलं ।

कइवय-परियण-सहिओ कुसगनयराउ नीहरिओ ॥१५५॥

छाया :-

एवं राज्ञा भणितस्ततः प्रणम्य तस्य पद-कमलम् ।

कतिपय-परिजन-सहितः कुशाग्रनगरात् निःसृतः ॥१५५॥

अर्थ :- आ प्रमाणे राजा द्वारा कहेवायेलो हुं तेमना चरण कमलने प्रणाम करीने केटलाक परिजनो सहित कुशाग्र नगरथी नीकलयो।

हिन्दी अनुवाद :- “इस प्रकार राजा से आदेश पर मैं उनके चरण-कमल को प्रणाम करके कितने ही परिजन सहित कुशाग्रपुर से निकला।”

गाहा :-

सुग्रीव-कित्तिवद्धण-पमुहाणं नरवईण मे एसा ।

संदंसिया उ, न पुणो जाया इह अत्थ-संसिद्धी ॥१५६॥

छाया :-

सुग्रीव-कीर्तिवर्द्धन-प्रमुखेभ्यो नरपतिभ्यो मया एषा ।

संदर्शिता तु न पुनर्जाता इहार्थ-संसिद्धिः ॥१५६॥

अर्थ :- सुग्रीव, कीर्तिवर्द्धन आदि श्रेष्ठ राजाओने में आ चित्र बताव्युं पण कार्यनी सिद्धि थइ नहि।

हिन्दी अनुवाद :- सुग्रीव, कीर्तिवर्द्धन आदि श्रेष्ठ राजाओं को मैंने यह चित्र दिखलाया किन्तु कार्य फलित नहीं बना।

गाहा :-

चित्रकारनी सिद्धि

अज्ज पुणो इह नयरे समागओ देव ! तुम्ह पासम्मि ।

एयं नियच्छिरुणं मुच्छा जाया य तुम्हाणं ॥१५७॥

छाया :-

अद्य पुनरिह नगरं समागतो देव ! तव पार्श्वे ।

एतद् दृष्ट्वा मूर्च्छा जाता च तव ॥१५७॥

अर्थ :- हे देव ! आज आ नगरमां हुं तमारी पासे आव्यो अने आ चित्र जोईने आपने मूर्च्छा आवी।

हिन्दी अनुवाद :- “हे देव ! आज इस नगर में मैं आपके पास आया और आपकी इस चित्र देखकर मूर्च्छा आयी।”

गाहा :-

जायं मह सामि-समीहियं ति चिंतित्तु तेण नर-नाह ! ।

जाओ हरिसो मज्झं सुमरिय नेमित्तियं वयणं ॥१५८॥

छाया :-

जातं मम स्वामि-समीहितमिति चिन्तयित्वा तेन नर-नाथ।

जातो हर्षो मम स्मृत्वा नैमित्तिकं वचनम् ॥१५८॥

अर्थ :- हे नरनाथ ! मारा स्वामीजीनुं इच्छित्त आजै पूर्ण थयु ते विचारीने अने ज्योतिषीनुं वचन याद करीने मने हर्ष थयो।

हिन्दी अनुवाद :- “हे नरनाथ ! मेरे स्वामी का इच्छित आज पूर्ण हुआ यह सोचकर और ज्योतिषी के वचन सत्य होने से मुझे हर्ष हुआ।”

गाहा :-

एण कारणेणं मुच्छाए तुम्ह हरिसिओ अहयं ।  
ता मा नरिद ! अन्नह-भावेण वियप्पसु ममंति ॥१५९॥

छाया :-

एतेन कारणेन मूर्च्छया तव हर्षितोऽहम् ।  
तस्माद् गा नरेन्द्र ! अन्यथाभावेन विकल्पस्व मामिति ॥१५९॥

अर्थ :- हे नरेन्द्र ! आ कारणथी तमारी मूर्च्छा वडे हुं हर्षित थयो छुं तेथी तमें मारा विषयमां बीजा कोइ विकल्प न करथो।

हिन्दी अनुवाद :- “हे नरेन्द्र ! इस कारण से आपकी मूर्च्छा से मैं हर्षित हुआ हूँ अतः आप मेरे विषय में अन्य कोई विकल्प मत करना।”

गाहा :-

चित्रसेननुं सांभलीने अमरकेतुनुं कथन  
इइ चित्तसेण-वयणं सोऊणं विगय-अन्न-आसंको ।  
वज्जरइ अमरकेऊ विम्हइओ चित्त-रूवेण ॥१६०॥

छाया :-

इति चित्रसेन-वचनं श्रुत्वा विगतान्यारोपः ।  
कथयति अमरकेतुः विस्मितः चित्र-रूपेण ॥१६०॥

अर्थ :- आ प्रमाणे चित्रसेननां वचनने सांभलीने निशंक पणे राजा अमरकेतु चित्रमां रहेला रूपथी विस्मीत थयेलो बोल्यो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार चित्रसेन के वचन सुनकर निःशंकित अमरकेतु राजा चित्र से आलिखित रूप से विस्मित होता हुआ बोला।

गाहा :-

किं तीए कन्नाए एरिसयं अत्थि रूव-सोहगं ? ।  
ता भणइ चित्तसेण्णे निमेषमेत्तं इमं लिहियं ॥१६१॥

छाया :-

किं तस्याः कन्याया ईदृशाम् अस्ति रूप-सौभाग्यम् ।  
तद्-भणति चित्रसेनो निमेषमात्रं इदं लिखितम् ॥१६१॥

अर्थ :- “ते कन्यानुं आवा प्रकारनुं रूप सौभाग्य थुं खरेखर छे ?” त्यारे चित्रसेने कह्यु, “आ तो अंश मात्र चित्रमां आलेख्यु छे।”

हिन्दी अनुवाद :- “इस कन्या का ऐसा रूप सौभाग्य क्या ऐसा ही है ?” तब चित्रसेन ने कहा- “यह तो अंश मात्र ही चित्र में चित्रित है।”

गाहा :-

को सक्कइ कुसलोवि हु जहट्टियं तीए राय-कन्नाए ।  
निज्जिय-तियस-विलासिणि-रूवं रूवं समालिहिउं ? ॥१६२॥

छाया :-

कः शक्योति कुशलोऽपि खलु यथास्थितं तस्या राजकन्यायाः।

निर्जित-त्रिदश-विलासिनी-रूपं रूपं समालिखितुम् ॥१६२॥

अर्थ :- गमे तेवो कुशल पण चित्रकार, जीती छे देवलोकनी देवीओना रूपमे जेणे एवी तेणीनां (राजकन्याना) वास्तविक चित्रने चितरवा माटे कोण समर्थ बने ?”

हिन्दी अनुवाद :- “कितना भी कुशल चित्रकार हो, किन्तु जिसने देवलोक के देवियों का भी रूप विनिर्जित किया है ऐसी इस राजकन्या का चित्र बनाने में कौन समर्थ बनेगा ?”

गाहा :-

राजा द्वारा चित्रकारने भेट

तव्वयणं सोऊणं हरिसिय-हियएण राइणा तस्स ।

अंग-विलगमसेसं पसाइयं कडय-वत्थाइं ॥१६३॥

छाया :-

तद्-वचनं श्रुत्वा हर्षित-हृदयेन राज्ञा तस्य ।

अङ्ग-विलग्नमशीर्षं, प्रसादितं कटक-वस्त्राणि ॥१६३॥

अर्थ :- ते वचन सांभलीने हर्षित हृदयवाला राजा तेने पोताना शरीर ऊपर रहेला समस्त आभूषणो अने वस्त्र विगटे भेट आप्या।

हिन्दी अनुवाद :- यह वचन सुनकर हर्षित चित्तवाले राजा ने शरीर के समस्त आभूषण और वस्त्रादि भेट में दिये।

गाहा :-

तो भणइ चित्तसेणो आएसं देह देव ! अम्हाणं ।

नरवाहणस्स रण्णो जहट्टियं जेण साहेमो ॥१६४॥

छाया :-

ततो भणति चित्रसेन आदेशं दत्त देव ! अरुमभ्यम् ।

नरवाहनाय राज्ञो यथास्थितं येन कथयामः ॥१६४॥

अर्थ :- त्प्यारे चित्रसेन कहे छे - “हे देव ! आप अमने आदेश आपो तो अमे नरवाहन राजाने यथास्थित बनेली हकीकत कहीए !”

हिन्दी अनुवाद :- तब चित्रसेन कहता है - “हे देव ! आप मुझे आदेश प्रदान कीजिये, जिसमें मैं राजा नरवाहन को यथास्थित कहूँ।”

गाहा :-

नरवाहन राजाने समाचार प्रदान

रणण्णुन्नाओ सो कमेण पत्तो कुसग्नयरम्मि ।

नरवाहणस्स रत्तो सिट्ठो सब्बोवि वुत्तांतो ॥१६५॥

छाया :-

राज्ञानुवातः स क्रमेण प्राप्तः कुशाग्रनगरम् ।

नरवाहनाय राज्ञो शिष्टः सर्वोऽपि वृत्तान्तः ॥१६५॥

अर्थ :- राजा वड़े अनुशा पामेला ते चित्रकार क्रम वड़े कुशाग्र नगरमां आव्यो अने नरवाहन राजाने तेणे बधो ज वृत्तांत कह्यो !

हिन्दी अनुवाद :- राजा से अनुज्ञा प्राप्त कर चित्रकार कुशाग्रनगर पहुंचा और नरवाहन राजा को सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा -

गाहा :-

कमलावतीनुं प्रस्थान

अह तेणवि निय-भगिणी पभूय-धण-परियणेण परियरिया ।

पट्टविया हिट्टेणं सयंवरा अमरकेउस्स ॥१६६॥

छाया :-

अथ तेनापि निज-भगिणी प्रभूत-धन-परिजनेन परिवृता ?

प्रस्थापिता हृष्टेन स्वयंवराऽमरकेतवे ॥१६६॥

अर्थ :- हवे खुश थयेला ते राजाए पण स्वयंवरा पोतानी बहेनने पुष्कळ धन अने परिजनोंथी परिवरेली अमरकेतु राजा पास मोकली।

हिन्दी अनुवाद :- "अब हर्षान्वित राजा ने भी अपनी स्वयंवरा बहन को विपुल धन और परिजनों से परिवृत्त अमरकेतु राजा के पास भेजी।

गाहा :-

सिरिकंताइ-सहि-जणं आभासित्ता य सयल-परिवारं ।

कमलावईवि चलिया हरिस-विसायाउरा हियए ॥१६७॥

छाया :-

श्रीकान्तादि-सखीजनमाभाष्य च सकल-परिवारम् ।

कमलावत्यपि चलित्ता हर्ष-विशादातुरा हृदये ॥१६७॥

अर्थ :- श्रीकान्ता आदि पोतानां सखीजनोंने अने सकल परिवारने कहीने कमलावती पण हर्ष अने विशादथी आतुर थयेली चाली।

हिन्दी अनुवाद :- श्रीकान्ता आदि अपने सखीजनों को और सकल परिवार को कहकर कमलावती भी हर्ष और विषादयुक्त वहां से चली।

गाहा :-

इच्छिय-वर-लाभेणं साणंदा तहय बंधु-विरहेणं ।

किंचि-ससोगा पत्ता कमेण सा हत्थिणपुरम्मि ॥१६८॥

छाया :-

इष्ट-वर-लाभेण साणंदा तथा च बन्धुविरहेण ।

किञ्चित्-सशोका प्राप्ता क्रमेण सा हस्तिनापुरम् ॥१६८॥

अर्थ :- इच्छित वरना लाभ वडे आनन्दवाली तथा भाइना विरहथी कंठक शोकयुक्त ते कमलावती क्रमे करीने हस्तिनापुर नगरमां पंहेची।

हिन्दी अनुवाद :- इच्छित पति के लाभ से आनन्दित तथा भाई के विरह से किञ्चित् शोकयुक्त वह कमलावती क्रम से हस्तिनापुर नगर पहुंची।

गाहा :-

कमलावतीना विवाह

महया विच्छट्टेणं सोहण-लग्गम्मि गुरु-पमोएणं ।

कमलावई उ रत्ता परिणीया खत्त-कुल-विहिणा ॥१६९॥

छाया :-

महता विच्छर्देन शोभन-लगने गुरु-प्रमोदेन ।

कमलावती तु राजा परिणीता क्षत्र-कुल-विधिना ॥१६९॥

अर्थ :- शुभ लग्नमा मोटी ऋद्धि पूर्वक अने अति हर्ष पूर्वक क्षत्रिय कुलनी विधि बडे राजा अमरकेतु कमलावतीने परणयो।

हिन्दी अनुवाद :- शुभ लग्न में महती ऋद्धि युक्त और अति हर्ष से भरपूर कुल की विधि द्वारा राजा अमरकेतुने कमलावती के साथ विवाह किया।

गाहा :-

पाणाणवि अब्भहिया पवरा अंतेउरस्स सयलस्स ।

इंदस्स व इंदाणी जाया अह सा महादेवी ॥१७०॥

छाया :-

प्राणेभ्योऽपि अभ्यधिका प्रवरा अन्तःपुरस्य सकलस्य ।

इन्द्रस्येव इन्द्राणी जाता अथ सा महादेवी ॥१७०॥

अर्थ :- हवे प्राणथी पण अत्यंत अधिक प्रिय, सकल अंतःपुरमां श्रेष्ठ, इन्द्रनी इन्द्राणी जेवी ते महादेवी थइ।

हिन्दी अनुवाद :- अब वह कमलावती प्राणों से भी अधिक प्रिय, सकल अन्तःपुर में श्रेष्ठ, इन्द्र की इन्द्राणी जैसी महादेवी हुई।

गाहा :-

तीए सह विसय-सोक्खं अणुहवमाणस्स राइणो तस्स ।

नीईए सयल-भूमिं निययं परिवालयंतस्स ॥१७१॥

छाया :-

तया सह विषय-सौख्यमनुभवतः राज्ञः तस्य ।

नीत्या सकल-भूमिं निजकां परिपालयतः ॥१७१॥

अर्थ :- तेणीनी साथे विषयसुखने अनुभवतां, नीतिपूर्वक पोतानी समस्त भूमिनुं पालनकरतां.....

गाहा :-

वच्चंति वासराइं सुह-समुदायमसममणुहवंतस्स ।

विबुह-पहुस्सव तियसालयम्मि अहिदु-दुक्खस्स ॥१७२॥

छाया :-

व्रजन्ति वासराणि सुख-समुदायमसममनुभवतः ।

विबुध-प्रभोरिव त्रिदशालयोऽदृष्ट-दुःखस्य ॥१७२॥

अर्थ :- सुखनां समुदायने अनुभवतां देवलोकमां देवोनां इन्द्रनी जेम वथादे पण दुःखनो अनुभव नहि करता ते राजाना दिवसो पसार थवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :- उनके साथ विषयसुख का अनुभव करते, नीतिपूर्वक अपनी समस्त भूमि



का पालन करते हुए सुख के समुदाय में मग्न देवलोक में देवों के इन्द्र की तरह कभी भी दुःख का अनुभव नहीं करते हुए उस राजा के दिन बीतने लगे।

गाथा :- धनधर्म श्रेष्ठीनुं वर्णन  
तम्मि य पुरे पसिद्धो पबरो पउराण आसि धणधम्मो ।  
सेट्ठी निवस्स इट्ठो पत्तट्ठो सब्ब-सत्थेसु ॥१७३॥

छाया :-  
तस्मिंश्च पुरे प्रसिद्धः प्रवरः पौराणामासीत् धनधर्मः ।  
श्रेष्ठी नृपत्येषुः प्राप्तार्थः सार्व-शास्त्रेषु ॥१७३॥

गाथा :-  
नीसेस-अत्थि-वित्थर-पत्थिय-अब्भहिय-दिन्न-वरदाणं ।  
अज्जय-पज्जय जणयज्जियाए लच्छीएऽलंकरिओ ॥१७४॥

छाया :-  
निःशेषार्थि-विस्तार-प्रार्थिताभ्यधिकदत्तवरदानः ।  
'आर्यक'-प्रार्थको जनकार्जितया लक्ष्म्या अलंकृतः ॥१७४॥

गाथा :-  
जिण-समय-सत्थ वित्थर-वियक्खणो मोक्ख-मग्ग तल्लिच्छो ।  
जिण-साहु-पूयण-रओ साहम्मिय-वच्छलो धणियं ॥१७५॥

छाया :-  
जिन्-समय-शास्त्रविस्तार-विचक्षणो मोक्षमार्ग-तल्लिप्सः ।  
जिन्साधु-पूजनरतः साधर्मिकवात्सलः 'अत्यन्तम् ॥१७५॥  
अर्थ :- ते नगरमां प्रसिद्ध, लोकों में श्रेष्ठ, राजाने इष्ट, सर्व शास्त्रोमां प्राप्त-रहस्यार्थवालो, सर्व याचकोंनां समुदायने याचना करता पण वधारे आप्यु छे श्रेष्ठ दान जेणे तथा दादा, वडदादा अने पिताजीए भेगी करेली लक्ष्मीथी शोभतो, जिनेश्वर भगवंतना शास्त्रनां विस्तारने जाणवामां विचक्षण, मोक्षमार्गनी-इच्छावालो, जिनेश्वर भगवंत तथा साधु भगवंतनी पूजामां तत्पर, साधर्मिक भक्तिमां गाढ प्रेमवालो धनधर्म नामना शोड रहेता हता।

हिन्दी अनुवाद :- उस नगर में प्रसिद्ध, लोकों में श्रेष्ठ, राजा को इष्ट, सर्व शास्त्रों के रहस्यार्थ को जानने वाला, सर्व याचक वर्ग को इच्छित से भी अधिक दान देनेवाला तथा दादा-परदादा और पिताजी द्वारा अर्जित लक्ष्मी से शोभायमान, जिनेश्वर परमात्मा के शास्त्र के विस्तृत रहस्य में विचक्षण, मोक्षमार्ग की इच्छावाला, जिनेश्वर भगवंत तथा साधु भगवंत की पूजा में तत्पर, साधर्मिक भक्ति में गाढ़ प्रीतिवाला धनधर्म नामका सेठ रहता था।

गाथा :- श्रेष्ठी पत्नी मनोरमानुं वर्णन  
अवहसिय-तियस-सुंदरी-रूवाइसया पर्ई-वया दक्खा ।  
भज्जा मणोरम-नामा तस्स य पाण-प्पिया धणियं ॥१७६॥

१. १-६ णियं-दे-१७५-१७६

२. आर्यक=पितामह = प्रार्पकः = प्रपितामह धणियं देश्य = गाढ

छाया :-

अपहसित त्रिदशा-सुंदरीरूपातिशया पतिव्रता दक्षा ।

भार्या मनोरमा नाम्नी तस्य च 'प्राणप्रियाऽत्यन्तम् ॥१७६॥

अर्थ :- पोताना अतिसुंदर रूपवडे अप्सराओना पण रूपनो उपहास करनारी पतिव्रता, चतुर, मनोरमा नाम्नी ते शोठनी अत्यंत प्राणप्रिया भार्या हती।

हिन्दी अनुवाद :- अपने अतिसुन्दर रूप से अप्सराओं के भी रूप को तिरस्कृत करनेवाली चतुरा, पतिव्रता मनोरमा नाम की स्त्री शोठ की अत्यंत प्राणप्रिया भार्या थी।

गाहा :-

पुत्ररत्ननी प्राप्ति

ताण ति-वग्ग-सारं विसय-सुहं सम्मणुहवंताणं ।

निय-कुल मंडण भूओ, जाओ अह दारओ एक्को ॥१७७॥

छाया :-

तयोः त्रिवर्गसारं विषयसुखं सम्यगनुभवतः ।

निजकुलमण्डनभूतो जातोऽथ दारक एकः ॥१७७॥

अर्थ :- प्रण वर्गनां साररूप विषयसुखने सारी रीते अनुभवतां तेणीने पोतानां कुलमां आभूषण समान एक पुत्र रत्ननो जन्म थयो।

हिन्दी अनुवाद :- तीन वर्ग के साररूप विषयसुख भोगते हुए उनको अपने कुल में आभूषण तुल्य एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई।

गाहा :-

वत्ते य बारसाहे अम्मा-पीईहिं नियय कुल-विहिणा ।

धणदेवोत्ति य सम्मं नामं निव्वत्तियं तस्स ॥१७८॥

छाया :-

वृत्ते च द्वादशादिन अम्बापितृभ्यां निजकं कुल-विधिना ।

धनदेव इति च सम्यग् नाम निवर्तितं तस्य ॥१७८॥

अर्थ :- बार दिवस थये छते मातापिताए पोतानां कुलनी विधिपूर्वक ते पुत्रनुं 'धनदेव' ए प्रमाणे योग्य नाम राख्यु।

हिन्दी अनुवाद :- बारह दिन होने पर मात-पिता ने अपने कुल की विधि के अनुसार उस पुत्र का 'धनदेव' नाम रखा।

गाहा :-

अह पंच-धाइ-कय-विविह-लालणो दारओ स वड्ढंतो ।

पत्तो कुमार-भावं माउ-पिऊणं कयाणंदो ॥१७९॥

छाया :-

अथ पञ्चधात्रीकृत विविध-लालनो दारकः स वर्धमानः ।

प्राप्तः कुमारभावं मातृपित्रोः कृतानन्दो ॥१७९॥

अर्थ :- पांच धावमाता वडे विविध प्रकारे करायेला लालन-पालनवालो, वृद्धि पामतो, माता-पिताने आपेला आनंदवालो ते बालक कुमार भावने पाम्यो।

हिन्दी अनुवाद :- पांच धायमाओं से विविध तरह से पोषित, माता-पिता को आनंद देने वाला वह बालक कुमारत्व अवस्था को प्राप्त हुआ।

गाहा :-

कुमार द्वारा विद्या प्राप्ति

अब्भहिय-अट्ट-वरिसो सम्मं अब्भसिय-सयल-विज्जस्स ।  
उज्जायस्सुवणीओ विन्नाय-कला-कलावस्स ॥१८०॥  
थेवेण वि कालेणं अहिगमियाओ समत्थ-विज्जाओ ।  
सयले कला-कलावे अह जाओ सोवि पत्तट्ठो ॥१८१॥

- युग्म

छाया :-

अभ्याधिकाष्ट वर्षः सम्यग्भ्यस्त सकलविधाय ।  
उपाध्यायोपनीतो विज्ञात-कला-कलापाय ॥१८०॥  
स्तोकेनापि कालेनाधिगमिताः समस्तविद्याः ।  
सकले कला-कलापेऽथ ज्ञातः सोऽपि प्राप्तार्थः ॥१८१॥

अर्थ :- आठ वर्षी कंडक अधिक उमरवालो ते कुमार, सकल विद्याना अभ्यासी, कला समूहना ज्ञाता, उपाध्याय भगवंतने समर्पित थयेलो अल्प समयमां प्राप्त करेली समस्त विद्यावालो, समस्त कला समूहमां प्राप्त करेला अर्थवालो (रहस्यवालो) थयो।

हिन्दी अनुवाद :- आठ वर्ष से अधिक उमरवाला वह कुमार, समस्त विद्या का अभ्यासी, समस्त कलाओं का ज्ञाता, उपाध्याय भगवंत को समर्पित अल्प समय में समस्त विद्याओं में पारंगत, समस्त कला समूह में रहस्यार्थज्ञाता हुआ।

गाहा :-

धनदेव कुमारनुं स्वगृहे आगमन

तत्तो गहिय-कलावो समाणिओ निय-घरम्मि धणदेवो ।  
पिउणा से उज्जाओ स पूइओ वत्थमाईहिं ॥१८२॥

छाया :-

ततो गृहीत कलापः समानीतो निज-गृहं धनदेवः ।  
पित्रा तस्योपाध्यायः संपूजितः वस्त्रादिभिः ॥१८२॥

अर्थ :- तयारपछी ग्रहण करेली कला वालो ते धनदेव पोताना घरे पिता वडे लवायो अने वस्त्रादिथी उपाध्यायनी पूजा कराई।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् गृहीत कलावान् वह धनदेव पिता के साथ घर आया और वस्त्रादि से उपाध्याय की पूजा की गई।

गाहा :-

धनदेव यौवनने प्रांगणे

कमसो पवइढमाणो धणदेवो जोव्वणं समणुपत्तो ।  
निज्जिय-अणंग-रूवो जाओ वर-कामिणी-दइओ ॥१८३॥

छाया :-

कमशाः प्रवर्धमानो धनदेवः यौवनं समनुप्राप्तः ।  
निर्जितानङ्गरूपो ज्ञातः वर-कामिणी-दयितः ॥१८३॥

अर्थ :- क्रमथी वधतो अने यौवनने प्राप्त थयेलो रूपमां कामदेवने जीती लीधो छे एवो ते धनदेव श्रेष्ठ-स्त्रीओने पण प्रिय थयो।

हिन्दी अनुवाद :- क्रम से बड़ा होता और यौवन को प्राप्त, रूप में कामदेव को भी जीतनेवाला वह धनदेव सुन्दर-स्त्रियों को भी प्रिय हुआ।

गाहा :-

अह सो समाण-जोव्वण-रूवाइसएहिं वर-वयंसेहिं ।  
परियरिओ आहिंडइ ईसर-लीलं विडंबंतो ॥१८४॥

छाया :-

अथ स समान-यौवन-रूपातिशायीः वरवयस्यैः ।  
परिवृत्त 'आहिण्डत ईश्वरलीलां विडम्बयन् ॥१८४॥

अर्थ :- हवे समान यौवनवाळा, रूपवान् श्रेष्ठ मित्रोथी परिवरेलो ईश्वरनी लीलाने विडम्बना करतो स्वेच्छापूर्वक भगतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- अब तुल्य यौवनवाले, रूपवान् श्रेष्ठ मित्रों से आवृत्त ईश्वर की लीला को विडम्बित करता स्वेच्छापूर्वक घूमता था।

गाहा :-

धनदेवनुं मित्रो साथे उद्यानमां आववु  
अह अन्नया कयाइवि वयंस-विसरेण परिगओ एसो ।  
नयराओ नीहरिओ पत्तो य मणोरमुज्जाणे ॥१८५॥

छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि 'वयस्य-विसरेण परिगत एषः ।  
नगराभिस्सृतः प्राप्तश्च मनोरमोद्यानम् ॥१८५॥

अर्थ :- हवे एकवार क्यारे पण मित्रोना समूहथी परिवरेलो नगरथी नीकल्यो अने मनोहर उद्यानमां ते आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- अब एक बार मित्रों के समूह से परिवृत नगर से निकला और मनोहर उद्यान में वह आया।

गाहा :-

शोकाकुल पुरुषना दर्शन  
द्विद्वो य तत्थ एगो पुरिसो गुरु-सोय-परिगओ तेण ।  
वावी-तडोवविद्वो अंसु-जलोहलिय-गंड-यलो ॥१८६॥

छाया :-

दृष्टश्च तत्रैकः पुरुषो गुरु-शोक-परिगतस्तेन ।  
वापी ततोपविष्टोऽश्रु-जलौघगण्डस्थलः ॥१८६॥

अर्थ :- त्यां तेणे अत्यंत दुःखथी घेरायेलो अने वावडीना किनारा ऊपर बेठेलो, अश्रुनी जलधारा वडे भीजायेला गालवालो एक पुरुष जोयो।

१. आहिण्डत = स्वेच्छया परिभ्रमति २. वयस्यविसरेण = मित्रसमूहेन  
३. ओहलिय-दे

हिन्दी अनुवाद :- वहाँ उसने अत्यंत दुःख से दुःखित और वापी के किनारे पर बैठा हुआ, अश्रु की आँसू से प्लावित कपोलवाला एक पुरुष देखा।

गाथा :-

धनदेवो तं ददुं पुरिसं उष्यन्न-गरुय-कारुण्यो ।  
आसन्ने गंतूणं मधुर-गिराए इमं भणति ॥१८७॥

छाया :-

धनदेवस्तं दृष्ट्वा पुरुषमुत्पन्न-गुरुकारुण्यः ।  
आसन्नं गत्वा मधुर-गिरया इदं भणति ॥१८७॥

अर्थ :- ते पुरुषने जोड़ने उत्पन्न थयेली महान् करुणावालो धनदेव तेनी पास जईने मधुर-वाणी वड़े आ प्रमाणे बोल्यो।

हिन्दी अनुवाद :- उस पुरुष को देखकर उत्पन्न हुई महान् करुणा से धनदेव उनके पास जाकर मधुर वाणी से इस प्रकार बोला।

गाथा :-

दुःखना कारणनी पृच्छा  
को सि तुमं कत्तो वा किं वा ते सोय-कारणं भद्र ? ।  
एवं च तेण भणिओ सो पुरिसो एवमुल्लवइ ॥१८८॥

छाया :-

कोऽस्ति त्वं कुतो वा किं वा ते शोक-कारणं भद्र ? ।  
एवं च तेन भणितः स पुरुषः एवमुल्लपति ॥१८८॥

अर्थ :- "हे भद्र ! तू कौण छे ? क्यांथी आव्यो छे ? अथवा तारा शोकनुं कारण थुं छे ?" आ प्रमाणे तेना वड़े कहेवायेलो ते पुरुष आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- "हे भद्र ! तू कौन है ? कहाँ से आया है ? तेरे शोक का कारण क्या है ?" इस प्रकार पूछने पर वह पुरुष इस प्रकार कहने लगा।

गाथा :-

दुःखी पुरुषनो उत्तर  
कह तम्मि वज्जरिज्जइ दुक्खं गुरु-दुक्ख-पीडिय-मणेहिं ।  
न कुणइ जो पडियारं न य दुहिओ अहव जो होइ ? ॥१८९॥

छाया :-

कथं तरिमन् कथ्यते दुःखं गुरु-दुःख-पीडित-मनोभिः ।  
न करोति यः प्रतिकारं न च दुःखितोऽथवा यो भवति ॥१८९॥

अर्थ :- "आरे दुःखथी पीडित मन होते छते पण जे दुःखनो प्रतिकार करतो नथी अथवा जे दुःखित थतो नथी तेने विषे दुःख केम कहेवाय ?

हिन्दी अनुवाद :- "अत्यंत दुःख से पीडित मन होने पर भी जो दुःख का प्रतिकार नहीं करता अथवा जो दुःखित नहीं होता है उससे दुःख कैसे कहा जाय ?"

गाथा :-

तहवि हु कहेमि सुंदर ! मा वयणं तुज्झ निष्फलं जाउ ।  
सीहगुहा-नामेणं अइविसमा अत्थि पल्लित्ति ॥१९०॥

छाया :-

तथापि खलु कथयामि ते सुन्दर ! मा वचनं तव निष्फलं यातु।  
सिंहगुफा नाम्ना अतिविषमा अस्ति पल्लीति ॥१९०॥

अर्थ :- हे सुन्दर ! तो पण तुझे मारू दुःख कहे छुं, केमके तारू वचन निष्फल न  
थयु जोइए। ते सांगलो ! सिंह गुफा नाम्नी अत्यंत भयंकर पल्ली छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दर ! फिर भी मैं तुझे अपना दुःख कहता हूँ, क्योंकि तेरा वचन निष्फल  
नहीं होना चाहिए, अतः सुनिये ! सिंह गुफा नाम की अत्यंत भयंकर पल्ली है।

गाहा :-

तीए य सुपइड्डो पल्लि-वई तस्स भारिया लच्छी ।  
तीए पुत्तो जाओ जयसेणो जण-मणाणंदो ॥१९१॥

छाया :-

तस्याश्च सुप्रतिष्ठः पल्लीपतिः तस्य भार्यालक्ष्मीः ।  
तस्याः पुत्रो जातो जयसेनो जन-मन-आनन्दः ॥१९१॥

अर्थ :- ते पल्लीनो सुप्रतिष्ठ पल्लिपति तथा तेनी पत्नी लक्ष्मी अने लोकना  
मनने आनंद करनार जयसेन नामनो पुत्र थयो।

हिन्दी अनुवाद :- उस पल्ली का सुप्रतिष्ठ नाम का पल्लिपति तथा उसकी लक्ष्मी नाम की पत्नी  
और लोगों के मन को आनंद देनेवाला जयसेन नाम का पुत्र था।

गाहा :-

देवशर्मा द्वारा जयसेनने क्रीडा कराववी  
तस्स य बाल-ग्गाहो अहयं नामेण देवसम्पोत्ति ।  
कीलामि य जयसेणं तत्थ अहं विविह-कीलाहिं ॥१९२॥

छाया :-

तस्य च बालग्राहोऽहं नाम्ना देवशर्मेति ।  
क्रीडयामि च जयसेनं तत्राहं विविध-क्रीडाभिः ॥१९२॥

अर्थ :- ते जयसेन कुमारने साचवनार नाम वडे 'देवशर्मा' ए प्रमाणे तुं ते  
जयसेनने विविध क्रीडाओ वडे रमाइं छु।

हिन्दी अनुवाद :- उस जयसेन कुमार की सार संभाल करनेवाला मैं 'देवशर्मा' उस जयसेन को  
विविध क्रीडाओं से क्रीडा कराता हूँ।

गाहा :-

अह अन्नया य बाहिं विणिग्गओ गेण्हरुण जयसेणं ।  
पुरिसेहिं दोहि दिट्ठो तत्थ अहं जोगि-रूवेहिं ॥१९३॥

छाया :-

अथान्यदा च बहिर्विनिर्गतो गृहीत्वा जयसेनं ।  
पुरुषाभ्यां द्वाभ्यां दृष्टः तत्राहम् योगि-रूपाभ्याम् ॥१९३॥

अर्थ :- हवे कोइक वार जयसेनने लइने बहार गयो त्यां योगी रूपवाला बे  
पुरुषो वडे हुं जोवायो।

हिन्दी अनुवाद :- अब एक बार जयसेन को लेकर बाहर गया तब योगीरूपवाले दो पुरुषों ने हमें देखा।

गाहा :- योगी पुरुषवडे तांबुल द्वारा मोहित वक्रवु  
संभासिऊण पुर्विं दिन्नो मह तेहिं पवर-तंबोलो ।  
तम्मि समाणियमित्ते मइ-संमोहो महं जाओ ॥१९४॥

छाया :-

संभाष्य पूर्व दत्तः मह्यं ताभ्यां प्रवर-ताम्बूलः ।  
तस्मिन् भुक्तमात्रे मत्तिसंमोहो मम जातः ॥१९४॥

अर्थ :- ते बड्डे वडे मने बोलावीने पहेला श्रेष्ठ-ताम्बूल अपायु। अने ते खावा  
मात्रमां ज मारी बुद्धी संमोहित थी।

हिन्दी अनुवाद :- उस दोनों ने मुझे बुलाकर पहले श्रेष्ठ ताम्बूल दिया जिसे खाने मात्र से ही मेरी  
बुद्धि सम्मोहित हो गई।

गाहा :- कुमार सहित देवशर्मानुं योगीनां मार्गनु अनुसरण  
तत्तो कुमार-समेओ तेसिमणुमग्गमेव लग्गो हं ।  
जाणामि नेव किंचिवि विमोहिओ तेहिं पावेहिं ॥१९५॥

छाया :-

ततः कुमार-समेतः तेषामनुमार्गमेव लग्नोऽहम् ।  
जानामि नैव किंचिदपि विमोहितो ताभ्यां पापाभ्याम् ॥१९५॥

अर्थ :- ते बे पापीओ वडे मोहित करायेलो बीजुं कंड जाणतो न होउं तेम कुमारनी  
साथे तेओना मार्गने ज हुं अनुसरवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- उन पापियों से मोहित किया गया और कुछ नहीं जानता हुआ मैं कुमार के  
साथ उनके मार्ग का अनुसरण करने लगा।

गाहा :-

तेहि समेतो अहयं वयामि जा कित्तियंपि भू-भागं ।  
ताव य तिसिएण मए एगम्मि उववण-निगुंजे ॥१९६॥

छाया :-

ताभ्यां समेतोऽहं प्रजामि यावत् कियदपि भू-भागम् ।  
तावच्च तृषितेन मया एकस्मिन्नुपवन-निकुञ्जे ॥१९६॥

अर्थ :- ज्यां सुधी तेओनी साथे केटलोक पृथ्वीभाग गया पछी अत्यंत तररुयो  
हुं एक उपवननां निकुञ्जमां.....(गयो अने में)

गाहा :-

बहुविह-तरु-फल-कलुसं पीयं नीरं तु तप्पभावेण ।  
जाओ सत्थ-सरीरो विचिंतियं ताहि मे एयं ॥१९७॥

छाया :-

बहुविध-तरु-फल-कलुषं पीतं नीरं तु तत्प्रभावेण ।  
जातः स्वस्थ-शरीरो विचिंतितं तदा मया एतद् ॥१९७॥

-युग्मम्

अर्थ :- विविध प्रकारना वृक्ष नाफलो वडे मिश्रित थवाथी मेलु पाणी पीधुं जेना प्रभावथी हु स्वस्थ देहवालो थयो। अने मे विचार्यु।

हिन्दी अनुवाद :- जहाँ तक उनके साथ कितनी ही पृथ्वीभाग जाने के बाद अत्यन्त तृपित मैं एक उपवन के निकुञ्ज में गया और विविध प्रकार के वृक्षों के फलों से मिश्रित जल पिया और स्वस्थ होकर मैं सोचने लगा।

गाहा :-

रयणीइ गहिय कुमरं नासिस्समिमाण पाव-पुरिसाणं ।

इय चिंतिय चलिओ हं अलक्खिओ चेव सह तेहिं ॥१९८॥

छाया :-

रजन्यां गृहीत्वा कुमारं नक्ष्यामि आभ्यां पाप-पुरुषाभ्याम् ।

इति चिन्तयित्वा चलिताऽहं अलक्षित एव सह ताभ्याम् ॥१९८॥

अर्थ :- रात्रिमां आ पापी पुरुषोथी कुमारने बचावीने हुं भागी जइश आम चिंतन करीने तेओ वडे नहीं देखातो तेओनी साथे चालतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- रात्रि में उन पापी पुरुषों से कुमार को बचाकर मैं भाग जाऊंगा, ऐसा सोचकर उनसे छुप-छुपकर मैं उनके साथ साथ चलता था।

गाहा :-

योगीपुरुषणुं प्रपंच

पत्ताए रयणीए निसुया अन्नोन्नमुल्लवेमाणा ।

एएण बालएणं सिज्झिस्सइ जक्खिणी अहं ॥१९९॥

छाया :-

प्राप्तायां रजन्यां निःश्रुते अन्योन्यमुल्लपन्ती ।

एतेन बालकेन सेत्स्यति यक्षिणी आवयोः ॥१९९॥

अर्थ :- रात्रि प्राप्त थये छते में बद्धेने परस्पर बात करता सांभळया के “आ बालकवडे आपणने यक्षिणी सिद्ध थयो।

हिन्दी अनुवाद :- रात्रि होने पर मैंने दोनों को परस्पर बात करते सुना कि “इस बालक द्वारा अपने को यक्षिणी सिद्ध होगी।

गाहा :-

तुंगीय-पव्वयम्मी पत्ता हुणिरुण बालयं एयं ।

सिद्धाए जक्खिणीए पाविस्सामो निहिं तं तु ॥२००॥

छाया :-

तुङ्गीय-पर्वतं प्राप्ता हुत्वा बालकमेतम् ।

सिद्धायां यक्षिण्यां प्राप्स्यावः निधिं तं तु ॥२००॥

अर्थ :- तुङ्गीक पर्वत ऊपर गयेला आपणे आ बालकनो होम करीने यक्षिणी सिद्ध थये छते निधिने प्राप्त करीयु।”

हिन्दी अनुवाद :- तुङ्गिक पर्वत पर जाकर इस बालक का होम करके यक्षिणी सिद्ध होने पर हम निधि को प्राप्त करेंगे।



गाहा :- देवशर्मानु बालकने लईने भागवु  
इय तेसिं सोऊणं भणियं भय-वेविरो दढं जाओ ।  
सुत्तेसु तेसु धेत्तुं जयसेणं ताहि नद्धो हं ॥२०१॥

छाया :-

इति तयोः श्रुत्वा भणितं भय-वेपनशीलः दृढं जातः ।  
स्रुप्तयोस्तयो गृहीत्वा जयसेनं ताभ्यां नष्टोऽहम् ॥२०१॥

अर्थ :- आ प्रमाणे तेओनी वातो सांभलीने भयथी कंपित थयेलो हुं स्तब्ध थइ गयो अने तेओ बद्धे स्रुते छते जयसेनने लईने हुं त्यांथी नाठो (भागी गयो)  
हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार उनकी बात सुनकर भय से कंपित होता हुआ मैं स्तब्ध हो गया और उन दोनों के सो जाने पर जयसेन को लेकर मैं वहाँ से भाग गया।

गाहा :- योगीपुरुष द्वारा बंनेने बंधन-देवशर्मानी उद्यानमां मुक्ति  
कहकहवि हु नासंतो गवेसमाणेहिं तेहिं हं पत्तो ।  
बंधित्तु तओ वसभे समारुहेत्ता इहाणीओ ॥२०२॥

छाया :-

कथं कथमपि खलु नश्यन्, गवेषयमाणाभ्यां ताभ्यामहं प्राप्तः ।  
बद्ध्वा ततः वृषभं समारुह्य इहानीतः ॥२०२॥

अर्थ :- गमे तेम नाशतां एवा मात्ती शोध करतां तेओ वड़े हुं प्राप्त करायो अने बांधीने बलद उपर आरूढ करीने अहीं लवायो।

हिन्दी अनुवाद :- किसी प्रकार भागता हुआ मैं उनके द्वारा पकड़ा गया और रस्सी से बांधकर बैल पर बिठाकर मैं यहाँ लाया गया।

गाहा :-

अज्ज पुणो इह नयरे संपत्तो सत्तमाउ दिवसाउ ।  
तन्हा-छुहाभिभूओ मुक्को हं एत्थ उज्जाणे ॥२०३॥

छाया :-

अद्य पुनरिह नगरं सम्प्राप्तः सप्तमात् दिवसात् ।  
तृष्णा-क्षुधाभिभूतो मुक्तोऽहमत्रोद्याने ॥२०३॥

अर्थ :- वली आजे आ नगरमां अमे सात दिवस पछी आव्या अने भूख-तरसथी पीड़ातो हुं आ उद्यान मां मूकायेलो छुं.....

हिन्दी अनुवाद :- आज इस नगर में हम सात दिन के बाद आये और भूख-तृषा से पीड़ित मैं इस उद्यान में रखा गया हूँ।

गाहा :-

धनदेव पासे बालक रक्षानी मांगणी  
ता भइ ! इमं गुरु-सोय-कारणं साहियं मए तुम्ह ।  
जइ अत्थि कावि सत्ती ता रक्खह बालयं तं तु ॥२०४॥

छाया :-

तरुमात् भद्र ! इदं गुरु-शोककारणं कथितं मया तुभ्यम् ।  
यद्यस्ति कापि शक्तिस्तद् रक्षत बालकं तं तु ॥२०४॥

अर्थ :- तेथी हे भद्र ! आ मोटा-शोककनुं कारण में तमने कह्यु, हवे जो तमारी पासे कोई शक्ति होय तो आ बालकनुं तमे रक्षण करो।”

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे भद्र ! इस बड़े शोक का कारण मैंने आपको कहा, अब आपका कोई सामर्थ्य हो तो इस बालक का रक्षण करो।

गाहा :-

भणियं धणदेवेणं संपइ चिट्ठंति कत्थ ते पुरिसा ? ।  
सो भणइ गहिय-कुमरो एगो नग्गोह-हेट्टम्मि ॥२०५॥

छाया :-

भणितं धनदेवेन सम्प्रति तिष्ठतः कुत्र तौ पुरुषौ ।  
स भणति गृहीत-कुमार एको न्यग्रोधाधः ॥२०५॥

अर्थ :- त्प्यारे धनदेव वड़े पूछायु, “हमणां ते पुरुषो क्यां छे ?” त्प्यारे तेणे कह्युं के “कुमारने लईने एक योगी वडना झाडना नीचे रह्यो छे।

हिन्दी अनुवाद :- तब धनदेव ने पूछा - अभी वह पुरुष कहाँ है ? तब उन्होंने कहा कि “कुमार को लेकर एक योगी वटवृक्ष के नीचे रह रहा है।”

गाहा :-

बीओ पुरे पविट्टो सुराइ-कज्जेण संपयं चेव ।  
इय भणिए धणदेवो जोगिय-पासे गओ तुरियं ॥२०६॥

छाया :-

द्वितीयः पुरे प्रविष्टः सुराऽऽदि-कार्येण साम्प्रतमेव ।  
इति भणिते धनदेवः योगिपार्श्वं गतस्त्वचरितम् ॥२०६॥

अर्थ :- “बीजो दारू विगेरे लेवा हमणा ज नगरमां गयो छे।” आ प्रमाणे कहेवाये छते धनदेव तुरत ज योगीनी पासे गयो।

हिन्दी अनुवाद :- “दूसरा मदिरा आदि लेने अभी ही गाँव में गया है” इस प्रकार सुनकर धनदेव तुरंत ही योगी के पास गया।

गाहा :-

भणिओ य तेण एसो एयं मह देसु बालयं भइ ! ।  
अहयं सुवन्न-लक्खं तुह देमि, न एत्थ संदेहो ॥२०७॥

छाया :-

भणितश्च तेनीष एतं मह्यं देहि बालकं भद्र ! ।  
अहं सुवर्ण-लक्षं तुभ्यं ददामि नाऽत्र संदेहः ॥२०७॥

अर्थ :- त्प्यां जइने तेणे कह्युं “हे भद्र ! तुं आ बालक मने आपी दे, हुं तने लाख सोना महोर आपीशा एमां शंका नथी।”

हिन्दी अनुवाद :- वहाँ जाकर उसने कहा, “हे भद्र ! तू यह बालक मुझे दे दे। मैं तुझे लाख सुवर्ण मोहर दूँगा, उसमें कोई भी प्रकार की शंका मत करना।”

गाहा :-

तो जोगिण भणियं जाव न सो एइ दुइयओ जोगी ।  
ताव मह देसु लक्खं जेण इमं देमि तुह बालं ॥२०८॥

छाया :-

ततो योगिना भणितं यावन्न स एति द्वितीयो योगी ।  
त्वावत् महं देहि लक्षं येनेदं ददामि तुभ्यं बालम् ॥२०८॥

अर्थ :- त्यार पछी योगी वड़े कहेवायु, “ज्यां सुधीमां बीजो योगी न आवे त्यां सुधी मां मने लाख आपी दे जेथी आ बालक तने आपी दउँ”

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् योगी ने कहा - “जब तक दूसरा योगी न आवे तब तक मैं, मुझे लाख सोना मोहर दे दे, जिससे यह बालक मैं तुझे अर्पित कर दूँ”

गाहा :- लाख सोनामहोरनी अंगुठी प्रदान अने बालकनी प्राप्ति  
ततो धनदेवेणं समप्पियं अंगुलीयं तस्स ।  
दीणार-लक्ख-मुल्लं मुक्को य इमेण जयसेणो ॥२०९॥

छाया :-

ततो धनदेवेन समर्पितमङ्गुलीयकं तस्मै ।  
दीनार-लक्ष-मूल्यं मुक्तश्चानेन जयसेनः ॥२०९॥

अर्थ :- त्यारे तरत ज धनदेव वड़े लाख दीनार मूल्यवाली अंगुठी तेने आपी अने एना वड़े जयसेन मुक्त करायो।

हिन्दी अनुवाद :- तब तुरंत ही धनदेव ने लाख दीनार मूल्य वाली अंगुठी निकाल कर उसे अर्पित की और जयसेन को मुक्त कराया।

गाहा :-

घेत्तूणं अंगुलीयं सिग्घयरं जोगिओ तओ नड्डो ।  
घेत्तूण य जयसेणं धणदेवो देवसम्मस्स ॥२१०॥  
पासम्मि समल्लीणो भणिओ एसो य गिन्ह कुमरत्ति ।  
ततो य देवसम्मो पहसिय-वयणो इमं भणइ ॥२११॥

- युग्मम्

छाया :-

गृहीत्वा अङ्गुलीयकं ष्टीघतरं योगी ततो नष्टः ।  
गृहीत्वा च जयसेनं धनदेवो देवशर्मणे ॥२१०॥  
पार्श्वे समात्तीणो भणित एष च गृहाण कुमार इति ।  
ततश्च देवशर्मा प्रहसित-वदन इदं भणति ॥२११॥

अर्थ :- योगी अंगुठी लईने तरत ज त्यांथी भाग्यो अने जयसेनने लईने देवशर्मान्नी पासो आवेला धनदेवे “आ बालक ग्रहण कर” ए प्रमाणे कह्यु अने त्यार पछी प्रसन्न वदनवाळा देवशर्माए आ प्रमाणे कह्यु।

हिन्दी अनुवाद :- योगी अंगुठी लेकर तुरंत ही वहाँ से भागा और जयसेन को लेकर देवशर्मा के

पास आए हुए धनदेव ने कहा - "तुम इस बालक को ग्रहण करो" और तत्पश्चात् प्रसन्न मुखवाले देवशर्मा ने भी इस प्रकार कहा।

गाहा :-

तं सामी तं बंधू तं चिय मह जीय-दायगो सुयणु ! ।

किं किं न कयं तुमए जीयं कुमारस्स दिन्तेण ? ॥२१२॥

छाया :-

त्वं स्वामी त्वं बंधुस्त्वमेव मम जीवदायकः सुतनु ! ।

किं किं न कृतं त्वया जीवितं कुमारस्य ददता ॥२१२॥

अर्थ :- "तगे मारा स्वामी छो। तगे बंधु छो। तगे ज मारा जीवनदाता छो। आ कुमारने जीवनदान आपता तमारा वड़े शुं शुं उपकार न करायो। (बधो ज उपकार कर्यो)

हिन्दी अनुवाद :- "तुम मेरे स्वामी हो। तुम बंधु हो, तुम्हीं मेरे जीवनदाता हो, इस कुमार को जीवनदान अर्पित करते आपके द्वारा क्या क्या उपकार नहीं किया गया ? (सब कुछ आपने किया है)।"

गाहा :-

मह सामियस्स दिन्नं जीयं, जं पाण-वल्लहो पुत्तो ।

पाविट्ट-दुट्ट-जोगिय कयंत वयणाउ नीहरिओ ॥२१३॥

छाया :-

गम स्वामिने दत्तं जीवितं यत् प्राणवल्लभः पुत्रः ।

पापिष्ठ-दुष्ट-योगि-कृतान्त-वदनात् निःसृतः ॥२१३॥

अर्थ :- तगे मारा स्वामिने जीवन आप्यु छे। कारण के प्राणथी पण प्रिय तेमनो आ पुत्र पापी, दुष्ट एवा योगीओ रूपि यमराजनां गुखगांथी बचाव्यो छे..."

हिन्दी अनुवाद :- "आपने मेरे स्वामी को जीवन अर्पण किया है क्योंकि प्राण से भी प्रिय उनके इस पुत्र को पापी, दुष्ट ऐसे योगी रूप यमराज के मुख से बचाया है।"

गाहा :-

तत्तो धणदेवेणं नीओ गेहम्मि भोइओ सम्मं ।

सत्थस्स मेलिकुणं पट्टविओ नियय-ठाणम्मि ॥२१४॥

छाया :-

ततो धनदेवेन नीतो गृहं भोजितः सम्यक् ।

सार्थ मेलयित्वा प्रस्थापितो निजक-स्थाने ॥२१४॥

अर्थ :- त्यार पछी धनदेवे मने पोताना घेर लई जइने सारी रीते जमाइयो अने सार्थ नी साथे भेगो करीने मने मारा स्थाने मोकल्यो।

हिन्दी अनुवाद :- फिर धनदेव ने मुझे अपने घर ले जाकर अच्छी तरह से भोजन करवाया और सार्थ के साथ मुझे मेरे स्थान पर भेजा।

गाहा :- धनदेवनी सर्वत्र दानवीर तरीके ख्याति  
 एसो पुण वुत्ततो वित्थरिओ तत्थ पुर-वरे सहसा ।  
 अइचाई धणदेवो देइ धणं लक्खगन्नेहिं ॥२१५॥

छाया :-  
 एष पुन वृत्तान्तो विस्तृतः तत्र पुरवरे सहसा ।  
 अतित्यागी धनदेवो ददाति धनं लक्षगण्यैः ॥२१५॥

अर्थ :- वली आ वृत्तान्त ते नगरमां तरत ज फेलायो के धनदेव बहुमोटो दानेश्वरी छे। जे लाखोनुं दान आपे छे।

हिन्दी अनुवाद :- यह वृत्तान्त उस नगर में तुरंत ही फैल गया कि धनदेव बहुत बड़ा दानी हैं जो लाखों का दान देता है।

गाहा :-  
 ता जत्थ जत्थ दीसइ धणदेवो निय-वयंस-परियरिओ ।  
 अन्नोन्नं पुर-लोओ तत्थ इमं विविहमुल्लवइ ॥२१६॥

छाया :-  
 तस्मात् यत्र यत्र दृश्यते धनदेवो निज-वयस्यपरिवृतः ।  
 अन्योन्यं पुर-लोकः तत्रेदं विविधमुल्लपति ॥२१६॥

अर्थ :- तेथी ते नगरमां ज्यां ज्यां धनदेव पोताना मित्रो साथे फरतो देख्वाय के नगरना लोको परस्पर आ प्रमाणे विविध प्रकारे बोले छे।

हिन्दी अनुवाद :- उस नगर में जहाँ-जहाँ धनदेव अपने मित्रों के साथ घूमता दीखता कि नगर के लोग परस्पर इस प्रकार विविध रूप से बोलने लगते।

गाहा :-  
 एसो सो धणदेवो चाई भोगी य तहा कला-कुसलो ।  
 अत्थि-जण-पत्थिओ जो वरिसइ लक्खेहिं धन्नोत्ति ॥२१७॥

छाया :-  
 एष स धनदेवः त्यागी भोगी च तथा कला-कुशलः ।  
 अर्थि-जन-प्रार्थितो यो वर्षति लक्षैः धन्य इति ॥२१७॥

अर्थ :- “आ धनदेव ते ज छे जे त्यागी भोगी तथा कलाओमां कुशल छे। अने याचक लोकोथी प्रार्थना करायेलो लाखोनुं दान आपे छे। तेने धन्य छे ए प्रमाणे।”  
 हिन्दी अनुवाद :- “यह वही धनदेव है जो त्यागी, भोगी तथा कलाओं में कुशल है और याचक वर्ग को लाखों का दान देता है, वह धन्य है !”

गाहा :-  
 अन्ने पुण मच्छरिणो भणंति निय-चाय-गव्विया तत्थ ।  
 किं सल्लिहज्जइ एसो निय-पिउ-लच्छीए खय-कालो ? ॥२१८॥

छाया :-  
 अन्ये पुनः मत्सरिणो भणन्ति निज-त्याग-गर्विताः तत्र ।  
 किं श्लाघ्यते एष निज-पितृ-लक्ष्म्याः क्षय-कालः ॥२१८॥

अर्थ :- वली बीजा केटलाक मत्सरिओ (ईष्यालुओ) पोताना दानथी गर्वित थयेला त्यां कहे छे। “पोताना पितानी लक्ष्मीना क्षय माटे यमराज जेवो आ केम प्रशंसा कराय छे।”

हिन्दी अनुवाद :- पुनः कितने ही ईष्यालु कहते हैं, “अपने पिता की लक्ष्मी का विनाश करने में यमराज तुल्य इसकी प्रशंसा कैसे की जाती है।

गाथा :-

तं दाणमिह पसस्सं तं चेव य पोरू ( रि ? ) सस्स सुड्ढि-करं ।  
जं निय-परक्कमेणं विढविय विलसिज्जइ जहिच्छं ॥२११॥

छाया :-

तद् दानमिह प्रशास्यं तदेव च पीरुषस्य वृद्धिकरम् ।  
यद् निज-पराक्रमेणार्जित्वा विलस्यते यथेच्छम् ॥२११॥

अर्थ :- पुरुषार्थनी वृद्धिकरनार अने पोताना पराक्रमथी भेगी करीने लक्ष्मीनो ईच्छा मुजब विलास कराय छे ते ज दान अहीं प्रशंसा करवा मारे योग्य छे।

हिन्दी अनुवाद :- स्वयं के पुरुषार्थ और पराक्रम से लक्ष्मी को प्राप्त करके स्वेच्छा से भोग और दान किया जाता है, वही दान यहाँ प्रशंसा करने योग्य है।

गाथा :-

जं पुण अज्जय-पज्जय-जणयज्जय-अत्थ-मज्झओ दाणं ।  
परमत्थओ कलंकं तयं तु पुरिसाभिमाणीणं ॥२२०॥

छाया :-

यद् पुनः आर्यक-प्रार्यक जनकर्जितार्थ-मध्यतो दानम् ।  
परमार्थतः कलंकं तत्कं तु पुरुषाभिमानिनाम् ॥२२०॥

अर्थ :- वली जे पिता-पितामह-प्रपितामह विगेरे द्वारा एकठा करेला धनमांथी दान करे छे ते तो परमार्थथी स्वाभिमानी पुरुषो माटे तो कलंकरूप छे।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः जो पिता-पितामह-प्रपितामह आदि द्वारा प्राप्त धन में से दान देता है वह तो परमार्थ से स्वाभिमानी पुरुष के लिए कलंकरूप है।

गाथा :-

भणियं च बप्प-विढविय-दब्बेणं को न विड्डिरं कुणई ? ।  
सइ-विढवण-विलासणयं जणयइ विरलं सुयं नारी ॥२२१॥

छाया :-

भणितं च 'पित्रार्जित-द्रव्येण को न 'आभोगं करोति ? ।  
स्वार्जित-विलासनकं जनयति विरलं सुतं नारी ॥२२१॥

अर्थ :- एटला माटे ज कहेवायु छे के बापनी कमायेली लक्ष्मीथी कोण विलास करतु नथी ? पण पोतानी कमायेली लक्ष्मीथी विलास करनारा विरल पुत्रने कोक नारी जन्म आपे छे।”

१. बप्प-दे

२. विड्डिरम्-दे

हिन्दी अनुवाद :- इसीलिए कहा गया है कि पिता की अर्जित लक्ष्मी का कौन विलास करता नहीं है ? (अर्थात् सब जन करते हैं) किन्तु स्वयं की अर्जित लक्ष्मी से विलास करने वाले विरलपुत्र को क्वचित् नारी ही जन्म देती है।”

गाथा :-

एयं जण-प्पवायं निसुणित्ता चिंतई उ धणदेवो ।  
सच्चं भणंति एए न हु जुत्तं मज्झ एरिसयं ॥२२२॥

छाया :-

एवं जन-प्रवादं निःश्रुत्य चिन्तयति तु धनदेवः ।  
सत्यं भणन्ति एते न खलु युक्तं ममोद्देशम् ॥२२२॥

अर्थ :- आ प्रमाणे लोकोणा प्रवाद सांभलीने धनदेव विचारते छे के “आ लोको सचुं कहे छे। खरेखर माटे आ प्रमाणे कर्तवुं योग्य नथी।”

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार लोकोक्ति सुनकर धनदेव सोचता है कि “ये लोग सत्य कहते हैं, मुझे इस प्रकार नहीं करना चाहिए।

गाथा :-

धनदेवनी व्यापारार्थे परदेश गमन इच्छा  
ता पर-देसं गंतुं विढवित्ता भूरि-भूइ पब्भारं ।  
विलसामि जहिच्छाए दीणाऽणाहाण अविसंको ॥२२३॥

छाया :-

तरुमात् पर-देशं गत्वा अर्जित्वा भूरि-भूति-प्राग्भाटम् ।  
विलसामि यथेच्छया दीनान्नाथानां अविशंकः ॥२२३॥

अर्थ :- तेथी परदेशमां जईने पुष्कळ वैभव कमाईने यथेच्छ रीते दीन-अनाथोने दान आपी निशंकित एवो हुं लक्ष्मी नो विलास करीश।”

हिन्दी अनुवाद :- अतः परदेश जाकर विपुलधन प्राप्त करके इच्छानुसार दीन-अनाथों को दान देकर निशंकता से मैं लक्ष्मी का विलास करूंगा।”

गाथा :-

माता पिता पासे परदेश माटे जवानी अनुज्जा  
इय चिंतिय धणदेवो माउ-पिऊणं सगाससमागम्म ।  
विणय-पणउत्तमंगो कयंजली भणिउमाढत्तो ॥२२४॥

छाया :-

इति चिन्तयित्वा धनदेवो मातृ-पित्रोः सकाशमागत्य ।  
विनय-प्रणतोत्तमाङ्गः कृताञ्जलिः भणित्नुमाट्ठव्यः ॥२२४॥

अर्थ :- धनदेवे आ प्रमाणे विचारीने माता-पितानी पासे आलीने विनयथी नमोला-मस्तकवालो, जोडेली अञ्जलिवालो कहेवा माटे प्राट्ठव्य कर्तुं।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार सोचकर माता-पिता के पास आकर विनय से नम्र मस्तकवाला, अञ्जलिबद्ध होकर धनदेव कहने लगा।

गाहा :-

तुम्भेहिं अणुन्नाओ गंतूणं ताय ! अन्न-देसम्मि ।  
विढवामि भूरि-दव्वं इय इच्छा संपयं मज्झ ॥२२५॥

छाया :-

युवाभ्या-मनुज्ञातः गत्वा तात ! अन्यदेशम् ।  
अर्जयामि भूरि-द्रव्यमिति इच्छा साम्प्रतम् मम ॥२२५॥

अर्थ :- “हे पिताजी ! आपनी अनुज्ञाथी अन्यदेशमां जईने घणा धननी प्राप्ति करूं ए प्रमाणे हमणा मारी इच्छा छे।

हिन्दी अनुवाद :- “हे पिताजी ! आपकी अनुज्ञा से अन्यदेश में जाकर बहुत धन कमाऊँ ऐसी मेरी इच्छा है।

गाहा :-

ता अणुजाणउ ताओ पुज्जंतु मणोरहा इमे मज्झ ।  
गच्छामि अन्न-देसं वणिज्ज-बुद्धीए सयमेव ॥२२६॥

छाया :-

तस्मादनुज्ञानात् तातः पूर्यन्तां मनोरथाः इमे मम ।  
गच्छामि अन्य-देशं वाणिज्य-बुद्ध्या स्वयमेव ॥२२६॥

अर्थ :- तेथी हे पिताजी ! आप मने अनुज्ञा आपो अने मारा मनोरथ पूर्ण करो, जेथी बीजा देशमां जईने वणिकबुद्धि वडे स्वयम ज धन उपार्जन करूं।”

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे पिताजी ! आप मुझे अनुज्ञा दीजिए और मेरे मनोरथ पूर्ण कीजिए, जिससे अन्य देश जाकर वणिकबुद्धि से मैं स्वयं धनोपार्जन करूं।”

गाहा :-

अनुज्ञा माटे माता साथे वार्तालाप  
भणियं जणणीए तओ गमणय-वयणंपि दुस्सहं पुत्त ? ।  
अच्छउ ता दूरे चिय पुण गमणं अन्न-देसम्मि ॥२२७॥

छाया :-

भणितं जनन्या ततो गमनक-वचनमपि दुःसहं पुत्र ! !  
आस्तां तस्माद्दूर-एव पुन गमनमन्यदेशम् ॥२२७॥

अर्थ :- त्यारे माताए कह्यु, “हे पुत्र तारी जवानी वात पण दुःसह छे। तो पछी अन्यदेशमां गमन करवु ए तो दूर ज रहो। (अर्थात् तेनाथी सय्यु)

हिन्दी अनुवाद :- तब माता ने कहा - “हे पुत्र ! तेरी यह जाने की बात भी दुःसह है तो फिर अन्य देश में गमन करने की बात तो दूर ही रही।

गाहा :-

अन्नं च अत्थि लच्छी तुह जणएणावि अज्जिया पुत्त ! ।  
जीए विलसंतोवि हु अंतं काउं न सत्तो सि ॥२२८॥

छाया :-

अन्यच्यास्ति लक्ष्मीः तव जनकेनाप्यर्जिता पुत्र ! ।  
यस्या विलसन्नपि नूनं अन्तं कर्तुं न शक्नोऽसि ॥२२८॥



अर्थ :- वली, हे पुत्र ! तारा पिताजी वडे मेलवेली लक्ष्मी जे छे जेनो भोगवटो करतां पण निश्चे खाली करवा माटे तुं समर्थ नथी।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः हे पुत्र ! तेरे पिताजी द्वारा अर्जित धन भी काफी है, तू यथेच्छया उस लक्ष्मी का विलास करेगा तो भी रिक्त करने में तू समर्थ नहीं है।

गाहा :- अविय ।

जणएण य तुह पुत्तय ! अत्थुप्पत्तीए कारणं जं जं ।  
तं सव्वं कारवियं किं कज्जं तुह वणिज्जेण ? ॥२२९॥

छाया :-

जनकेन च तव पुत्रक ! अस्ति उत्पत्ती कारणं यद् यद् ।  
तद् सर्वं कारितं किं कार्यं तव वाणिज्येन ? ॥२२९॥

अर्थ :- अने हे पुत्र ! तारा पिताजीए धन उपार्जन माटे जे जे करवु जोइए ते बधुं कर्यु छे, अने कराव्यु छे, पछी तारे वेपारथी शुं काम छे ?”

हिन्दी अनुवाद :- और हे पुत्र ! धनोपार्जन हेतु जो जो करना चाहिए वह सब तेरे पिताजी ने किया है और कराया है, अतः व्यापार से तुझे क्या काम है !”

गाहा :-

भणियं धनदेवेणं जावज्जवि अम्मि ! बालओ पुत्तो ।  
ताव निय-जणणि-सिहिणे करिसंतो लहइ सोहंपि ॥२३०॥

छाया :-

भणितं धनदेवेन यावदद्यापि अम्बे ! बालकः पुत्रः ।  
तावत् निज-जननीस्तनी कर्षन् लभते शोभामपि ॥२३०॥

अर्थ :- धनदेव वडे कहेवायुं हे माता ! “ज्यांसुधी पुत्र बालक होय त्यां सुधी माताना स्तनने खेंचतो पण शोभा पामे छे।”

हिन्दी अनुवाद :- धनदेव ने कहा - “हे माता ! जब तक पुत्र बालक रहता है तब तक माता के स्तन को खींचने पर भी शोभा पाता है।

गाहा :-

बोलीण-बाल-भावो छिप्पइ पावेण तं करेमाणो ।  
तह पिउ-लच्छी जणणिव्व होइ सुसमत्थ-पुत्ताणं ॥२३१॥

छाया :-

व्युत्क्रान्ताबालभावः स्पृश्यते पापेन तत् कुर्वन् ।  
तथा पितृ-लक्ष्मीः जननी इव भवति सुसमर्थ-पुत्राणाम् ॥२३१॥

अर्थ :- ओलंगी गयेला बालभाव वालो तेवी क्रीया करतो पापवडे स्पर्शाय छे। (लेपाय छे) तेम सारा-समर्थपुत्रोने पितानी लक्ष्मी माता जेवी थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- किन्तु बालभाव से रहित वैसी क्रिया करे तो पाप होता है, वैसे ही कुलीन-समर्थपुत्र को पिता की लक्ष्मी माता जैसी है।

गाहा :-

सुसमत्थो वि हु जो जणय-अज्जियं संपयं निसेवेइ ।  
सो भणिय । ताव लोए ममंव उवहासयं लहइ ॥२३२॥

छाया :

सुसमर्थोऽपि खलु यो जनकार्जितां संपदं निषेवते ।  
सो अग्बे ! तावल्लोके ममैवोपहासतां लभते ॥२३२॥

अर्थ :- समर्थपुत्र पण जो पिताजी वड़े अर्जित करेली लक्ष्मीने वापरे (भोगवे) तो हे माता ! ते लोकोमां मारी जेम उपहासने पामे छे। (हास्य पात्र बने छे)''  
हिन्दी अनुवाद :- समर्थपुत्र भी यदि पिताजी द्वारा प्राप्त लक्ष्मी का उपभोग करे तो हे माता ! वह लोक में मेरी तरह हास्य पात्र बनता है।''

गाहा :-

इय भणितं धणदेवो अंसु-जलुप्फुण्ण-लोयणो सहसा ।  
मुक्कलह इह भणंतो पडिओ जणणीए चलणेसु ॥२३३॥

छाया :-

इति भणित्वा धनदेवोऽश्रु-जलापूर्णलोचनः सहसा ।  
"बन्धनमुक्तमिह भणन् पतितो जनन्याश्चरणयोः ॥२३३॥

अर्थ :- आ प्रमाणे कहीने अश्रुओथी भीजाइ गयेली आँखोवालो धनदेव माताना चरणोमां जाणे कोइ बंधनथी मुक्त थतो होय तेम एकदम पड़्यो।  
हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार कहकर जैसे कोई बन्धन से मुक्त होता हो वैसे अश्रुयुक्त नयनवाला धनदेव माता के चरण में सहसा गिर पड़ा।

गाहा :-

पितानी अनुज्जा  
तो धणधम्मो सेट्टी नाउं अवसाण-कारणं तस्स ।  
वज्जरइ पुत्त ! को तुज्ज वंछिए कुणइ विग्घंति ? ॥२३४॥

छाया :-

ततो धनधर्मश्रेष्ठी ब्राह्म्या अवसान-कारणं तस्य ।  
कथयति पुत्र ! कस्तव वाञ्छिते करोति विघ्नमिति ॥२३४॥

अर्थ :- त्यार पछी धनधर्मश्रेष्ठीए तेनी (पुत्रनी) इच्छा जाणीने कह्यु, "हे पुत्र ! तारी इच्छामां कोण अंतराय करे ?"  
हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् धनधर्मश्रेष्ठी ने अपने पुत्र की इच्छा जानकर कहा - "हे पुत्र ! तेरी अभिलाषा को कौन रोक सकेगा ?"

गाहा :-

जणएणं से जणणी पुत्त-विओगं अणिच्छमाणीवि ।  
कहकहवि हु संठविया विज्जाय सुयावमाणेण ॥२३५॥

१. उप्फुण्ण दे. आपूर्ण

२. मुक्कलह दे. बन्धनमुक्त-दे

छाया :-

जनकेन तस्य जन्नी पुत्र-वियोगगनिच्छन्त्यपि ।

कथंकथमपि खलु संस्थापिता विज्ञात-सुतापमानेन ॥२३५॥

अर्थ :- जाण्या छे पुत्रना अपमानजेणे एवा पितावडे पुत्रना वियोगने नही इच्छती पण माता केमे करीने मनावार्ई ।

हिन्दी अनुवाद :- पुत्र के अपमान को पहचानने वाले पिता द्वारा पुत्र के वियोग को न चाहने वाली माता मनाई गई।

गाहा :-

परदेश गमन निमित्त महोत्सव

एवं सो धनदेवो माया-वित्तेहिं अब्भणुत्ताओ ।

पर-देस-गमण-जोगं गहिऊण चउच्चिहं भण्डं ॥२३६॥

अट्टाहिय-महिमाओ कारावेत्ता जिणिंद-भवणेसु ।

संपुइय साहु-जणं संमाणिय माणणिज्ज-जणं ॥२३७॥

सयलम्मि तम्मि नयरे कारिय आघोसणं जणे मिलिए ।

नेमित्तिय-आइट्टे सुह-दिवसे विहिय-मंगल्ले ॥२३८॥

गहिऊण पवर-सउण अंगीकाउं कुसग्ग-वर-नयरं ।

हिय-बंधु-वणिय-सहिओ नीहरिओ नियय-नयराओ ॥२३९॥

छाया :-

एवं स धनदेवो मातृपितृभ्याम् अभ्यनुज्ञातः ।

परदेश-गमन-योगं गृहीत्वा चतुर्विधं भाण्डम् ॥२३६॥

अष्टाद्विक-महिम्नः कारयित्वा जिनेन्द्र-भवनेषु ।

सम्पूज्य साधुजनं सम्मान्य माननीय-जनम् ॥२३७॥

सकले तस्मिन्नगरे कारयित्वा आघोषणं जने मिलिते ।

नैमित्तिकादिष्टे शुभ-दिवसे विहित-मङ्गले ॥२३८॥

गृहीत्वा प्रवर-शकुनं अङ्गीकर्तुं कुशाग्र-वर-नगरम् ।

हित-बन्धु-वणिक-सहितो निःसृतः निजक-नगरात् ॥२३९॥

- चतसृभिः कलापकम्

अर्थ :- आ प्रमाणे माता-पिता वडे अनुज्ञा पामेल धनदेव परदेशा जवाने योग्य चार प्रकारना भाजनी लईने.....

जिन मंदिरमां अट्टाई महोत्सव करावीने, साधुभगवंतोनी पूजा करीने, माननीय पुरुषोने सम्मानित करीने.....

ते संपूर्ण नगरमां लोको भेगा थये छते उद्घोषणा करावीने, करेला-मंगलवालो ज्योतिषीना कहेला शुभ दिवसे.....

श्रेष्ठ शकुनने ग्रहण करीने, हितकारी बन्धु-वणिक सहित पोताना-नगरथी कुशाग्र नगर तरफ प्रयाण कर्युं।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार माता-पिता द्वारा अनुज्ञात धनदेव जिन मंदिर में अड्डाई महोत्सव करवाकर, साधुभगवंतों की पूजा करके, माननीय पुरुषों को सम्मानित करके, उस संपूर्ण नगर में लोगों के इकट्ठे होने पर उद्घोषणा करवाकर किये हुए मङ्गलोपचारवाला, श्रेष्ठ शकुन को ग्रहण करके, हितकारी बन्धु-वणिग् के साथ ज्योतिषी द्वारा कहे गए शुभ दिन आने पर परदेश जाने योग्य चार भाण्ड (भाजन) लेकर स्व नगर से कुशाग्र नगर की ओर प्रयाण किया।

गाथा :-

एवं सो धनदेवो संवाहिय-सह-पयट्ट-जण-नियरो ।  
लहु-लहु पयाणएहिं वच्चइ सह गरुय-सत्थेण ॥२४०॥

छाया :-

एवं स धनदेवः संवाहित-सह प्रवृत्तजग्निकरः ।  
लघु-लघु प्रयाणकैः व्रजति सह गुरु-सार्थेन ॥२४०॥

अर्थ :- आ रीते बोलावेला बधा जनसमुदाय सहित ते धनदेव मोटा सार्थनी साथे नाना-नाना प्रयाण करवा वडे आगळ जवा लाग्यो।

हिन्दी-अनुवाद :- इस तरह बुलाये हुए सभी जनसमुदाय सहित वह धनदेव बड़े सार्थ के साथ छोटे-छोटे प्रयाण द्वारा आगे जाने लगा।

गाथा :-

सार्थनो अटवीमां प्रवेश  
तत्तोऽणुवासरं सो सत्थो वसिमं अइक्कमेऊण ।  
अह कमसो संपत्तो एक्कं अइभीसणं अडविं ॥२४१॥

छाया :-

ततोऽणुवासरं स सार्थो वसतिमतिक्रम्य ।  
अथ क्रमशः संप्राप्त एकामतिभीषणामटवीम् ॥२४१॥

अर्थ :- आ बाजु प्रतिदिन आगळ वधतां ते सार्थ वसतीने ओळंगीने क्रमशी भयंकट जंगलमां आय्यो...

हिन्दी अनुवाद :- इस तरह प्रतिदिन आगे बढ़ता वह सार्थ बस्ती को लांघकर क्रम से भयंकर अटवी में आया।

गाथा :-

जत्थ अदीसंताणवि घण-पत्तल-पउर-पायवत्तणओ ।  
कूइय-सर-संसवणा गम्मइ विहगाण अत्थितं ॥२४२॥

छाया :-

यत्र अदृश्यमानामपि घन-पत्तल-प्रचूर-पादपत्तवतः ।  
कृजित-स्वर-संश्रवणात् गम्यते विहगानां अस्तित्वम् ॥२४२॥

अर्थ :- ज्यां गाढ पांदडाओनी प्रचुरतावाळा वृक्षो होवाशी पक्षिओनु अस्तित्व नही देखातां छतां पण तेमना कूजन अने स्वरना श्रवणशी जणाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- जहाँ घन पर्वों की प्रचुरता युक्त वृक्ष होने से पक्षियों का अस्तित्व दिखाई न देने पर भी उनके कूजन और स्वर के श्रवण से ज्ञात होता था।

गाहा :-

अन्नं च जीए लोया नीइ-पहाणस्स पुहइपालस्स ।  
नयरीए इव न कुणंति कहवि उम्पग्ग-संचरणं ॥२४३॥

छाया :-

अन्यच्च यस्यां लोका नीति-प्रधानस्य पृथ्वीपालस्य ।  
नगर्यामिव न कुर्वन्ति कथमपि उन्मार्ग-संचरणम् ॥२४३॥

अर्थ :- अने बीजु न्याय नीति प्रधान राजाना नगरनी जेम जेमां लोको क्यांय पण उन्मार्गंनुं संचरण करता न हता। (उन्मार्गो जतां नही)।

हिन्दी अनुवाद :- और दूसरा न्याय-नीति प्रधान राजा के नगर की तरह जिसमें लोग कहीं भी उन्मार्ग का आचरण नहीं करते थे।

गाहा :-

विथडाडवीए तीए मज्झमज्जेण वयइ सो सत्थो ।  
निय-कोलाहल-पडिरव-पडिपूरिय-जुन्न-तरु-विवरो ॥२४४॥

छाया :-

विकटाटव्यास्तस्याः मध्यमध्येन ब्रजति स सार्थः ।  
निज-कोलाहल-प्रतिरव-प्रतिपूरित जीर्णतरुविवरः ॥२४४॥

अर्थ :- पोताना कोलाहलना पडघाथी जीर्ण वृक्षोना बखोल पूराई गया छे तेवो ते सार्थ ते भयंकर जंगलनी मध्यमां थईने जतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- अपने कोलाहल के प्रतिघात से जीर्ण वृक्षों के खड्डे भी भरा गये हैं वैसा वह सार्थ उस भयंकर जंगल के मध्य में होकर जा रहा था।

गाहा :-

तुंग-तरु-नियर-साह-प्पसाह-संछन्न-अंबरत्तणओ ।  
सव्वंपि वहइ दियहं अलग्ग-रवि-किरण-संतापो ॥२४५॥

छाया :-

दुर्ग-तरु-निकट-शाखा-प्रशाखा संछन्नाम्बरत्वतः ।  
सर्वमपि वहति दिक्समलग्न-रविकिरण-संतापः ॥२४५॥

अर्थ :- ऊंचा वृक्षोना समुदायनी शाखा-प्रशाखाओ वडे ढंकायेलु आकाश होवाथी नहीं लागेला सूर्यना किरणना संतापवाळो आख्योय दिक्स पसार थतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- ऊंचे वृक्षों के समुदाय से शाखा-प्रशाखाओं द्वारा व्याप्त आकाश होने से सूर्य के किरणों के संताप से रहित पूरा दिन निकल जाता था।

गाहा :-

कवि-कथ-गुरुतर-वोक्कार-सवण-सहसुत्तसंत-बहु-वसहो ।  
उत्तसिय-वसह-वालण-निमित्त-पमुक्क-हक्कारो ॥२४६॥

छाया :-

कपि-कृत-गुरूतर-व्युत्कार-श्रवण सहस्रोत्पसात् बहु वृषभः।  
उत्प्रसित वृषभ-वारण-निगित्त-प्रमुक्ताकारः ॥२४६॥

अर्थ :- वान्दराओ द्वारा मोटेथी कराता हुकाहुकना आवाजनां श्रवणथी बलदो  
त्रास पामतां हतां, अने त्रास पागेला ते बलदोने वालवामाटे तेनां रखेवालो  
तेने मोटेथी बोलावतां हता।

हिन्दी अनुवाद :- बन्दरों द्वारा जोर से निकलते हुकाहुक आवाज के श्रवण से बैल त्रास पाते थे  
और त्रासित उस बैलों को शान्त करने के लिये उनके रखवाले उन्हें जोर से बुलाते थे।

गाहा :-

हक्कार-सह-पडिरव-संसवणुत्तासियाण सयराहं ।  
आयन्नतो दिसि दिसि घूयाणं भूरि-हुंकारे ॥२४७॥

छाया :-

आकार-शब्द-प्रतिरव संश्रवणो त्रासितानां 'शीघ्रम् ।  
आकर्णयन् दिशि दिशि घूकानां भूरि-हुंकारान् ॥२४७॥

अर्थ :- बोलावाता ते शब्दोनां पडघाना श्रवणथी त्रास पामतां घूवडनां गोटा  
हुंकार बधी दिशाओमां संभळातां हतां.....

हिन्दी अनुवाद :- बोले गए उस शब्दों के प्रतिघात के श्रवण से त्रस्त हुए उल्लू के बड़े हुंकार  
सभी दिशाओं में सुनाई देते थे।

गाहा :-

वसह-कंठ-पलंबिर-घण्टिया-रणिय-पूरिय-भूरितरंबरो ।  
विस-खुरुक्खय-रेणु-निरंतरो वयइ तत्थ स वाणिय-सत्थओ ॥२४८॥

छाया :-

वृषभ-कण्ठ-प्रलम्बशील-घण्टिकारणितपूरित-भूरितराम्बरः।  
वृष-खुरोत्खात-रेणु निरंतरो व्रजति तत्र स वणिक् सार्थः ॥२४८॥

अर्थ :- बलदोनां कण्ठमां बंधायेली घण्टीना रणकारथी पूराई गयेल घणो  
आकाशा तथा बलदोनां पगनी खरीओथी उडती धूल ज्यां तंमेशां फैलाती हती,  
त्यां ते वाणियानो सार्थ जतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- बैलों के कण्ठ में लगी घण्टी के रणकार से व्याप्त आकाश तथा बैलों के पैर  
की खुरी से उड़ती धूल प्रतिदिन फैलाती थी। जहाँ उस वणिग् का सार्थ चलता था।

गाहा :-

साहु-धणेसर-विरइय-सुबोह-गाहा-समूह-रम्माए ।  
रागगि-दोस-विसहर-पसमण-जल-मंत-भूयाए ॥२४९॥

१. सयराह - देश्य

छाया :-

साधु-धनेश्वर-विरचित-सुबोध-गाथा-समूह-रम्यायाः।

रागाग्नि-द्वेषविषधर-प्रशामन-जलमन्त्र भूतायाः ॥२४९॥

अर्थ :- धनेश्वर साधु वड़े रचित सारा बोधने करावनार गाथाओना समूहवड़े रम्य, रागरूपी आग अने द्वेषरूपी सर्पने शांत करवा माटे जलरूप मन्त्रभूत...  
गाहा :-

एसो एत्थ समप्पइ अडवि-पवेसस्स वन्नणो नाम ? ।

सुरसुन्दरी-नामाए कहाए पढमो परिच्छेओ ॥२५०॥

छाया :-

एषोऽत्र समाप्यते अटवि-प्रवेशस्य वर्णनी नाम ।

सुरसुन्दरी नाम्न्याः कथायाः प्रथमः परिच्छेदः ॥२५०॥

अर्थ :- एवो आ अटवीमां प्रवेशानुं वर्णन करनारो सुरसुन्दरी नामनी कथानो प्रथमपरिच्छेद समाप्त कराय छे।

हिन्दी अनुवाद :- सुन्दर बोध कराने वाली गाथाओं के समूह से रम्य, राग रूपी आग और द्वेषरूपी सर्प को शांत करने के लिए जलरूप मन्त्रभूत, ऐसे इस अटवी में प्रवेश का वर्णन करनेवाले धनेश्वर साधु द्वारा रचित सुरसुन्दरी नाम की कथा का प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है।

॥ प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥





# ज्ञानदीप (चूड़ामणिसार)

हिन्दी अनुवादक  
आचार्य विश्वनाथ पाठक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी  
२००४



## भूमिका

**ज्ञानदीप (चूड़ामणिसार)** ज्योतिर्विद्या से सम्बद्ध प्रश्नशास्त्र-विषयक लघु ग्रन्थ है। इसमें किसी आरम्भमाण कार्य की सिद्धि और असिद्धि तथा किसी नष्ट या विलुप्त वस्तु के लाभ या अलाभ से सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर प्रश्नकर्ता के वाक्याक्षरों के द्वारा बता देने की पद्धति का संक्षिप्त वर्णन है। इसका सम्यक् अभ्यासी विद्वान् प्रश्न-वाक्य को सुन कर भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों के अनेक अज्ञात रहस्यों का उन्मीलन करने में समर्थ हो सकता है। इस ग्रन्थ में वर्णमाला के सभी वर्णों को आलिंगित, सुभग उत्तर संकट अभिधूमित मध्यम अधर अधराधर संकट विकट दग्ध आदि संज्ञा-वर्णों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक वर्ण के अनुसार उस का फल निर्दिष्ट है। प्रश्नकर्ता के द्वारा प्रयुक्त वाक्य में सभी आलिंगित वर्ण रहने पर पूर्णतः कार्य-सिद्धि होती है। अभिधूमित वर्णों के रहने पर मध्यम कार्यासिद्धि और दग्धाक्षरों के रहने पर कार्य-सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार यदि किसी प्रश्न-वाक्य में अनेक संज्ञा-वर्णों के अक्षर मिश्रित होंगे तो जिस संज्ञा-वर्ग के अक्षर संख्या में सर्वाधिक होंगे उसी के अनुसार उसका उत्तर होगा। विभिन्न संयुक्त और असंयुक्त वर्णों के सम्मिलन की स्थिति में प्रश्नोत्तर क्या होगा, इसका भी प्रतिपादन किया गया है।

यह लघु ग्रन्थ आचार्य जिनविजय मुनि द्वारा संशोधित एवं सम्पादित **जयपाहुड** नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में संस्कृत टीका के साथ छपा है। इस में केवल ७३ प्राकृत गाथायें हैं। सम्पादक ने इसका नाम **ज्ञानदीपकारख्य चूड़ामणिसार-शास्त्र** लिखा है। परन्तु मूल ग्रन्थ की प्रथम गाथा के अनुसार यह **चूड़ामणि** नामक किसी प्राचीनतम ग्रन्थ का सारांश है और इसका नाम **ज्ञानदीप (जाणदीव)** है। प्रथम गाथा में प्रयुक्त 'चूड़ामणिसारं' पद ग्रन्थ का स्वरूप-परिचय प्रस्तुत करता है और 'जाणदीवक्खं' पद उस की आख्या (संज्ञा)। अतः इसे **ज्ञानदीप (जाणदीप)** ही कहना उचित है। इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मूल ग्रन्थ ग्रन्थकार के सम्बन्ध में बिल्कुल मौन है। **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** नामक ग्रन्थ के पंचम भाग में पृ० २११ पर इस का जो परिचय दिया गया है, उसके अनुसार यह भद्रबाहु स्वामी की कृति है, परन्तु मूल ग्रन्थ की किसी भी गाथा में इस का वर्णन नहीं है।

इस लघु ग्रन्थ का आधार **चूडामणि** नामक कोई प्राचीन ग्रन्थ है जो अब अनुपलब्ध है। **कहारयणकोस** और **सुपासनाहचरिय** में उक्त ग्रन्थ का उल्लेख है। भद्रलक्षण कृत **चूडामणिसार** तथा पार्श्वचन्द्र मुनि-कृत **हस्तकाण्ड** का आधार **चूडामणि** ही है। गद्यात्मक **चूडामणि** की रचना अनुश्रुति के अनुसार पाँचवीं शताब्दी में हुई थी। इस ग्रन्थ के कर्ता कोई दुर्विनीत नामक राजा थे।

**जैन साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग ५ में इस ग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं की संख्या भूल से चौहत्तर लिख दी गयी है। वस्तुतः इस में सब मिला कर तिहत्तर गाथायें ही हैं। इन तिहत्तर गाथाओं में भी विषय-वस्तु का प्रतिपादन केवल बहत्तर गाथाओं में है। इस दृष्टि से मूल ग्रन्थ बहत्तरवीं गाथा पर ही समाप्त हो जाता है। तिहत्तरवीं गाथा में केवल कुछ संख्यायें दी गयी हैं। उन संख्याओं का योग बहत्तर होता है। लगता है, ग्रन्थकार ने इस गाथा में मूल ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादक गाथाओं की संख्या का कूट-शैली में ठीक-ठीक आकलन किया है। उक्त तिहत्तरवीं गाथा इस प्रकार है :-

दो तिन्नि पंच अट्टा पंच य अट्टा य तह य दो तिन्नि।

चारिक्क सत्त छक्का सत्त छक्का य चारिक्का।।

अर्थात् दो तीन पाँच आठ पाँच आठ दो तीन चार एक सात छह सात छह चार एक।

उपर्युक्त संख्याओं का यो बहत्तर है और गाथाओं में ही विषय-वस्तु का प्रतिपादन भी है। इन संख्याओं को क्रमशः चार-चार के समूह में विभक्त कर उसी क्रम से चार पंक्तियों में इस प्रकार लिखने पर दायें, बायें, ऊपर और नीचे गिनने पर एक पंक्ति में लिखी संख्याओं का योग अट्टारह और चारो पंक्तियों का योग बहत्तर होता है :-

२	३	५	८	=	१८
५	८	२	३	=	१८
४	१	७	६	=	१८
७	६	४	१	=	१८
१८	१८	१८	१८		

एक कोण से दूसरे कोण की ओर सीधे गिनने पर भी प्रत्येक कोण पर अट्टारह की संख्या प्राप्त होती है। संभवतः इस गाथा द्वारा मूल विषय प्रतिपादक गाथाओं की संख्या को प्रक्षेप से बचाने का प्रयास किया गया है।

## ज्ञानदीप (चूड़ामणिसार)

नमिऊण जिणं सुरअणचूड़ामणिकिरणसोहिपयजुयलं।

इय चूड़ामणिसारं कहिय मए जा (ना) णवीवक्खें।।१।।

जिन के चरण-युगल सुरगणों की चूड़ामणियों की किरणों से शोभित हैं उन जिन देव (तीर्थकर) को नमस्कार कर इस ज्ञानदीपकारव्य चूड़ामणिसार का वर्णन करता हूँ।।१।।

पढम-तईयं-सत्तम-रंधसरा-पढम-तईयवग्गवण्णाइं।

आलिंगियाइं सुहया उत्तर-संकडअणामाइं।।२।।

प्रथम, तृतीय, सप्तम और नवम स्वर (अ, इ, ए, ओ) तथा व्यंजन वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णक अर्थात् च, ट, प, य, श, ग, ज, ड, द, ब, ल, स की आलिंगित, सुभग, उत्तर और संकट संज्ञा है अर्थात् पूर्वोक्त सभी वर्ण आलिंगित, सुभग, उत्तर और संकट - इन चार नामों से जाने जाते हैं।।२।।

कुच-जुग-वसु-दिससरआ बीय-चउत्थाईं वग्गवण्णाइं।

अहिधूमिआइं मज्झ ते उण अहराइं वियडाइं।।३।।

द्वितीय, चतुर्थ, अष्टम एवं दशम - ये चार स्वर क्रमशः आ, ई, ऐ, औ तथा ख, छ, ठ, थ, प, र, ष, ध, झ, ढ, ध, भ, व, ह ये व्यञ्जन वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण वर्ण अभिधूमित, मध्य, अधर और विकट कहलाते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त सभी वर्ण अभिधूमित, मध्य, अधर और विकट - इन चार नामों से जाने जाते हैं।।३।।

सर-रिउ-रुह-दिवाअर-सराईं वग्गाण पंचमा वण्णा

दढ्ढाइं वियड-संकड-अहराहर-असुहणामाइं।।४।।

पंचम, षष्ठ, एकादश और द्वादश स्वर अर्थात् उ, ऊ, अं, अः - ये चार स्वर तथा ड, ज, ण, न, म - व्यञ्जन वर्ग के पंचमाक्षर - दग्ध, विकट - संकट, अधर और अशुभ कहे जाते हैं अर्थात् पूर्वोक्त सभी वर्ण दग्ध, विकट - संकट, अधर और अशुभ - इन चार नामों से जाने जाते हैं।।४।।

सब्बाण होइ सिद्धी पण्हे आलिंगिएहि सब्बेहिं।

अहिधूमिएहिं मज्झा णासइ दढ्ढेहिं सयलेहिं।।५।।

प्रश्न में सभी आलिंगित वर्ण होने पर सब कार्यो की पूर्णतः सिद्धि होती है। अभिधूमित वर्ण होने पर मध्यम सिद्धि होती है। यदि प्रश्न में सभी दग्धाक्षर हों तो सिद्धि नष्ट हो जाती है।।५।।

उत्तरसरसंजुता उत्तरआ उत्तरुत्तरा हुंति।  
अहरेहिं उत्तरतमा अहरा अहरेहिं णायव्वा॥६॥

उत्तर वर्ण उत्तर स्वर से संयुक्त होने पर उत्तरोत्तर संज्ञक होते हैं। वे ही वर्ण अधराधर संज्ञक स्वरों से संयुक्त हो कर उत्तरतम संज्ञक बन जाते हैं। अधर वर्णों का अधर स्वरों से संयोग होने पर उन की संज्ञा जान लेनी चाहिये अर्थात् अधर वर्ण अधर स्वरों से संयुक्त होने पर अधराधर कहलाते हैं॥६॥

अहरसरेहिं जुत्ता ते दब्डा हुंति अहरअहरतमा।  
कज्जाइं साहंति सुअ(इ)रं अधमा अधमाइं कि बहुणा॥७॥

अधर स्वर से संयुक्त दग्ध का अधराधरतम होते हैं। वे अति चिरकाल में अधमाधम कार्यो की सिद्धि करते हैं। अधिक क्या कहें॥७॥

दब्डसरेहिं जुत्ता दब्डतमा हुंति दब्डया वण्णा।  
ते णासयंति कज्जं बलाबलं मीसयेसु सयलेसु॥८॥

दग्ध स्वरों से संयुक्त दग्ध-संज्ञक वर्ण दग्धतम होते हैं। वे कार्य को नष्ट करते हैं। सब प्रकार के वर्णों के मिश्रित होने पर बलाबल के अनुसार फल होता है। (अर्थात् जिस प्रकार के अक्षरों की संख्या अधिक होगी फल उसी के अनुसार होगा)॥८॥

आलिंंगिएहिं पुरिसो महिला अहिधूमिएहिं सब्बेहिं।  
दब्डेहिं होइ संबो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं॥९॥

प्रश्न में पड़े हुए आलिंंगित अक्षरों से पुरुष, सभी अभिधूमिताक्षरों से महिला और दग्धाक्षरों से नपुंसक होता है - यह जान लिया जाता है॥९॥

जइ वग्गाण य वण्णा पढम-बीय-तीय-चउत्थ-पंचमया।  
तह विप्प-राय-वयसा सुहो विय संकरा य सयलाइं॥१०॥

यदि व्यञ्जन वर्णों के प्रश्न, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण हों तो उनसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और सभी संकर जातियों का ज्ञान होता है॥१०॥

एदेहिं वण्णेहिं कमेण बालो कुमारओं तरुणो।  
मज्झिमवयो वि थविरो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं॥११॥

यदि प्रश्न के वाक्य में ये ही वर्ण आये हों, तो क्रमशः बालक, कुमार, तरुण, मध्यमवय और वृद्ध को भी जान लिया जाता है॥११॥

आलिंंगिएहिं विट्ठी मज्झ अहिधूमिएहिं सा होइ।  
दब्डेहिं णत्थि विट्ठी जिणवयणं सच्चियं जाण॥१२॥

आलिंंगित अक्षरों से वृष्टि है, अभिधूमिताक्षरों से मध्यम वृष्टि है और दग्धाक्षरों से वृष्टि नहीं है - यह ज्ञान होता है। जिन वचन सत्य समझो॥१२॥

अइउप्पज्जइ सस्सं पण्हे आलिंंगिएहिं वण्णेहिं।  
अहिधूमिएहिं किंचण णासइ दब्डेहिं णो चित्तं॥१३॥

प्रश्न में आलिंगित वर्णों से अतिधान्योत्पत्ति होती है। अभिधूमिताक्षरों से अल्प होती है और दग्धाक्षरों से नष्ट हो जाती है। (अर्थात् धान्योत्पत्ति नहीं होती है।) इस में कोई आश्चर्य नहीं है॥१३॥

**संपदिकालं पण्हे वण्णो आलिंगिओं पयासेइ।**

**अहिधूमिओ दि भूअं दङ्गो उण भावियं णूणं॥१४॥**

प्रश्न में आलिंगित वर्ण वर्तमान काल, अभिधूमित वर्ण भूतकाल और दग्धवर्ण निःसंदेह भविष्यत् काल को प्रकाशित करता है॥१४॥

**तह पढम बीय तइआ वण्णा वच्चुंति तिण्णि कालाइं।**

**मा इत्य करह भंती जहसंखं सयलवग्गाणं॥१५॥**

सभी वर्णों के प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ण (अक्षर) क्रमशः तीनों कालों को बताते हैं। इस में भ्रम न करो॥१५॥

**अलिंगिएहिं मुक्कइ वाहिं अहिधूमिएहिं ण हु रोइं।**

**अहवा चिरेण कट्ठं दङ्गो मरणं पयासेइ॥१६॥**

आलिंगित वर्णों से रोगी व्याधि से मुक्त होता है। अभिधूमित वर्णों से मुक्त नहीं होता है अथवा देर से मुक्त होता है। दग्ध वर्ण मृत्यु को प्रकाशित करता है॥१६॥

**विसमा दाहिणपासे वामे य वणं समा य पयडंति।**

**वण्ण पण्हे पडिया पंचमया बेवि पासंमि॥१७॥**

प्रश्नवाक्य में आये विषम वर्ण (वर्ग के प्रथम और तृतीय) दक्षिण पार्श्व में, समवर्ण (द्वितीय और चतुर्थ) वामपार्श्व में और पंचम वर्ण दोनों पार्श्वों में व्रण के प्रकाशक हैं॥१७॥

**अट्ट सिरो-मणि-वयण-हियय-कडि-उरु-जाणु-चरणजुयलेहिं।**

**पण्हविलग्गा वग्गा वणाइं दरिसंति जहसंखं॥१८॥**

प्रश्न में प्रथम निर्दिष्ट आठों वर्ग (अवर्ग<sup>१</sup>, कवर्ग<sup>२</sup>, चवर्ग<sup>३</sup>, टवर्ग<sup>४</sup>, तवर्ग<sup>५</sup>, पवर्ग<sup>६</sup>, यवर्ग<sup>६</sup> और शवर्ग<sup>८</sup>) क्रमशः शिर<sup>१</sup>, ललाट<sup>२</sup>, मुख<sup>३</sup>, हृदय<sup>४</sup>, कटि<sup>५</sup>, उरु<sup>६</sup>, जानु<sup>७</sup> और दोनों चरणों<sup>८</sup> में व्रण प्रदर्शित करते हैं॥१८॥

**अणिलय-पित्तय-सेफय-संसग्गय-अहिघाययं रोगं।**

**पयडंति पंचवग्गा जहसंखं पढम उहिट्ठा॥१९॥**

वर्णों के प्रथमोद्दिष्ट पाँच वर्ग क्रमशः वातज, पित्तज, श्लेष्मज, संसर्गज और अभिघातज रोग प्रकट करते हैं॥१९॥

**अइमंद-मज्झ-दारुणपीडाइं दिंति पण्हपडिआइं।**

**आलिंगियाहिधूमियदङ्गा वण्णा जहासंखं॥२०॥**

आलिंगित, अभिधूमित और दग्ध वर्ण प्रश्न में आने क्रमशः अतिमन्द, मध्यम और दारुण पीडा को प्रकट करते हैं॥२०॥

आलिङ्गिण्हिं संधी ण हु संधी विग्गहे (हो) ण अहरेहिं।  
अहराहरेहिं कहिओ समरो सुहडाण णासयरो।।२१।।

आलिङ्गिताक्षरों से सन्धि होती है, अधराक्षरों से न सन्धि होती है, न विग्रह तथा अधराधर अक्षरों से सुभटों का नाश करने वाला युद्ध बताया गया है।।२१।।

विजयं उत्तरवण्णे ण जयं ण पराजयं वि अहरेहिं।  
अहराहरो पयासइ पराजयं णत्थि संदेहो।।२२।।

उत्तर वर्ण विजय को प्रकट करता है। अधर वर्णों से न विजय सूचित होती है, न पराजय। अधराधर वर्ण पराजय प्रकाशित करता है - इस में सन्देह नहीं है।।२२।।

जइ पढमक्खरमहरं अवसाणे उत्तरक्खरं पण्हे।  
ता उत्तरो सुवलिओ विवरीओ ताण विवरीयं।।२३।।

जय और पराजय के प्रश्न में यदि प्रथमाक्षर अधर हो और अन्त में उत्तराक्षर आया हो, तो उत्तराक्षर बलवान होता है। इस के विपरीत (प्रथम उत्तराक्षर हो और अन्तिमाक्षर अधर हो तो) विपरीत फल होता है। (अर्थात् अधराक्षर बलवान होता है।।२३।।

पढमसरेण य जुत्ता पण्हे मत्ताविवज्जिया वण्णा।  
अणभिहिअणामआ दे पअडंति य जीवचिंताइं।।२४।।

प्रथम स्वर (अ) से युक्त एवं अन्य मात्राओं से रहित वर्ण प्रश्न में अनभिहित संज्ञक होते हैं। ये जीव-चिन्ता को प्रकट करते हैं।।२४।।

ससि-तइस-पंच-सत्तम-नवमसरा रुइसंखसरसहिया।  
क-च-टा पंचमहीणा सहिया य-स-हेहिं जीवक्खा।।२५।।

प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम स्वर और एकादश स्वर के साथ पंचम वर्ण को छोड़ कर कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, यकार, सकार और हकार - इन सब इक्कीस वर्णों की जीव संज्ञा है।।२५।।

बीओ छट्ठो सरओ सविसग्गो तह व-सक्खरोपेओ।  
तह उण पंचमहीणा त-पवग्गा धाउणामा उ।।२६।।

द्वितीय और षष्ठ स्वर, विसर्ग, सकार एवं पंचम वर्ण को छोड़ कर तवर्ग और पवर्ग के शेष वर्ण ये सब तेरह अक्षर धातु-संज्ञक हैं।।२६।।

ई ऐ औ सरजुत्ता र-ल-षा ड-ञ-ण-न-माई वण्णाइं।  
एआरह मूलक्खा पयासिया जिणवरिंदेण।।२७।।



ई, ऐ, और स्वरों से संयुक्त र, ल, ष, एवं ड, जा, ण, न और म - इन ग्यारह वर्णों की मूल संज्ञा है, यह जिनेन्द्र ने प्रकाशित किया है॥२७॥

**मुट्टीजीवक्खरए मूलं जीवं वि मूलअक्खरए।**

**धाउं उण जाणिज्जह धाउक्खरणं किं चोज्जं॥२८॥**

मुष्टि के प्रश्न में जीवाक्षरों से मूल<sup>५</sup>, मूलाक्षरों से जीव और धात्वाक्षरों से धातु को जान लो-क्या आश्चर्य है॥२८॥

**बहुपढमवग्गवण्णा अह बहुबिंदू विसग्गसंजुत्ता।**

**बहुवन्ना जह पण्हे ता सुन्नं मुट्टिचिंताइं॥२९॥**

मुष्टि के प्रश्न में यदि बहुत से प्रथम वर्गीय वर्ण हों या बिन्दु एवं विसर्ग से युक्त बहुत से वर्ण हों तो मुष्टि की चिन्ता में शून्य होता है॥२९॥

**विसमसरा ऊआरो वग्गाणं पढम-तइयवण्णाइं।**

**दुप्पय-णराण एवा एआहाराण णहु होइं॥३०॥**

विषम स्वर (प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम एवं एकादश) तथा ऊकार एवं वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्ण - ये द्विपद नरों के हैं, इन के भक्षक राक्षसों के नहीं हैं॥३०॥

**बीओ दसमो सरओ वग्गाणं बीयवण्णया सयला।**

**दिसंति जइअ पण्हे ता मुणह चउप्पयं जीवं॥३१॥**

द्वितीय और दशम स्वर एवं वर्गों के सभी द्वितीय वर्ण प्रश्न में दिखाई देते हैं, तो चतुष्पद जीव जानों॥३१॥

**जइ वग्गाण य वण्णा पंचमया हुंति पणहपडियाइं।**

**ता मुणह णरअवासिय भूअपिसाचइं सव्वाइं॥३२॥**

यदि वर्गों के पंचम वर्ण प्रश्न में पड़े हों तो सभी नरकवासी और भूत-पिशाच जानो॥३२॥

**मत्ता त-पवग्गेहिं य-शवग्गेहिं हुंति सउणा य।**

**सिद्धा सरैहिं भणिया देवा उण क-च-टवग्गेहिं॥३३॥**

तवर्ग और पवर्ग से मर्त्य, यवर्ग और शवर्ग से शकुन (पक्षी) स्वरों से सिद्ध एवं कवर्ग, चवर्ग तथा टवर्ग से देवता कहे गये हैं॥३३॥

**चवइ कवग्गो पण्हे लद्धो थलचारियं विहंगमयं।**

**तं चिअ अइप्पहाणं तवग्गओ णत्थि संदेहो॥३४॥**

प्रश्न में उपलब्ध यह कवर्ग स्थलचारी विहंग बताता है और तवर्ग उसी के अति-प्रधान-स्वरूप (मयूरादि) को बताता है - इस में सन्देह नहीं है॥३४॥

**जइ अ चवग्गो लब्धो तह पक्खी होइ जलयरौ णूणं।**

**तं पि टवग्गो सिद्धं चवइ पवग्गो गुहसयंघं॥३५॥**

यदि प्रश्न में चवर्ग उपलब्ध होता है, तो निश्चय ही जलचर पक्षी होता है। टवर्ग उसी के श्रेष्ठ स्वरूप (हंसादि) को बताता है और पवर्ग गुहा में आश्रित अंध पक्षी (उलूक आदि) को बताता है॥३५॥

**पण्हे कवग्गवण्णा कालोरय<sup>७</sup>सिंगिणो पयासंति।**

**राजीवसप्पजाई चवग्गवण्णा य दंतत्थं॥३६॥**

प्रश्न में कवर्ग के वर्ण कृष्ण सर्प तथा सींग वाले जन्तुओं को प्रकाशित करते हैं। चवर्ग के वर्ण राजीव सर्प-जाति (शंखचूडादि) एवं दन्तास्र (दाँत के अस्र वाले हाथी आदि) प्राणियों को प्रकाशित करते हैं॥३६॥

**गोणाससप्पजाई टवग्गवण्ण फुडं पयासंति।**

**लहुअविसाणं जाई दिट्ठीणं होई तवग्गवण्णेहिं॥३७॥**

टवर्ग के वर्ण गोनस जाति के सर्पों को स्पष्ट प्रकाशित करते हैं। तवर्ग के वर्णों से स्वल्प विषवाले (वृश्चिकादि) जन्तुओं की जाति दृष्टिगत होती है॥३७॥

**विसमच्छ-दाहि (ढि?) दुंदुहि-कीडविसेसाइं किं चुज्जं।**

**जइ किर लब्धो पण्हे पवग्गओ पणहचउरेण॥३८॥**

प्रश्नकुशल ज्योतिषी ने यदि प्रश्न में पवर्ग प्राप्त कर लिया, तो वह विषक्त मत्स्य (शृंगिका आदि) दंष्ट्रां वाले जन्तुओं (मकर आदि) दुंदुभि प्रभृति कीटों को कह देता है। क्या आश्चर्य है?॥३८॥

**ससि-जलण-बाण-मुणि-गह-रुह-सरा वग्गाण दु-तीयवण्णा य।**

**वुच्चंति धम्मधाउं अघमं चिय सेससरवण्णा॥३९॥**

प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम एवं एकादश स्वर तथा कवर्गादि सप्त वर्गों के द्वितीयाक्षर धाम्य धातु बताते हैं॥३९॥

**रवि-रुह-पक्खसरओ पंचमहीणा कवग्गवण्णा य।**

**कणयं चवन्ति तारं सत्तमवग्गो मुणिंदुसरओ य॥४०॥**

द्वादश एकादश एवं द्वितीय स्वर तथा पंचमाक्षररहित कवर्ग के वर्ण सुवर्ण बताते हैं। सप्तम वर्ग तथा सप्तम स्वर रजत को बताते हैं॥४०॥

तंबं च तइओ सरओ षंचमहीणो चउत्थओ वग्गो।

लोहं दसमो सरओ अट्टमवग्गी मकारो य।।४१॥

पंचमाक्षररहित चतुर्थ वर्ग और तृतीय स्वर तांबा प्रकट करते हैं और दशम स्वर अष्टम वर्ग के वर्ण तथा मकार लोहा।।४१॥

वंगं तइओ वग्गो पंचमहीणो कवग्गबंधमओ।

अट्टम-पंचमसरओ पण्हे लद्धो पयासेइ।।४२॥

प्रश्न में पंचमाक्षर-रहित तृतीय वर्ग, कवर्ग का पंचम वर्ण तथा अष्टम और पंचम स्वर मिलने पर वे वंग (रांगा) को प्रकट करते हैं।।४२॥

छट्टसरो एकंतो पंचमवण्णो अ तईयवग्गस्स।।

जइ पाविज्जइ पण्हे ता णूणं सीसअं मुणह।।४३॥

षष्ठ स्वर अकेला, तृतीय वर्ग का पंचम वर्ण - ये यदि प्रश्न में मिलें तो निश्चित ही सीसा जानों।।४३॥

न-प-फ-भ-भा ऊ वण्णा पण्हे लद्धा कुणंति पित्तलयं।

ण-त-था द-धा- इ-आरा कंसं ण हु अत्थि संदेहो।।४४॥

प्रश्न में न, प, फ, भ, और ऊ के आने पर वे पीतल की सूचना देते हैं। ण, त, थ, द, ध और इ - ये वर्ण काँसे को सूचित करते हैं इस में सन्देह नहीं है।।४४॥

कणयक्खरं पयासइ मरगयमाणिककपहुइरयणाइं।

मुत्ताहीरयपहुइं तारक्खरयं ण संदेहो।।४५॥

कनकाक्षर मरकत-माणिक्य-प्रभृति रत्नों को और ताराक्षर (रजताक्षर) मुक्ता-हीरक-प्रभृति को प्रकाशित करते हैं - इस में सन्देह नहीं है।।४५॥

कक्करतालथपहुदिं (तं) वक्खरयं (च) भणइ णो चित्तं।

लोहक्खरेहिं जाणह रयणाइं इंदनीलपहुदीणि।।४६॥

ताम्राक्षर कर्कट-तालक प्रभृति को बताते हैं - इस में आश्चर्य नहीं है। लौहाक्षरों से इन्द्रनील-प्रभृति रत्नों को जानों।।४६॥

कंसक्खरं पयासइ रयणऽसेसाइं काचपहुदीणि।

सेसं सीसयपहुदिं पित्तलसीसाइ अक्खरयं।।४७॥

कांस्याक्षर काँचादि समस्त रत्न-विशेष को प्रकाशित करते हैं, तथा शेष पित्तलाक्षर और शीसकाक्षादि शीसक-प्रभृति रत्न विशेष को।।४७॥

उत्तरवण्णपहाणं पण्हे गढियं पयासए णिच्चं।

घाउमगढिअं अहरं षक्खरयं भणइ सच्चमियं।।४८॥

प्रश्न में उत्तर वर्णों का प्राधान्य नित्य गढ़ी हुई धातु को प्रकाशित करता है।  
और अधराक्षर न गढ़ी हुई धातु को बताता है - यह सत्य है॥४८॥

**आलिङ्गिणं जाणह कंकणकेऊरपहुदि आहरणं।**

**अहरक्खरेहिं गढिअं कच्चोलयपहुति भायणयं॥४९॥**

आलिङ्गिताक्षरों से कंकण-केयूर-प्रभृति आभूषण समझो और अधराक्षरों से गढ़े  
हुये कचोलक प्रभृति बर्तन॥४९॥

**उत्तरवण्णपहाणं पण्हे दरिसेइ अहिणवाहरणं।**

**अहरक्खर अपहाणं उवभुत्तं णत्थि संदेहो॥५०॥**

प्रश्न में उत्तरवर्ण का प्राधान्य अभिनव आभूषण प्रदर्शित करता है तथा अधराक्षरों  
का अप्राधान्य उपभुक्त आभूषण॥५०॥

**सब्बे उत्तरवण्णा भवंति सुरलोअलोअणाहरणं।**

**अहरक्खराइ णूणं माणवलोयस्स जंतूणं॥५१॥**

सभी उत्तरवर्ण सुरलोक वासियों के आभूषणों के प्रकाशक हैं और अधराक्षर  
निश्चय ही मानव-लोक के जन्तुओं के आभूषणों के॥५१॥

**दुप्पयवण्णा पण्हे दुप्पअजंतूण पण्हे दुप्पअजंतूण चवइ आहरणं।**

**सो वि णर-णारयाणं विहगाणं विहगवण्णेहिं॥५२॥**

प्रश्न में द्विपदवर्ण द्विपद जन्तुओं के आभूषण बताते हैं, वे ही नरों और नारकों  
के आभूषण बताते हैं और विहगवर्ण विहगों के आभूषण॥५२॥

**जइ य चउप्पवण्णा पण्हे लद्धाइं हुंति पउराइं।**

**मा करहु इत्थ भंती जाणिज्ज, चउप्पयाहरणं॥५३॥**

यदि प्रश्न में प्रचुर चतुष्पद वर्ण मिल रहे हों, तो यहाँ भ्रम मत करो, चतुष्पद  
का आभूषण जान लो॥५३॥

**दिस-कुच्च-वेयट्टमया सरया दरिसंति उद्धआहरणं।**

**ससि-तिय-गह-सत्तमया मज्झंगे सेस अब्बाणं॥५४॥**

दशम, द्वितीय, चतुर्थ एवं अष्टम स्वर शरीर के ऊपरी भाग के आभूषण दर्शाते  
हैं और प्रथम, तृतीय, नवम तथा सप्तम शरीर के मध्य भाग के। शेष स्वर शरीर  
के अधोभाग के आभूषणों को सूचित करते हैं॥५४॥

**आहरणाण य वण्णा संसिद्धा हुंति जइ य त-पउरा।**

**ता तं रयणणिबद्धं भायणयं ताण वण्णेहिं॥५५॥**

यदि आभरणों के वर्ण तवर्ग-प्रचुर वर्णों से संश्लिष्ट हों, तो वह आभूषण रत्ननिबद्ध है। भाजन के वर्णों से वे ही वर्ण संश्लिष्ट हों तो वह भाजन भी रत्ननिबद्ध है॥५५॥

**जइ पउरउत्तरब्दं ता रयणं सुब्दजाइयं मुणहु।  
तं अहरक्खरब्दं कित्तिमयं मीसिए मिस्सं॥५६॥**

यदि प्रश्न में उत्तराक्षर प्रचुर हों तो उस रत्न को शुद्ध जाति का समझो। यदि वह प्रश्न अधराक्षरों में हो तो उसे (रत्न को) कृत्रिम जानो और मिश्रित अक्षर हों तो मिश्रित जाति का जानो॥५६॥

**उत्तम-मज्झिम-अधमा हुंति य णाणा तहा जहासंखं।  
आलिं गियाहिधूमियदब्डयपत्तेहिं पण्हेहिं॥५७॥**

आलिं गित, अभिधूमित और दग्ध वर्णों के होने पर क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम नाणक, टंक और शिवांक आदि सिक्के होते हैं॥५७॥

**पढमं तरूण वण्णा तह ससि-गहसंमिओ सरो चेव।  
क-च-टादुआण (? °ण दुइय) वण्णा दसमओ दुज्जो सरो वेवि॥५८॥**

क, च आदि सातों वर्णों के प्रथमाक्षर तथा प्रथम और नवम स्वर - ये वृक्षों के वाचक हैं। क, च, ट, ख, छ, ठ एवं दशम और द्वितीय स्वर दोनों (लता और वृक्ष = द्विक) के वाचक हैं॥५८॥

**रिउ-बाण-रुहसरओ पंचमवण्णा तिणाइ जंपंति।  
सेसदुइज्जा वण्णा वल्लीं वग्गाण चत्तारि॥५९॥**

षष्ठ, पंचम, एकादश स्वर और सभी वर्णों के पंचम वर्ण तृणों को बताते हैं। शेष तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग के द्वितीयाक्षर वल्ली को व्यक्त करते हैं॥५९॥

**अट्टम-चउअं तिसरा चउत्थवण्णेण ठाइआ तिण्णि।  
जंपंति ख-छ-ठ-फाओ जाइविसेसाइं गुम्माइं॥६०॥**

कवर्गादि सप्त वर्णों के चतुर्थ वर्ण के साथ स्थापित अष्टम, चतुर्थ और अन्तिम तीन स्वर तथा ख, छ, ठ एवं फ जाति-विशेष के गुल्म बताते हैं॥६०॥

**ग-ज-डेहिं होंति य लया सालादि सत्तमसरेहिं गहिण्हिं।  
गहिण्हिं दबलसेहिं प (ध?) ण्णापहुदीनि जाणेह॥६१॥**

सप्तम स्वर से युक्त ग, ज और ड वर्णों का ग्रहण होने पर लता शालादि और द, ब, ल एवं स का ग्रहण होने पर धान्य प्रभृति जानो॥६१॥

**जल-साहारण-जंगलदेसपभूयं चवंति भूरुहयं।**

**आलिंगिय-अहिधूमिध-दङ्गुववण्णा जहासंखं॥६२॥**

आलिंगित, अभिधूमित और दग्ध वर्ण क्रमशः जलीय-वनस्पति, साधारण-वनस्पति और जंगल देश में भूमि पर उत्पन्न वृक्ष को बताते हैं॥६२॥

**तरवो हुंति असोया संणिहिया उत्तरेहिं वण्णेहिं।**

**अधरसरेहिं अधमा पण्हे पडिएहिं दूरट्टा॥६३॥**

प्रश्न में पड़े उत्तर वर्णों से अशोकादि वृक्ष सन्निहित होते हैं और अधर स्वरो से दूर स्थित अधम वृक्ष (शाखोटादि)॥६३॥

**संजुत्त-असंजुत्ता जहाकमं लब्ध (पण्ह) वण्णेहिं।**

**फलियाफलिया तरुणो केवल्लिनाणेण भासंति॥६४॥**

- प्रश्न में प्राप्त संयुक्त और असंयुक्त वर्ण केवली के ज्ञान के द्वारा क्रमशः फलित एवं अफलित वृक्षों को कहते हैं॥६४॥

**तह दिवस-मास-पक्खय पुणो वि मासे वि तह य वच्छरए।**

**जहसंखं लाहसुहं एसु य सयलेसु वग्गेसु॥६५॥**

सभी सातों वर्णों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम वर्ण क्रमशः उसी दिन, मास, पक्ष, मास और वर्ण के लाभ तथा सुख का ज्ञान कराते हैं। (प्रथमाक्षर से उसी दिन के, द्वितीय से महीने भर के, तृतीयाक्षर से पक्ष भर के, चतुर्थ से फिर महीने भर के और पंचमाक्षर से वर्ष भर के सुख और लाभ जाने जाते हैं)॥६५॥

**उत्तरवण्णपहाणो उत्तरअयणं पयासए पण्हे।**

**अहरक्खरेसु पण्हे दक्खिणअयणं ण संदेहो॥६६॥**

प्रश्न में उत्तर वर्ण का प्राधान्य होने पर वह उत्तरायण को प्रकाशित करता है और अधराक्षरों का प्राधान्य दक्षिणायण को - इस में सन्देह नहीं है॥६६॥

**पढमक्खरेण सिसिरो महु वि तहा वीयएण वण्णेण।**

**तीयक्खरेण गिम्हो चउथेण य पाउसो होइ॥६७॥**

कवर्गादि सप्तवर्णों में प्रथमाक्षर से शिशिर, द्वितीयाक्षर से वसन्त, तृतीयाक्षर से ग्रीष्म और चतुर्थाक्षर से वर्षा ऋतु का बोध होता है॥६७॥

**सत्तमसरेहिं सरओ कहिओ अणुणासिएहिं हेमंतो।**

**अं अ (:?) इ उ अक्खरयं पयासियं जिणवरिंदेण॥६८॥**

सप्तम स्वर से युक्त अनुनासिक वर्णों (ङ, ज, ण, न, म) के द्वारा शरद् कहा गया है। अं, अः, इ और उ से हेमन्त होता है - यह जिनेन्द्र ने प्रकाशित किया है॥६८॥

होइ च-टेहिं चित्तो देसाहो होइ ग-ज-डवण्णेहिं।

जिदुओ वि द-ब-ल-सोहिं ई ओ घ-झ-ढेहिं आसाढो॥६९॥

च और ट से चैत्र ग, ज और ड से वैशाख, द, ब, ल और स वर्णों से ज्येष्ठ और घ, झ एवं ढ वर्णों से आषाढ़ होता है॥६९॥

णहु होइ घ-भ-द-हेहिं सर-रिउसर-ड-ज-णेहिं भद्दवओ।

ए ऊ बिन्दु-विसर्गा सेसयवण्णेहिं आसिणओ॥७०॥

ध, भ व एवं ह से श्रावण, पंचम और षष्ठ स्वरों के साथ ड, ज और ण से भाद्रपद तथा ए, ऊ, बिन्दु, विसर्ग और शेष वर्णों से आश्विन मास होता है॥७०॥

तह त-प कत्तिकमासो कहिओ पढमेहिं दोहिं वण्णेहिं।

य-शवण्णेहिं वि दोहिं मियसरणामो य मासो य॥७१॥

तवर्ग और पवर्ग के प्रथम दोनों वर्ण - त और प से कार्तिक मास और य एवं श - इन दो वर्णों से मार्गशीर्ष नामक मास कहा गया है॥७१॥

आ ई ख-छ-ठेहिं सहो थ-फ-र-षवण्णेहिं होइ तह माहो।

फग्गुणमासो ससि-मुणिसरएहिं तह कवग्गेण॥७२॥

आ, ई, ख, छ एवं ठ से पौष; थ, फ, र तथा ष से माघ और प्रथम एवं सप्तम स्वरों और कवर्ग से फाल्गुन मास कहा गया है॥७२॥

दो तिन्नि पंच अड्डा पंच य अड्डा य तह य दो तिन्नि।

चारिक्का सत्त छक्का सत्त छक्का य चारिक्का॥७३॥

दो, तीन, पाँच, आठ, पाँच, आठ, दो, तीन, चार, एक, सात, छह, सात, छह, चार, एक॥७३॥

१८

२	३	५	८	=	१८
५	८	२	३	=	१८
४	१	७	६	=	१८
७	६	४	१	=	१८
१८	१८	१८	१८		

१८

१८

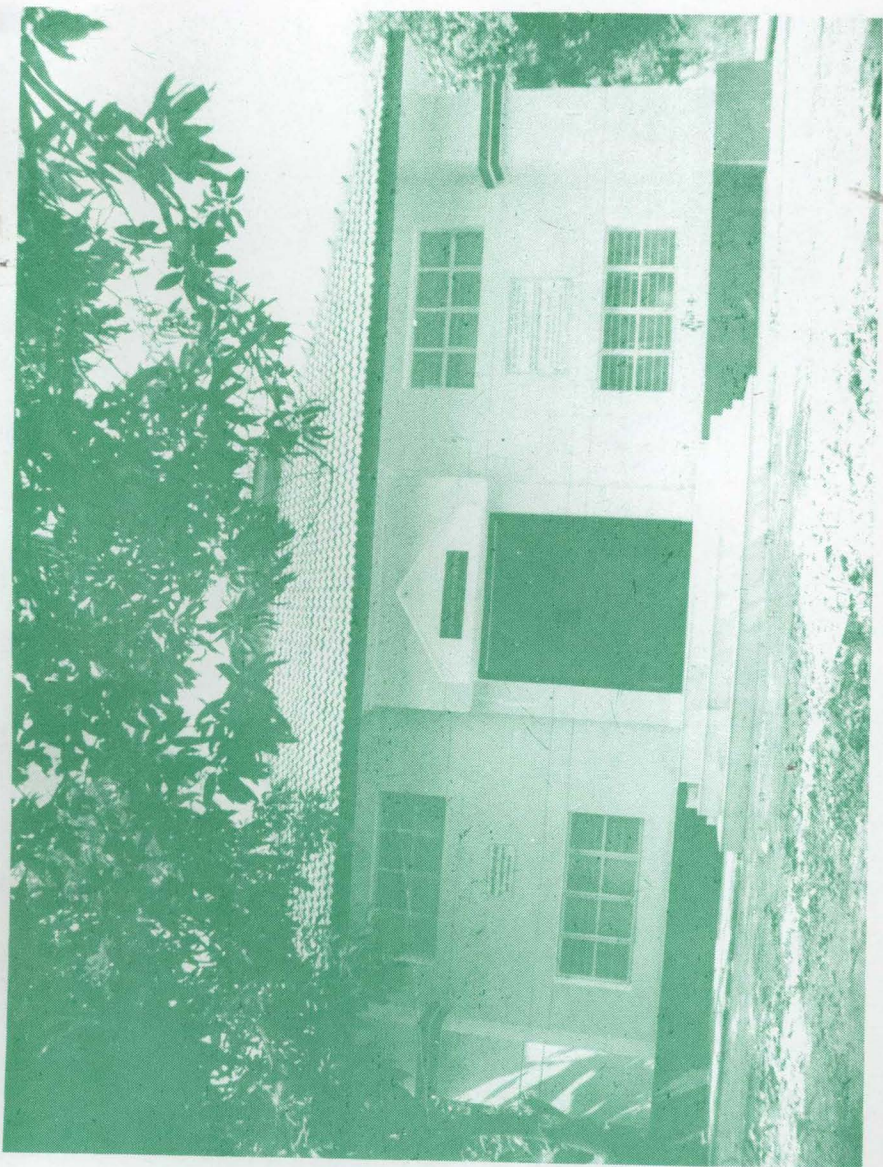
१८

इति ज्ञानदीप समाप्त









# NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



## ONLY NUWUD.<sup>®</sup>

**INTERNATIONALLY ACCLAIMED**

*Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,*

**DESIGN FLEXIBILITY**

*flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of*

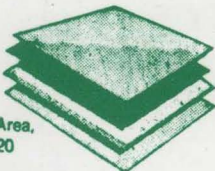
**VALUE FOR MONEY**

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.*

Arma Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,  
Phase II, New Delhi-110 020  
Phones : 632737, 633234,  
6827185, 6849679  
Tlx: 031-75102 NUWD IN  
Telefax: 91-11-6848748



*The one wood for  
all your woodwork*



**MARKETING OFFICES:** • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219  
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549  
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679  
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087  
• KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121